सहजानंद शास्त्रमाला

रत्नकरण्ड प्रवचन

प्रथम भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर,इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक **'रत्नकरण्ड प्रवचन प्रथम भाग'** अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। इसमें रत्नकरण्ड प्रवचन के श्लोक १ से श्लोक ४६ तक प्रवचन संकलित हैं।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/ वेबसाइड पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुन: प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे । इसी ग्रन्थ की PDF फाइल http://is.gd/varniji पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु **डा. उदयजी मेहता, सीएटल, अमेरिका** के द्वारा रु. 4000/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर** एवं प्रूफिंग करने हेतु **श्रीमती मनोरमाजी जैन, गांधीनगर** का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

Email-vikasnd@gmail.com

www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी''सहजानन्द'' महाराज द्वारा रचित

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आतमराम।।टेक।।
मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान।।
मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।
सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।
जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।
होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम।।
अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।
हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजानंद॰।।१।।
हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजा॰।।२।।
आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजा॰।।३।।

प्रस्तावना

भारतीय धर्मों में जैन धर्म का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि उसके अहिंसा और अपरिग्रहवाद आदि सिद्धान्त बहुत ही प्राचीन हैं। इनके प्रवर्तक भगवान ऋषभदेव हैं। जिन्हें आदि ब्रह्मा भी कहा जाता है। जैन सिद्धान्त ने ही लोक में समता समानता अथवा विश्व प्रेम की अनुपम धारा को जन्म दिया है। अनेकान्त के व्यवहार द्वारा उनके पारस्परिक विरोधों का निरसन करता हुआ उनके जीवन में समन्वय और सहिष्णुता का आदर्श पाठ सिखाता है ।

जैन धर्म में भावों की प्रधानता, है उसमें परिणामों की अच्छाई, बुराई का जो स्वरूप एवं फल बतलाया गया है और जो जीवन की उन्नति अवनति का स्पष्ट प्रतीक है जिसके द्वारा नैतिक एवं आध्यात्मिक रूप से मानव अपने जीवन स्तर को ऊँचा उठा सकता है और पूर्ण विकास तक पहुँच सकता है ।

जैन धर्म में जहाँ भावों की प्रधानता है वहाँ उनके आचार को भी प्रमुख स्थान दिया गया है । उसके सिद्धान्त चार भागों में विभक्त है जिन्हें चार अनुयोग भी कहते है चरणानुयोग में जीवों के आचार मार्ग का विधिवत कथन है । इसमें गृहस्थ और साधुओं के आचार-विचार का वर्णन है । प्रस्तुत ग्रन्थ भी आचार मार्ग से सम्बन्ध रखता है । इसी कारण इसका नाम ''रत्नकरण्डश्रावकाचार'' है । ग्रन्थ में जैन श्रावक के आचारों का सांगोपाङ्ग कथन दिया हुआ है । यह, ग्रन्थ उपलब्ध श्रावकाचारों में सबसे प्राचीन है । ग्रन्थ में आप्त-आगम और गुरु के लक्षणों की परिभाषायें तथा रत्नत्रय, द्वादश व्रतों और प्रतिमाओं के लक्षण और सम्यग्दर्शन की महत्ता का स्पष्ट कथन किया है। साथ ही जैन तीर्थंकर केवली की धर्म देशना को सुन्दर उदाहरण द्वारा पुष्ट किया गया है ।

इस ग्रन्थ के कर्ता प्रतिभासम्पन्न विद्वान, आचार्य, तर्क शिरोमणि और महान योगी थे आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी । आप में वाद करने की अद्भुत शक्ति थी । आपका व्यक्तित्व महान और प्रज्ञायें असाधारणता थी । आप क्षत्रिय राजपुत्र थे । आपका बाल्यकालीन नाम शान्तिवर्मा था । उन्होंने सांसारिक वैभव नि:सार समझकर छोड़ दिया था । आचार्य समन्तभद्र स्वामीजी का समय विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी माना जाता है ।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार पर जो पूज्य गुरुवर्य्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी सहजानन्द जी महाराज ने प्रवचन दिये हैं वह इतने लोकप्रिय हुए कि स्वाध्याय प्रेमियों की मांग को देखते हुए पुनः प्रकाशित कराये जा रहे है एक-एक सूत्र पर यह प्रवचन श्री सहजानन्द जी के जीवन की आत्म साधना अथवा ज्ञानाभ्यास का अनुपम फल है । इन प्रवचनों के अवलोकन से महाराजश्री की आन्तरिक भावना का परिज्ञान और उनकी लगन, कर्तव्यनिष्ठा, उत्साह तथा आत्म जागृति का भान सहज में हो जाता है ।

पाठक प्रवचनों की भाषा विशेषता और विवेचन शैली का स्वयं ही अनुभव कर सकते है । इस प्रकार यह प्रवचन गृहस्थों के लिए बहुत ही उपयोगी है । प्रवचनों में कही-कही पर चरणानुयोग के विषय को उसके पात्र की सीमा से कुछ ऊँचा कहा गया हैं । अर्थात् आचार मार्ग का विधि विधान धारण करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा न कर उच्चादर्श से प्रेरित होकर निरूपित किया गया है । क्योंकि श्री सहजानन्द जी महाराज का आशय विशुद्ध और वस्तु स्थिति के दिखलाने का रहा है ।

इस संस्करण नया रूप देने में मान्यवर खेमचन्द जी जैन सर्राफ मन्त्री श्री सहजानन्द शास्त्र माला ने अथक् परिश्रम किया है, जो अत्यन्त प्रशंसनीय है, इसके लिए वह बधाई के पात्र हैं । मेरी तो यही भावना है कि सभी धर्म स्नेही बन्धु इस ग्रन्थ का पठन-पाठन रूप स्वाध्याय से सम्यग्दर्शन प्राप्त कर अपने जीवन को सफल बनावें ।

सुमेर चन्द्र जैन

पंचम संस्करण का प्रकाशकीय

प्रिय पाठकवृन्द !

'श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार प्रवचन' का पंचम संस्करण आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुये मुझे अति प्रसन्नता हो रही है। यह ग्रन्थ श्री मनोहरजी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज की एक अनुपम कृति है। इस में प्रत्येक विषय को भली-भांति समझाया गया है। तीर्थंकर प्रकृति की कारणभूत सोलह-कारण भावनाएँ, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा तथा ध्यान आदि अनेक विषयों का बहुत ही सरल तथा सुन्दर विवेचन किया गया है।

संसार विषम समस्या रूप है। यहाँ सभी प्राणी दु:खी और संतप्त हैं। जैन धर्म ने इस समस्या को बड़ी गम्भीरता और वास्तविकता पूर्वक सुलझाया है। इसके लिये दो धर्म वर्णन किये गये हैं—मुनि धर्म और श्रावक धर्म। यद्यपि संसार से छूटने के लिए पवित्र मुनि दीक्षा ही एकमात्र मार्ग है, तथापि उसके धारण की शक्ति नहीं हो तो गृहस्थ के व्रत अंगीकार करना आवश्यक है। इस ग्रन्थ में पूज्य वर्णीजी ने जीवों के आचार मार्ग का विधिवत् कथन दिया हुआ है। ग्रन्थ में जैन श्रावक के आचारों का सांगोपाङ्ग कथन दिया हुआ है। इसका एक-एक वाक्य जंचा-तुला है। ग्रंथ में लक्षणों की परिभाषाएँ तथा रत्नत्रय, द्वादश व्रतों और प्रतिमाओं के लक्षण और सम्यग्दर्शन की महत्ता का स्पष्ट कथन दिया हुआ है।

ग्रन्थ में वाक्य-विन्यास सुन्दर है। विवेचन शैली सरल और श्रुति मधुर है। सर्वत्र उन्नत एवं उदार विचारों का समर्थन पाया जाता है जो कि जैन धर्म की आत्मा का प्राण है और जो सर्वोदय विश्व की अनुपम धारा का प्रतीक है इस टीका में पूज्य सहजानन्द जी की आन्तरिक भावना का परिज्ञान होता है। टीका की भाषा सरल तथा सुबोध है। आज विश्व को परिग्रह-परिणाम व्रत के आचरण की भारी आवश्यकता है। विश्व के मानव यदि अपनी आवश्यकतानुसार परिग्रह का परिणाम कर लें तो वे न केवल चाह-दाह की भीषण ज्वालाओं से बचेंगे, बल्कि सांसारिक सुख-शान्ति भी अनुभव कर सकेंगे।

टीका की विशेषता और विवेचन शैली का पाठक स्वयं ही अनुभव कर सकते हैं। यह टीका गृहस्थों के लिये बहुत ही उपयोगी है। इस टीका में कहीं-कहीं पर चरणानुयोग के विषय को उसके पात्र की सीमा से कुछ ऊँचा लिखा गया है। यानी आचार मार्ग का विधि-विधान धारण करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा न कर उच्चादर्श से प्रेरित होकर निरूपित किया गया है, परन्तु टीका की उपयोगिता में कोई कमी नहीं है। टीका कार पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी का आशय विशुद्ध और वस्तुस्थिति के दिखलाने का रहा है।

अन्त में अपने पाठकों से नम्र निवेदन है कि इस ग्रन्थ में गृहस्थों के कर्त्तव्य को भली-भांति अध्ययन कर उनको कार्यरूप में परिणत करने का यत्न करें तथा अपने मानव जीवन को सफल बनाएँ।

विनीत

खेमचन्द जैन

सदर, मेरठ

रत्नकरण्ड प्रवचन प्रथम भाग

—:प्रवक्ता:—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ

पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज

श्लोक 1

नमः श्रीवर्द्धमानाय, निर्धूतकलिलात्मने ।

सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते ।।१।।

रत्नकरण्ड ग्रन्थ के आदि में श्री वर्द्धमान स्वामी को नमस्कार—इस ग्रन्थ का नाम है रत्नकरण्ड। इसके रचयिता हैं स्वामी समंतभद्राचार्य । रत्नकरण्ड का अर्थ है रत्न का पिटारा । रत्न क्या? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, इन तीन का जिसमें कथन है उसे कहते हैं रत्नकरण्ड । रत्नकरण्ड के आदि में मंगलाचरण करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि श्री वर्द्धमान के लिए मेरा नमस्कार हो । श्री वर्द्धमान का मुख्य अर्थ तो यह है कि इस चतुर्थ काल के अन्त में २४ वें तीर्थंकर राजा सिद्धार्थ के नन्दन, त्रिशला माता के नन्दन श्री वर्द्धमान तीर्थंकर हुए है, उनका स्मरण किया । दूसरा अर्थ यह है कि श्री वर्द्धमान मायने सब कोई जो अंतरंग श्री ज्ञानलक्ष्मी से वर्द्धमान हो, बढ़ा हुआ हो वह श्री वर्द्धमान है । तो श्री वर्द्धमान के कहने से सभी तीर्थंकरों का, अरहंतदेव का अंतरङ्ग, बहिरङ्ग लक्ष्मी की अपेक्षा तीर्थंकरों का और मात्र अंतरंग लक्ष्मी की अपेक्षा सिद्धों का इसमें ग्रहण हुआ है । उनमें एक श्री वर्द्धमान स्वामी को ही विशेषण कर दें, और विशेष्य कर दें, तो अंतरंग बहिरंग लक्षी से बढ़ हुए वर्द्धमान स्वामी को नमस्कार किया है । आज इस पंचमकाल में जो कुछ भी तत्त्वज्ञान चल रहा है वह वर्द्धमान स्वामी की परम्परा से चला आया हुआ चल रहा है । जो यह तत्त्वज्ञान न मिलता तो यह जीव अज्ञान अंधेरे से हटकर कैसे मोक्षमार्ग में लगता? तो वर्द्धमान प्रभु का हम सब पर बड़ा उपकार है ।

श्री वर्द्धमान भगवान के शासन में सम्यक् आचार व विचार का प्रतिपादन—लोक में दो बातों की महत्ता होती है—(१) आचार और (२) विचार । जिसका आचार और विचार सुन्दर हो वह उत्तम माना जाता है और इन दो बातों में सब कुछ आ गया । भावना, सद्भाव, विचार—ये सब विचार बनें और मन, वचन, काय की चेष्टा आत्मा का व्यापार ये सब आचार बने, तो जैन शासन में आचार के लिए मुख्यता है अहिंसा की और विचार के लिए प्रधानता है स्याद्वाद की । स्याद्वाद से वस्तु का निर्णय करिये । चूंकि वस्तु बनी रहती है और बनती बिगड़ती है । अगर बनना, बिगड़ना न हो पदार्थ में तो बना रहना भी नहीं हो सकता और यदि बना रहना न हो पदार्थ में तो बनना बिगड़ना भी नहीं हो सकता । तो जब हमेशा रहता है और उसकी अवस्थायें बनती बिगड़ती है तो बस द्रव्य और पर्याय इन दो दृष्टियों से वस्तु की पहिचान बनाई गई । द्रव्यदृष्टि से पदार्थ नित्य है और पर्याय दृष्टि से अनित्य है । यदि नित्य ही है, अनित्य ही है, ऐसा सिद्धान्त माना जाय तो पदार्थ किस मुद्रा में रहेगा? और फिर आत्मा का रागद्वेष सुधार बिगाड़ मुक्ति कुछ भी न बन सकेंगे? तो क्या आत्मा क्षण-क्षण में नया-नया है? यदि ऐसा माना जायेगा तो क्षण-क्षण में जब नया-नया आत्मा बन रहा तो धर्मकार्य करने

की, मोक्ष मार्ग की आवश्यकता ही क्या रही? कोई भी आत्मा एक क्षण को रहे दूसरे क्षण न रहे तो उसे मोक्षमार्ग में बढ़ने की आवश्यकता ही क्या रहेगी, और यह व्यवहार चलेगा ही क्यों? सब अव्यवस्था है । अत: पदार्थ आत्मा नित्यानित्यात्मक है और इसी तरह स्याद्वाद में आत्मा के स्वरूप को समझने के लिए अनेक दृष्टियाँ ली, अनेक धर्मो का परिचय कराया गया । तो स्याद्वाद से तो वस्तु का निर्णय करना और अहिंसा से अपने आत्मा को पवित्र करना धर्म का स्वरूप भी जैन शासन में मूलत: यह बताया है कि अपने परिणामों में रागद्वेष इष्ट अनिष्ट मोह भाव नहीं सो अहिंसा हैं ।

अहिंसा के स्वरूपनिर्णय में और मार्गानुसरण में सर्वविधेय समस्यावों का समाधान—तो एक समस्या का समाधान मिल गया जिससे किसी को बहुत अधिक समझाना भी न पड़ेगा कि भाई इससे यों बोलो, इससे यों करो, अमुक की रक्षा करो । अनेक बातें कहनी ही नहीं पड़ेगी । जो कुछ होना है वह स्वयं हो जायेगा उस जीव को जिसने वास्तविक अहिंसा को चित्त में उतारा है । अपने में विकार न लावे, रागद्वेष भाव न करें । ऐसा कोई करके रहे तो उसका मन कैसे चलेगा? उसके वचन कैसे निकलेंगे? शरीर की कैसी चेष्टा होगी । बस यही चरणानुयोग में दिखाया है । दोनों बातों का मेल है । शास्त्रों में लिखा है सो करना चाहिए और ज्ञानी आत्मा के द्वारा जो प्रवृत्ति बनती है सो शास्त्रों में लिखी है । जैसे स्वानुभव का मेल शास्त्रों में देख लो जिस प्रकार आत्मा का स्वरूप दिखाया है उस प्रकार अपने आत्मस्वरूप का चिन्तन करना और आत्मस्वरूप का चिंतन करते हुए उस अनुभव का अलौकिक आनन्द पाया तो उसका मेल शास्त्रों में देख लो, यही लिखा है ना? हां तो इस प्रकार का समन्वय बना । अपने आपको ठीक ज्ञानप्रकाश में लाये बिना अपना परिणाम, परिणमन शान्ति का नहीं बन सकता । तो अहिंसा और स्याद्वाद इन दीनों का जो विस्तार पूर्वक विवेचन है उससे हम आप लोगों ने ज्ञानप्रकाश पाया यदि पशु पक्षियों की भाँति खाना पीना, रागद्वेष करना, झगड़ा करना, मोह करना, मर जाना, फिर जन्म पाना, फिर रागद्वेष करना... इन ही में अगर रुचि है तो ठीक है, तब तो जो पशुओं का काम है सो अपन भी कर रहे, उससे आगे कुछ नहीं सोचा । यदि इस संसार में जन्म मरण करते रहना और नानाप्रकार की यातनायें सहते रहना ही मंजूर है तो बस ठीक है, इन पशु पक्षियों की भाँति ही कार्य करते रहो, वे सब बातें मिलती रहेंगी, और यदि नहीं इष्ट है, और अपने आपको संसार के संकटों से सदा के लिए छुटकारा दिलाने का परिणाम हुआ है तब तो वीर प्रभु के शासन में, उसकी छाया में आयें और ज्ञानमार्ग में चलें ।

सर्वोत्कृष्ट ज्ञान के प्रभु श्री वर्द्धमान प्रभु को नमस्कार—जगत में केवल ज्ञान ही एक ऐसा वैभव है कि जिसकी उपमा तीन लोक तीन काल में किसी अन्य वस्तु से नहीं दी जा सकती । मानो वे बाह्य चीजें उसके आगे कुछ नहीं हैं । फक्कड़ है, दिगम्बर है और अपने खाने पीने की कुछ परवाह नहीं है, ज्ञान सही है, ज्ञान से ज्ञान में ज्ञान ही हो यह स्थिति बनाने की योग्यता है तो वह तो अन्त: ऐसा उद्यम कर रहा कि शरीर का झगड़ा भी खतम हो जायेगा । जिस शरीर से आज प्रेम किया जा रहा है वह शरीर अभी कुछ ही दिनों बाद अग्नि से जला दिया जायेगा । यह शरीर रखने योग्य नहीं फिर इससे प्रीति क्यों करना? हां संयम की साधना के लिये, जीवन निर्वाह के लिये इस शरीर के नाते से कुछ कुछ करना भी पड़े सो तो ठीक है पर यह शरीर ही मैं हूँ,

यही मेरा सर्वस्व है, उसके ही सम्मान अपमान की बातों का ध्यान बनाये रहना यह इस जीवन की भारी भूल है । यह तो है घोर अज्ञान अन्धकार की बात, इससे कोई शांति का अनुभव नहीं कर सकता । शांति का उपाय तो वीर प्रभु ने बताया है सो शांति की प्राप्ति के वर्णन में सर्वप्रथम वीर प्रभु का स्मरण किया गया है ।

निर्धूतकलिलात्मक श्री वर्द्धमान प्रभु को नमस्कार—श्री वर्द्धमान स्वामी को नमस्कार हो । कैसे हैं वे प्रभु? निर्धूतकलिलात्मने, याने पूर्ण रूप से धो डाला है इन पापों को आत्मा से जिसने वे वर्द्धमान प्रभु । जैसे धुनियां रुई धुनता है तो उस रुई को धुन-धुन कर उसके सारे बिनोले ढूँढकर समाप्त कर देता है ऐसे ही ज्ञानी जीव इन राग भावों को धुनते हैं ज्ञान के यंत्र से । कोई राग द्वेष न रहे । यदि राग द्वेष रहेगा तो मुक्ति नहीं मिल सकती । तो प्रभु ने स्वयं में खुद अपने पाप कर्मों को आत्मा से निकाल डाला है, धो डाला है, दूर कर दिया है और इसी से वर्द्धमान प्रभु को वह दिव्य ज्ञान मिला कि जहाँ यह दिव्य उपदेश चला, कर्म के बारे में यह ध्यान दिलाया कि जब यह जीव अज्ञानभाव में रह रहा, रागद्वेषादिक विकारों को अपना रहा, रागी द्वेषी बन्धा रहा तो कार्माणवर्गणा जाति के पुद्गल स्वयं ही कर्मरूप परिणम जाते है, जीव उनको परिणमाता नहीं है । एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को परिणमा सकता नहीं है, पर ऐसा ही निमित्त नैमित्तक योग है कि जीव में अज्ञानभाव, रागद्वेषभाव जगा कि कार्माणवर्गणायें स्वयं कर्मरूप परिणम गई । सो प्रभु ने रागद्वेष मोह रूप कलिल को आत्मा से बिलकुल अलग कर डाला है ।

सर्वज्ञेयों के लिये दर्पणायमान वर्द्धमान प्रभु को नमस्कार—निर्धूतकलिलात्मक होने के कारण सालोकानांत्रिलोकानां नाम याने जिसका ज्ञान लोकालोक के सब जीवों को प्रकाशित करने में दर्पण की तरह आचरण करता है । एक दो दृष्टांत सामने रखिये एक तो दर्पण में सामने आये हुए पदार्थ का फोटो आ जाना, प्रतिबिम्ब आ जाना और एक अग्नि के सम्बन्ध से पानी में गर्मी आ जाना, इन दोनों में बड़ा अन्तर है । दर्पण में जो फोटो आयी है वह ऊपरी है, छाया है, निमित्त के हटने पर छाया भी दूर हो जाती है और जब तक वह प्रतिबिम्ब है दर्पण में तो उसको देखकर लोग तो यह कहेंगे कि दर्पण तो लाल नहीं हुआ किन्तु लाली दीख रही है । कोई लाल चीज सामने हुई तो दर्पण में लाल प्रतिबिम्ब आया । तो सभी के मन में यह बसा हुआ है कि दर्पण लाल नहीं हुआ किन्तु दर्पण में यह लाल रंग दिख रहा है । किन्तु अग्नि से होने वाली गर्मी में यह बात नहीं पायी जाती । अग्नि हट जाये तो भी पानी कुछ देर गरम रहता । भले ही कुछ देर में ही ठंडा हो गया मगर तत्काल तो गर्मी नहीं हट पाती । जबकि दर्पण के सामने की चीज हटने पर तुरन्त प्रतिबिम्ब हट जाता । तो जैसे अग्नि के सम्बन्ध से पानी गरम हो जाता है इसी तरह कर्म विपाक के सम्बंध से आत्मा रागीद्वेषी विकारी हो जाता है, और कोई बाह्य पदार्थ ज्ञान में आ गया, ज्ञान में ज्ञेय का सम्बन्ध बन गया, यह है एक स्वभाव से होने वाली बात । ज्ञान का स्वरूप क्या है? जानना अगर जानना परिणमन न रहा तो ज्ञान का कुछ अर्थ भी है क्या? ज्ञान कुछ रहा ही नहीं, तो ज्ञान का परिणमन होना, जानना यह स्वभाव से हो रहा है, यह विकार से नहीं हो रहा, जबकि आत्मा में रागद्वेष का होना स्वभाव से नहीं हो रहा किन्तु विकार भाव से हो रहा । कर्मविपाक का निमित्त पाकर हो रहा—तो जिसके ज्ञान में सर्वज्ञेय पदार्थ दर्पण की तरह आचरण कर रहे हैं ऐसे श्री वर्द्धमान स्वामी को यहाँ भाव पूर्वक, विनय पूर्वक नमस्कार किया है ।

श्री से वर्द्धमान श्री वर्द्धमान प्रभु को नमस्कार—वर्द्धमान प्रभु श्री से बड़े हुए थे, श्री मायने अंतरंग लक्ष्मी, बहिरंग लक्ष्मी । महावीर भगवान के आत्मा में ज्ञान तो अनन्त प्रकट है, दर्शन अनन्त, आनन्द अनन्त, शक्ति अनन्त आदिक स्वच्छ स्वरूप यह तो है उनकी अंतरंग लक्ष्मी और बहिरंग लक्ष्मी क्या? बड़े शोभायुक्त समवशरण का होना, समवशरण मायने धर्मसभा, भाषण सभा, प्रवचन सभा, किसी नेता के आने पर या सरकारी किसी ऊंचे पदाधिकारी के आने पर लोग उसके व्याख्यान के लिये बड़ा मंडप तैयार करते है सो कुछ विशेषता करते कि नहीं, फिर तीनों लोक के गुरु जो वास्तविक बात बताने वाले हैं, जो केवल ज्ञानी हुए तीनों लोक में उत्तम हुए उनके धर्मोपदेश के लिए दिव्य ध्वनि खिरे उसके लिए कैसा मंडप बनना चाहिये सो तो बताओ? इन नेताओं का सम्बंध तो देश नगर के थोड़े लोगों से है सो वे लोग रहते हैं, मंडप बना लेते हैं, पर तीर्थंकर का स्नातक गुरु का सम्बंध है तीन लोक के जीवों से । तो जिसमें सबका प्रसंग है उसका मंडप कैसा बनना चाहिये? वह मनुष्यों द्वारा नहीं बनाया जा सकता । वह देवों की ही रचना है । तो समवशरण में कैसी अद्भुत रचना है, कैसी शोभा है कि कोई अगर प्रभु का उपदेश सुनने जाय तो निकट पहुंच भी नहीं पाया, पर बाहरी वातावरण को देखकर उसके धर्मभाव बढ़ने लगे । धर्मभाव बढ़ा हुआ हो, धर्मभाव आ रहा हो तो सुनने में विशेषता होती है, और धर्मभाव मन में न हो और बाहरी बात संकल्प विकल्प आरम्भ परिग्रह की बात चित्त में बसी हो तो धर्मोपदेश का सुनना थोड़े ही बनता है । तो समवशरण की रचना ऐसी बने कि जहाँ प्रवेश करते ही चैत्यालयों के दर्शन, मुनिजनों के दर्शन और फुटकर चर्चा करती हुई गोष्ठियों का मिलना इस तरह चले जा रहे है, धर्म का वातावरण बढ़ रहा है और जब अपनी बारह सभा में पहुंचे, अपने कोठे में बैठे तो प्रभु का जो उपदेश, दिव्यध्वनि हो, उसके सुनने को पात्रता आ जाती है । तो वर्द्धमान प्रभु अंतरंग और बहिरंग लक्ष्मी से शोभायमान हैं । उनको नमस्कार करके अब आचार्यदेव ग्रंथ में क्या कहेंगे वह बात बतला रहे हैं । जैसे कहते है प्रतिज्ञापन इस ग्रंथ में किस चीज का वर्णन होगा वह बहुत संक्षिप्त शब्दों में सबसे पहले बताया जा रहा है । वही उद्देश्य इस दूसरे श्लोक में बताया जा रहा है ।

श्लोक 2

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्म निवर्हणम् ।
संसार दु:खत: सत्त्वान्यो धरत्युत्तमे सुखे ।।२।।

संसारोद्धारक धर्मतत्त्व के उपदेश का प्रतिज्ञापन—मैं कर्म को नष्ट करने वाले इस कर्म को नष्ट करने वाला उत्तम धर्म कहूंगा जो वर्णन किया जायेगा यह अपने आत्मा की बात का ही वर्णन होगा । जैसे कि मानो कोई इतनी ही बात कह रहा हो इसलिये उसके सुनने में आलस्य न लाना, निरुत्साह न होना, जो भी कहा जायगा, जो आपके भीतर की बात कही जायगी और वह भी ऐसी बात कही जायेगी कि जिस उपाय से पहले दु:खों को दूर कर सुख में पहुंच जायेंगे । इसी श्लोक में विशेषण देकर धर्म का स्वरूप बताया गया । जो जीव को संसार के दु:खों से छुटाकर उत्तम सुख में पहुंचा देता है उसे धर्म कहते है । धर्म के अनेक प्रकार से लक्षण कहे गये है वे सब इस लक्षण में आ जाते है । जैसे कहा गया कि क्षमा, मार्दव, आर्जव आदिक दस लक्षण धर्म है तो ये १० बातें—क्षमा करना, नम्रता रखना, सरल रहना, लोभ न करना ऐसी कोई प्रवृत्ति करे तो वह

संसार के दुःखों से छूटकर उत्तम सुख में पहुंच जाता है ना । उनमें भी यह धर्म का लक्षण कहा गया है । वस्तुस्वभावो धर्मः, जो वस्तु का स्वभाव है वह धर्म है । आत्मा का स्वभाव है जानना, देखना, ज्ञाता द्रष्टा रहना । रागद्वेष करना स्वभाव नहीं । जानना स्वभाव है । जाने बिना यह रह ही नहीं सकता । क्योंकि ज्ञानस्वरूप है सो जानन जरूर बनेगा । सो जानन तो होता है अपने स्वभाव से, पर विकार जगता है पर का निमित्त पाकर विकार भाव से, स्वभाव से नहीं । सो आत्मा का धर्म बताया है जानना देखना । स्वभाव ज्ञानस्वरूप चैतन्यभाव । सो जो इस ज्ञानस्वभाव को जानेगा और इस ही स्वभाव में मग्न बनेगा वह दुःख से छूटकर उत्तम सुख में जायेगा या नहीं? जायेगा । वहाँ भी धर्म का यह लक्षण बना । दया को भी धर्म कहते । और उसका पूर्ण रूप लीजिए—अपने आपकी दया करना और दूसरे जीवों की दया करना । अपने आपकी दया तो इसमें है कि यहाँ रागद्वेष विकार भाव न जगे, पर उस दया धर्म का उपदेश देते है । उनके गुणों की रक्षा करना यह पर दया है । सो दोनों प्रकार की दया करना धर्म है । तो लो दया रूप धर्म में भी यह लक्षण गया । धर्म का लक्षण बताया है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रत्नत्रयरूप परिणाम । तो भला बतलावो जो अपने आत्मा के स्वरूप का विश्वास करता है । स्वरूप को जानता है और स्वरूप में ही मग्न होता है वह पुरुष संसार के दुखों से छूटकर उत्तम सुख में पहुंचेगा या नहीं? पहुंचेगा । लो रत्न में भी यह धर्म का लक्षण घटित हुआ ।

ज्ञानमार्ग में रुचि करने का कर्त्तव्य—भैया ! धर्म की बात यों मौज से न आयगी कि अपने मन को कुछ समझाना न पड़े और एक विनोद तफरी मौज से हमें धर्म मिल जाय, सो ऐसी आशा न रखें । अगर मौज-मौज का ही काम करना है तो अनादि से करते आये और जो फल पाते आये सो चलने दीजिये । और यदि यह भाव बना है कि मुझे तो संसार के संकटों में छुटकारा पाना है तो चाहे कोई गृहस्थावस्था में हो, आजीविका सम्बंधी काम काज भी करता हो, अन्य कार्य भी करता हो तो भी वहाँ उसे आत्मा की सुध रहेगी, अन्यथा अज्ञानी जनों जैसा काम, दुष्टों जैसा काम क्यों नहीं बनता ज्ञानी का? उसे अपने आपके आत्मा की सुध है । तो अपने कल्याण के लिए ज्ञान के लिए प्रयत्न अधिक होना चाहिए । स्वाध्याय से, अध्ययन से, चर्चा से मन नहीं लग रहा धर्म कार्यों में तो वहाँ भी कुछ मन लगाना होगा, कुछ अपने पर जबरदस्ती करनी होगी, यों ही मानों कि धर्मकार्य अति दुस्तर है, ज्ञान की बात समझ में आती नहीं है, अब मान लो ज्ञान के मार्ग से हट गये तो फिर जावोगे कहाँ? करोगे क्या? वही विषय और कषाय । तो विषयकषाय में तो प्रेम है पर धर्मवार्ता में प्रेम नहीं है तो उसकी परिणाम तो सैकड़ों आचार्यों ने पहले से ही घोषित कर दिया है कि वे क्या बनेंगे? किस तरह से उनका जीवन जायगा । तो धर्म का विवरण इस ग्रंथ में है और वह भी बड़ी पद्धति से है । क्या-क्या पहले समझना चाहिए, किस तरह से यह जीव समझे वह सब अपने आत्मा की बात लिखी है । उसे ध्यान पूर्वक सुनना है, मनन करना है और उसे रूप अपने आपको ढालना है ।

सुगमलभ्य अन्तःस्थ धर्म भाव के कथन का प्रतिज्ञापन—यहाँ समंतभद्राचार्य ग्रन्थ के प्रारम्भ में अपना उद्देश्य बतला रहे है कि मैं वास्तविक धर्म का प्रतिपादन करूँगा । जो धर्म कर्म और संकटों को दूर करने वाला है । संसार के दुःखों से छुटाकर उत्तम सुख में पहुंचाने वाला है । उस धर्म के विषय में बताया था कि रत्नत्रयधर्म, दस लक्षण धर्म, आत्मस्वभाव धर्म और दयारूप धर्म इन चार रूपों में उस धर्म का दर्शन होता है । सो वह

धर्म जो आत्मा के विकासरूप है वह धर्म कहीं बाहर से नहीं मिल सकता, बाजार में खरीदने से नहीं मिल सकता । कोई सोचे कि मैं धनिक हूँ । मैं पैसे के बल से धर्म पा लूंगा तो इस तरह से धर्म नहीं मिलता, बल्कि मंदिर आदिक में भी भींट पत्थर या जो भी दृश्यमान चीजें हैं उनसे धर्म नहीं मिलता । धर्म मिलता अपने आत्मा में से । जिसको अपने आत्मा में से धर्म मिलता है उसको धर्म में सहयोग मंदिर प्रतिमा मूर्ति आदिक सब पड़ जाते है और जिसको अपने आत्मा से धर्म नहीं मिलता उसको कहीं से भी न मिलेगा । तो वह धर्म आत्मा का स्वरूप है और अपने आत्मा से ही प्रकट होता है । जैसे कहते हैं ना कि धर्म बिना शान्ति नहीं है तो वह धर्म क्या चीज है जिसके होने पर शान्ति हो जाती है? वह धर्म है आत्मा के स्वरूप का परिचय । सो मैं उस धर्म को कहूंगा ऐसी ग्रन्थकार यहाँ प्रतिज्ञा कर रहे हैं ।

शुद्धभाव की धर्मरूपता—संक्षेप में आत्मा के चार भाव जानिये—द्वेषपरिणाम, अशुभराग, शुभराग और आत्मा का शुद्धभाव । जैसे राग शुभ और अशुभ होता है ऐसे ही द्वेष भी शुभ और अशुभ हो सो नहीं । यहाँ आप यह सोच सकते है कि किसी शिष्य पर किसी भक्त पर जिसको अनुराग है वह भक्त को, शिष्य को डांटता भी है, कुछ दण्ड भी देता है, कुछ बलपूर्वक भी बोलता है, यह तो द्वेष हुआ ना? अरे यह शुभ द्वेष है, भले के लिए किया जा रहा है । तो द्वेष शुभ और अशुभ कैसे न हुआ? किन्तु उत्तर है कि यह अनुरागवश द्वेष किया जाता है तो वह शुभ राग में आया । द्वेष में उसकी गिनती नहीं की जाती । जैसे यहीं देख लो—कोई माँ छोटे बच्चे को डाटती है तो उसे कोई कहता है क्या कि इस माँ को अपने बच्चे से द्वेष है कोई नहीं कहता । डांटने की तो बात छोड़ो यदि पीट भी दे तो भी कोई नहीं कहता कि माँ को अपने बच्चों से द्वेष है । वह तो किसी रागवश ही किया गया । बच्चा कहीं कुमार्ग में न जाय सन्मार्ग में रहे ऐसा भाव होने से उस बच्चे के प्रति डांटने डपटने अथवा पीटने का भाव हुआ तो ऐसे ही यदि कोई गुरु अपने शिष्य पर भक्त पर नाराज हो किसी बात से तो उसे भी द्वेष नहीं कहा गया । वह शुभ राग में शामिल है क्योंकि प्रेरणा तो शुभ राग से चली । तो द्वेष तो अशुभ ही होता है, उससे तो हटना ही है । अशुभराग याने विषय सम्बंधी राग, वह भी अशुभ ही होता है । उससे भी हटना । शुभराग जैसे प्रभुभक्ति, पूजा, गुरुजनों की वैयावृत्ति आदि ये सब शुभ राग हैं । सो शुभ राग भी आस्रव है फिर भी मोक्ष मार्ग के रुचिया को शुभ राग करना पड़ता है । सो जितने अंश में वहाँ राग है, उतने अंश में तो धर्म नहीं है और जितने अंश में वीतरागता है उतने अंश में धर्म है । वीतराग अंश की विशेषता है और राग अंश की गौणता है । जैसे माँ बच्चे को डाटे डपटे तो उसको बच्चे से राग है ना और डाट डपट चल रही सो कुछ रोष भी है, पर प्रधानता किसकी है? राग की । तो ऐसे ही जो धर्मात्माजन अन्य धर्मात्माजनों से कभी किसी समय कुछ प्रतिकूल बोले, डाटकर बोले, धमकाकर बोलें तो भी उसमें द्वेष की प्रधानता न लेना शुभ राग की प्रधानता लेना, पर धर्म की बात उन तीनों में नहीं है । न द्वेष में है, न अशुभ राग में है और न शुभ राग में है । तो वह धर्म किसी बाह्य वस्तु से न मिलेगा किन्तु अपने आत्मा के आश्रय से ही मिलेगा ।

श्लोक 3

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि, धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ।

यदीयप्रत्यनीकानि, भवन्ति भवपद्धति: ।।३।।

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र के एकत्व की धर्मरूपता—धर्म क्या चीज है उसका स्वरूप यहाँ कह रहे हैं । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनको धर्म कहते है । धर्म तीन नहीं हैं, सम्यग्दर्शन भी धर्म, सम्यग्ज्ञान भी धर्म, सम्यक्चारित्र भी धर्म, और फिर जिसकी मर्जी आये सम्यग्दर्शन से मोक्ष जाय, कोई सम्यग्ज्ञान से मोक्ष जाय कोई सम्यक्चारित्र से मोक्ष जाय ऐसा नहीं है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन का जो मेल है, परिपूर्णता है वह साक्षात् धर्म है, इसी कारण बोलते समय यों न बोलना कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र धर्म हैं । क्रिया को बहुवचन में न बोलना, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र धर्म है, ऐसा न बोलना । एक वचन से बोलना, अर्थात् इस रत्नत्रय की पूर्णता धर्म है । जैसे प्रथम अध्याय के सूत्र में कहा है—जीवाजीवास्रवबन्धसंवर-निर्जरामोक्षास्तत्त्वम् । यहाँ जैसे उन ७ बातों का नाम लेकर बहुवचन किया गया ऐसे ही तत्त्व में बहुवचन नहीं है वह एक वचन में है, जिससे सिद्ध होता कि उन तीनों का सम्प्रदाय धर्म है । जैसे कोई एक मिलकर काम होता है, अथवा जैसे एक कमेटी होती है या संसद सदस्य जैसी संविद समिति, तो प्रत्येक सदस्य कमेटी नहीं है, किन्तु उन सदस्यों का जो समुदाय है वह कमेटी है । अगर सदस्यों का ही नाम कमेटी होता तो वे कितनी ही कमेटी कहलाती । सबकी जुदी-जुदी राय है अथवा जैसे आगे ९वें अध्याय में दसलक्षण धर्म का सूत्र दिया—उत्तम क्षमामार्दवार्जवशौच-सत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्म:, धर्म: शब्द एक वचन है और १० चूंकि संज्ञा है, नाम हैं सो वे बहुवचन में आये मगर वे १० धर्म नहीं है । १० धर्मों का एकत्व धर्म है । अगर १० धर्म होते तो कोई क्षमा से ही मोक्ष चला जाता, फिर उसे मार्दव आर्जव आदि धर्म पालने की जरूरत ही न थी पर ऐसा तो नहीं है । जो दस धर्मो का समूह है वह धर्म है । ऐसे ही यहाँ कह रहे है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनको भगवान ने, गणधर देव ने धर्मेश्वर ने बताया है, ये धर्म के अधिपति है । उन्होंने इन तीनों के समुदाय को मोक्षमार्ग कहा ।

रत्नत्रयभाव की धर्मरूपता व रत्नत्रय से प्रत्यनीक भावों की भवपद्धतिरूपता—जब मोक्षमार्ग चल रहा हो तो वहाँ प्रसन्नता रहती है । सम्यग्दर्शन क्या चीज है? सम्यक् मायने अच्छा, दर्शन मायने नजर आना, अच्छी बात नजर आ जाय तो उसे कहते हैं सम्यग्दर्शन । अब अच्छी बात क्या है? तो यह समझिये कि अच्छी बात वह होती है कि जो कभी बुरी न हो सके । अच्छी बात है आत्मा का स्वरूप उसका परिचय । यह है सम्यग्दर्शन । सम्यग्ज्ञान आगम का, शास्त्र का ज्ञान होना और उस कथन से अपने आपके स्वरूप में रमकर जैसा का तैसा जानना सम्यग्ज्ञान है । सम्यक्चारित्र—आत्मस्वरूप में मग्न होना कषाय न रहना यह है सम्यक्चारित्र । तो इन तीन का समुदाय मोक्ष मार्ग है । और इससे उल्टे श्रद्धान, वस्तु अन्य तरह है, मानता अन्य तरह है, वस्तु अनित्य है, मानता नित्य है, प्राप्त समागम सब बिछुड़ जायेंगे, पर यह मानता कि ये सदा रहेंगे, तो जहाँ यह मिथ्याभाव है वहाँ धर्म नहीं है । तो यह मिथ्यादर्शन धर्म से विपरीत वस्तु है । कभी किसी पुत्र को अपनी माँ से कोई ठेस पहुंची किसी भी बोली वाणी से तो पुत्र उसमें बुरा मान जाता, उसकी यह दृष्टि नहीं बन पाती कि यह माँ मेरे भले के लिए कह रही, किन्तु वह इससे विपरीत सोचता पुत्र के स्वयं की कषाय है जिससे वह

अपनी ही खुदगर्जी में रहता है ऐसे ही जो पुरुष या जो आत्मा परमात्मा के प्रतिकूल है उसको परमात्मस्वरूप समझ में नहीं आता और जैसे वह पुत्र माँ के दोष ही दोष देखता, माँ के द्वारा किए गए जीवन भर के उपकारों को भूल जाता बल्कि उन्हें अपने लिए अपकार बताता तो ऐसे ही जब मिथ्यात्व का उदय है तो उसको देवशास्त्र और गुरु में भी दोष नजर आते हैं, गुण नहीं, यह है मिथ्यादर्शन । मिथ्याज्ञान—जैसा पदार्थ का स्वरूप है वैसा ज्ञान में न आना, उससे उल्टा जानना यह है मिथ्याज्ञान । और उल्टा चलना, विषयों में प्रवृत्ति करना, कषायों में लगना यह सब है मिथ्याचारित्र । ये तीन भाव तो संसार के बढ़ाने वाले है और सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये संसार को हटाने वाले भाव हैं । तो सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान, सम्यक्चारित्र वे धर्म कहलाते है ऐसा गणधर देव ने बताया है ।

श्लोक 4

श्रद्धानं परमार्थाना-माप्तागमतपोभृताम् ।
त्रिमूढ़ापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ।।४।।

परमार्थ आप्त आगम तपस्वियों के श्रद्धान की सम्यक्त्वरूपता—सम्यग्दर्शन का लक्षण इस गाथा में किया गया है—परमार्थ भूत सच्चा जो आप्त, आगम और तपस्वी अर्थात् देव, शास्त्र और गुरु इनका श्रद्धान करना, जिस श्रद्धान में तीन मूढ़ता न हो, ८ अंग हों ऐसे तत्त्वश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते है । वास्तविक देव, शास्त्र, गुरु कौन है? तो किस बात का देव, शास्त्र, गुरु आप पूछ रहे? मोक्षमार्ग का । तो जो मोक्षमार्ग से चलकर मुक्त हुए हैं ऐसे पवित्र आत्मा देव कहलाते है । और शास्त्र कौन है? उन देवों के द्वारा बताया गया जो शासन है वह आगम है, और गुरु कौन है? तपस्वी कौन है? जो उस आगम के अनुसार, प्रभु के आदेश के अनुसार मोक्ष मार्ग में चल रहे है और बढ़ रहे है वे कहलाते है गुरु । धर्म के देव, धर्म के आदर्श, धर्म का कथन करने वाले आगम, धर्म के गुरु—जो उस धर्म में चल रहे हों ऐसे देवशास्त्रगुरु का श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है । इसमें मूढ़ता न होगी और अष्ट अंग होगा । जैसे मानो कोई संगीत सीखना चाहता तो अब केवल संगीत-संगीत का निर्णय किया जा रहा । आप सोचिये उस संगीत का देव कौन है? जो संगीत में बहुत ऊंचा पहुंचा हुआ हो सो वह पुरुष संगीत का देव है । यद्यपि वह रोज-रोज मिलेगा नहीं क्योंकि पता नहीं कहां रहता है सुना ही है कि वह बड़ा गवैया है, लेकिन सीखने वाला पुरुष उस पुरुष को आदर्श मानकर और उस मार्ग से चलकर यही मुझे बनना है ऐसा विश्वास करके वह संगीत सीखता है । और संगीत का शास्त्र कौन हुआ? जिसमें संगीत के चिह्न लिखे हों, संगीत सिखाने के शब्द हों वे संगीत शास्त्र कहलाते । और संगीत के गुरु कौन कहलाते? जो अपने को संगीत सिखाने वाले मास्टर मिल सकें । ऐसे ही धर्म की बात सुनो । धर्म का देव कौन है? जो धर्म में पूरा पहुंच चुके है ऐसे अरहंत और सिद्ध धर्म के देव हैं । धर्म की बातें जहाँ लिखी हों, रागद्वेष मोह से हटना यह वृत्ति जिन उपदेशों में पायी जाय वे धर्म के शास्त्र है, और धर्म के गुरु कौन? जो अपने को बढ़ें मिल सकें । जो धर्मभाव में बढ़ रहा है वह है धर्म का गुरु । तो ऐसे देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है ।

तत्त्वश्रद्धान का प्रारम्भिक आधार आप्त आगम गुरु का श्रद्धान—यहां कोई ऐसा सोच सकता है कि वास्तव

में सम्यग्दर्शन तो आत्मा के अविकार स्वभाव का परिचय है । अनुभव है पर यहाँ बतला रहे कि देव शास्त्र गुरु का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है । तो उत्तर यह है कि जो कुछ भी तत्त्वज्ञान किया जाता है उसका मूल है देव, शास्त्र, गुरु । जो उस मार्ग को तय कर चुके उनका श्रद्धान इसलिए करना कि मुझे खुद उस मार्ग पर चलना है । जैसे नदी के इस पार रहने वाले जो हैं, जिनको कभी उस पार जाना नहीं है उनके लिए तो नदी पार करके किनारे पहुंचे हुए का कोई महत्व नहीं, क्योंकि उनको नदी पार करने का ख्याल हीं नहीं, पर जिन पुरुषों को नदी पार करना है उनके लिए नदी पार होने का बड़ा महत्व है । ऐसे ! ही कैसे संसार के दु:खों से छुटकारा मिले, कैसे कष्ट से बचे, यह सब ध्यान में रहता है सो इन भव्यों को संसार महानदी पार करने की उत्सुकता है तो आत्मानुभव हुआ या स्व पर का भेदविज्ञान किया तो उसका आधार है आगम, देव, शास्त्र, गुरु । सो देव, शास्त्र, गुरु का यथार्थ श्रद्धान हो तो यथार्थ तत्त्वश्रद्धान हो जाता है । भगवान का आत्मा अमूर्त है, शरीर में रहकर भी शरीर से न्यारा ऐसा भगवान के स्वरूप का किसी ने स्मरण किया तो अपने आपके स्वरूप में उसका प्रवेश हुआ इस कारण धर्म है । तो सबका आधार है देव, शास्त्र, गुरु और सबके लिये वह उपयोगी है । जो सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहता है उसके लिये भी यही उपाय है कि वह देव, शास्त्र, गुरु की उपासना भक्ति में लगे, ऐसे परिणाम के अभिमुख होने को श्रद्धान कहते हैं । श्रद्धान में तीन मूढ़तायें नहीं रहतीं । जैसे संगीत सीखने वाले को अपने संगीत कार्य के लिये मूढ़ता नहीं रहती । उसको यह सम्यक् श्रद्धान है कि ये पड़ोस के उस्ताद हमारे गुरु हैं, ये हम को संगीत सिखा देंगे, तो ऐसे ही इस ज्ञानी को धर्म के देव, शास्त्र, गुरु के बारे में मूढ़ता नहीं है कि कैसे ये जीव देव, शास्त्र, गुरु बन गये पक्का श्रद्धान है । और जैसे व्यवहार में कोई संगीत सीखने वाले को अपने संगीत के विषय में शंका नहीं है और संगीत को छोड़कर अन्य कुछ इच्छा नहीं है, संगीत सिखाने वाले के प्रति ग्लानि नहीं करता, संगीत सिखाने वालों के दोषों पर वह दृष्टि नहीं देता । संगीत सिखाने वाला कदाचित् च्युत हो जाय तो प्रेमी लोग उसको बड़ा महत्व देते है । कोई संगीत का प्रेमी कभी अपने धर्म से चिग जाय तो उसको उसमें स्थिर करते है । उससे प्रेम भी रखते है और उस संगीत विषय की या उस्ताद की प्रशंसा भी गाते है । वह बड़ा अच्छा गाता है, बड़ी लगन से सिखाता है तो वहां भी ८ अंग पाये जाते है । वे संगीत के अंग हुए । तो धर्म में जो चलने वाला है उसको धर्मविषयक ८ अंग बनते है ।

देह के अष्ट अङ्गों में अङ्गविधित्व का प्रेक्षण—जैसे शरीर में ८ अंग है वे भी इन अंगों जैसा काम करते हैं । चलना है तो जैसे मान ली आगे दाहिना पैर बढ़ाया तो कैसा निःशंक बढ़ाते हैं लोग, कोई ऐसी शंका तो नहीं करता कि मैं इस पृथ्वी पर पैर धर रहा हूँ, कहीं इस जगह यह पृथ्वी पोली न हो और मैं गड्ढे में समा जाऊं? अरे वह तो निःशंक रहता और पिछले पैर को भी वह बड़ी उपेक्षा से उठा लेता है । जैसे मानो वह जगह उसके लिये बेकार हो । पीछे पैर वाली भूमि से उसे कोई लगाव नहीं रहता । यह दाहिना पैर जैसे आगे रखा तो वह नि:शंकित हुआ और पीछे का पैर उठाया तो वह नि:कांक्षित हुआ । यह शरीर के अंगों की बात देखो—जिन अंगों से हम सर्व कार्य करते हैं । निर्विचिकित्सा—सुबह उठकर हर एक कोई शौच जाता है तो वह मानो बायें हाथ से शुद्ध करता है । पर किसी को उस हाथ को गाली देते हुए देखा कि यह हाथ बड़ा बुरा है? नहीं

देखा । तो ऐसे ही सभी अंगों की बात है । किसी को बायें हाथ से ग्लानि नहीं होती । यह निर्विचिकित्सा हुई । और इस दाहिने हाथ में कैसा निर्णय पड़ा है कि यह दृढ़ता पूर्वक दूसरे को कहता है कि ऐसा काम करो । यह करना ही होगा । यह दाहिना हाथ उठता है । यह अमूढ़ दृष्टि है । उपगूहन—उपगूहन कहते हैं ढाकने को जैसे धोती या लंगोट से शरीर के कुछ अंगों का ढाकना, यह उपगूहन हो गया । कुछ स्थितिकरण—पीठ पर कितना ही बोझ रख लेना यह है स्थितिकरण । वात्सल्य का काम किया । और ये दिमाग मस्तक आदि प्रभावना का कार्य करते है । धर्ममार्ग में धर्म भाव के ८ अंग सहित देव शास्त्र गुरु का श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन कहलाता है ।

श्लोक 5

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण, सर्वज्ञेनागमेशिना ।

भवितव्यं नियोगेन, नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ।।५।।

निर्दोष आत्मा के ही आप्तपने की संभवता—इससे पहले श्लोक में यह कहा था कि वास्तविक आप्त आगम और गुरु का श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है । तो उन तीनों में से प्रथम कहा हुआ जो आप्त है उसका क्या स्वरूप है यह वर्णन इस श्लोक में चल रहा है । आप्त का शब्दार्थ है पहुंचा हुआ, व्याप्त हुआ, छाया हुआ और उसका भावार्थ है कि वह परमात्मा जिसकी दिव्यध्वनि से आगम की रचना बनी है उसे कहते हैं आप्त । वह आप्त कैसा होता है? दोषरहित, सर्वज्ञ और आगम का अधिकारी याने हितोपदेशी । जहाँ ये तीन बातें पाई जायें उसे आप्त कहते है । अब इसके विरुद्ध कुछ कल्पना करके सोचिये आप्त में ३ बातें कहा है—(१) निर्दोष (२) सर्वज्ञ और (३) हितोपदेशी । यदि निर्दोष न हो तो क्या वह आप्त हो सकता है? जिसमें क्षुधा, तृषा, वेदना रोग ये दोष पाये जायें तो वह खुद ही सुखी नहीं है । फिर वह दूसरों को आनन्द का क्या उपदेश दे सकता है? काम विकार आदिक भी दोष है, ये जिनके दोष नहीं मिटे, कामी है विकारी है कोई तो वह खुद पराधीन है, काम के विषयभूत है, पर पुरुष या स्त्री के ध्यान में निरन्तर रहने से वह पराधीन है वह क्या आप्त हो सकेगा? जिसके रागद्वेष है वह स्वयं कलंकित है, वह आप्त कैसे हो सकता है? वह सत्य कैसे बोल सकता है? जिसके रागद्वेष भाव लगा है वह यथार्थ उपदेश नहीं कर सकता । फिर जो दोषी है वह उन दोषों के वशीभूत होकर या भय के वशीभूत होकर या जीवन में क्रूरता के परिणाम बढ़ाकर वह अनेक साधन रखेगा । कोई स्त्री रखे है फिर भी यह प्रसिद्धि कर रहा कि मैं भगवान हूँ । कोई हथियार रखे है, किसी के पुत्र भी है तो भी यह प्रसिद्धि करता है कि मैं भगवान हूँ, जो शस्त्र रखे हैं सो क्यों रखता है? या तो उसे शौक है या कोई डर लगा है । तो शौक होना वह भी दोष, डर लगा है तो वह तो बड़ा डरपोक । वह प्रभु कैसे हो सकता है? तो निर्दोष होना यह आप्त का पहला विशेषण है । उसके बिना आगे की बात चल ही न सकेगी ।

निर्दोष व सर्वज्ञ आत्मा के ही आप्तपना की संभवता—आप्त का दूसरा विशेषण दिया है सर्वज्ञ, जो सर्व को जानने वाला हो वह आप्त है क्योंकि जो सबको न जानता हो वह सर्व बातों का कैसे वर्णन कर सकता है? सर्व कितनी चीजें है? पहले तो द्रव्य की जाति जानों कि द्रव्य ६ प्रकार के होते है (१) जीव, (२) पुद्गल, (३) धर्म, (४) अधर्म, (५) आकाश और (६) काल । जीव द्रव्य हैं अनन्त, पुद्गल हैं अनन्त । धर्मद्रव्य एक है,

अधर्मद्रव्य एक है, आकाशद्रव्य एक है और कालद्रव्य असंख्याते हैं । अब इनमें से मानो एक जीव को ही ग्रहण करे तो एक जीव में अनन्त शक्ति है—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द, आदिक और एक-एक शक्ति की भूतकाल, वर्तमानकाल, भविष्यकाल की अपेक्षा अनन्त पर्यायें हैं । उन अनन्त पर्यायों में एक ही पर्याय में अनन्त रस भरे पड़े हैं । ऐसे-ऐसे अनन्त जीव, अनन्त पुद्गल कितने पदार्थ है जगत में उन सबका जानने वाला जो पुरुष होगा वही प्रयोजन की सच्ची बातें कह सकेगा । इसलिये आप्त के लक्षण में दूसरा विशेषण कहा है कि वह सर्वज्ञ होना चाहिये ।

निर्दोष, सर्वज्ञ हितोपदेशी आत्मा के ही आप्तपना की संभवता—आप्त का तीसरा विशेषण है हितोपदेशी । सकल परमात्मा का जो उपदेश है यह सर्व जीवों के हित के लिये है । जैसे मनुष्यों को दया का, संयम का, व्रत का उपदेश किया है तो जो लोग उन उपदेशों का पालन करेंगे उनका हित होगा और जीव दया का उपदेश दिया तो वह जीव दया पालेगा तो अनेक जीवो में दया होगी । उनकी हिंसा बच गई सो यह अन्य जीवों का हित है । तो आप्त हितोपदेशी होता है । इससे यह अर्थ जानें कि आप्त के उपदेशों की परम्परा से जो आप्त आगम है, जो चार अनुयोगों में विभक्त है—(१) प्रथमानुयोग, (२) करणानुयोग, (३) चरणानुयोग, (४) द्रव्यानुयोग । सो प्रत्येक शास्त्र के कथन में आत्मा के हित की ही बात कही गई है । पुराणों में चारित्र देकर यह श्रद्धा करायी गई है कि जो शुभ भाव करेगा सो पुण्य बाँधेगा । जो अशुभ भाव करेगा सो पाप बाँधेगा और जो शुभाशुभ दोनों से रहित आत्मा के शुद्ध भाव को करेगा वह मोक्ष पायगा । तो उस प्रथमानुयोग पुराण के सुनने से उदाहरण भी सामने आने से यह श्रद्धा दृढ़ होती है कि मेरे आत्मा को तो शुभ और अशुभ भाव से हटकर शुद्ध भाव में लगना चाहिए । प्रथमानुयोग में बाह्य-क्रियाओं का वर्णन है और अन्तरंग भावना का उसमें समन्वय है तो योग्य क्रियायें करने से इन जीवों को पात्रता होती है कि वे मोक्ष मार्ग में चल सकें । तो वह भी उपकारक उपदेश है । करणानुयोग में तो तीन लोक, तीन काल, गुणस्थान मार्गणा आदिक का सूक्ष्म से सूक्ष्म विवेचन है जिससे अपनी स्थिति का हम पहले क्या थे उन बातों का, अब हमें क्या करना चाहिए, इन सबका वहाँ ज्ञान बताया है । द्रव्यानुयोग में आत्मा और आत्मा का स्वरूप दिखाकर अनात्मा से हटना और सहज आत्मस्वरूप में लगना, इस तरह का उपदेश करके जो आत्मा को निर्दोष निर्मोह बनाया तो उसमें भी आत्मा के उद्धार की ही बात लिखी है, ऐसा आगम का जो प्रसंग है हितोपदेशी द्वारा कहा गया है ।

आप्त के लक्षण में निर्दोष, सर्वज्ञ व हितोपदेशी इन तीन विशेषणों की सार्थकता—यहां एक शंका की जा सकती है कि आप्त अरहंतदेव के लक्षण में दिव्यध्वनि द्वारा आगम प्रसार करने वाले तीर्थंकर आदिक में यहाँ जो तीन गुण बतला रहे विशेषण बतला रहे, सो तीन की क्या जरूरत थी? एक ही विशेषण से सब काम बन जाता । जैसे प्रभु निर्दोष होते हैं तो अब अर्थ आगे बढ़ाते जाइये जो निर्दोष प्रभु हैं, परमात्मा हैं सो शास्त्र के रचने वाले हैं, पहुंचे हुए है । तो एक निर्दोष शब्द के कहने से ही सही परमात्मा का परिचय होता है और उसमें कुछ उपयोग देकर अपने आपको सुखी शान्त बनाया जाता है । तो इस निर्दोष की बात श्लोक में रखते यानि केवल निर्दोष शब्द ही कहा जाता । इस शंका के उत्तर में कहते है कि यदि सर्वज्ञ और हितोपदेशी ये दो

विशेषण हटा देते तो उसका अर्थ यह बनता कि जो क्षुधा तृषा रागद्वेषादिक दोषों से रहित है वह है आप्त । इतना ही अगर कहते तो पुद्गल धर्मादिक द्रव्य इनमें कहाँ क्षुधा, तृषा, रोग, शोक पाये जाते है । तो सिर्फ निर्दोष को ही कहते कि यह आप्त है और सर्वज्ञ और हितोपदेशी ये दो विशेषण न कहते तो पुद्गल धर्मादिक द्रव्य आप्त बन जाते, इससे केवल निर्दोष कहकर आप्त को सही लक्षण बताने की कोशिश नहीं निभती । निर्दोष हो और सर्वज्ञ हो वही पुरुष आप्त हो सकता है । तो कोई शंका करे कि ये दो ही विशेषण रहने दो—निर्दोष हो और सर्वज्ञ हो, हितोपदेशी शब्द न कहते, तो इस शंका का उत्तर यह है कि सिद्ध भगवान निर्दोष हैं और सर्वज्ञ हैं, पर वे आप्त तो नहीं कहलाते । यद्यपि सिद्ध भगवान आप्त से बड़े हैं, आप्त तो अरहंत अवस्था का नाम है । तीर्थकर या अन्य अरहंत जिनकी दिव्यध्वनि खिरती है और ज्ञानधारा जहाँ से बहती है उसे आप्त कहते है । सिद्ध भगवान के ८ कर्म नहीं है । शरीर नहीं है अरि वह बहुत उत्कृष्ट पूर्ण सर्वोत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त है फिर भी । सिद्ध भगवान की वजह से परम्परा से शास्त्र नहीं निकले । आगम नहीं निकला । आगम निकला है आप्त की परम्परा से । आप्त का निर्दोष और सर्वज्ञ ये दो विशेषण देते हितोपदेशी न कहते तो भी आप्त का लक्षण पूरा नहीं बनता । आज हम जैन शासन का अध्ययन कर रहे है । वे शास्त्र कहां से निकले, उनका मूल प्रणेता कौन है, यह निर्णय हुए बिना शास्त्र में भी श्रद्धान न जगेगा । इसके प्रणेता निर्दोष सर्वज्ञ हितोपदेशी अरहंत भगवान है, उनकी परम्परा से चले आये शास्त्र में असत्यता का कोई अवकाश नहीं । सर्व सत्य है और प्रामाणिक है । तो इस प्रकार आप्त भगवान के लक्षण में ये तीन विशेषण दिये हैं—निर्दोष हो, सर्वज्ञ हो और हितोपदेशी हो ।

निर्दोष, सर्वज्ञ व हितोपदेशी हुए बिना आप्तपने की असंभवता—उक्त तीनों गुणों से रहित कोई भी हो वह यदि अपने को भगवान जाहिर करे तो वह केवल एक लौकिक चाल की ही बात रही, पर प्रभुता नहीं आयी उनमें । क्योंकि जो निर्दोष नहीं है वह पराधीन है, दु:खी है उसके वचन सत्य कैसे निकल सकते? सो इस प्रकार ये तीनों ही विशेषण आप्त के कथन में देना आवश्यक हुआ, ऐसा आप्त तत्त्वार्थ का कहने वाला है । प्रभु सर्वज्ञ हैं, तीन लोक तीन काल के सर्व पदार्थो को एक साथ जानते है । ऐसा सर्व विषयक ज्ञान होना आत्मा से है इन्द्रिय द्वारा सम्भव नहीं है क्योंकि इन्द्रिय तो एक सामने रहने वाले पदार्थ को जानेगी, और उसमें भी कुछ जानेगी, सबको न जानेगी जैसे आँख से जाना कि यह चौकी है तो आँख ने चौकी के बारे में कितना समझा कि बस ऊपर से यह रंग रूप और सामने जितना आकार दीख रहा, बस इतना ही भर आँखों द्वारा जाना । चूंकि पूरा नहा जान पाये । पूरा क्या? कि अनादि अनन्त है, अनन्त शक्ति वाला है आदि, सो इन पदार्थो को भी इन्द्रियज्ञान पूरा नहीं जान सकता । सर्व का जाननहार ज्ञान अतीन्द्रिय है, इन्द्रिय से परे है । इन्द्रियजन्य ज्ञान स्थूल को जानेगा, सामने रहने वाले पदार्थ को जानेगा । वर्तमान में जो बन रहा है उसे जानेगा, पर इतने स्थूल क्रमवर्ती को जानने से कोई सर्वज्ञ नहीं होता । सर्वज्ञ होता है तो एक इस सत्यार्थ स्वरूप के ज्ञान के बल पर ।

श्लोक में कहे गये तीन विशेषणों के क्रमस्थापन का रहस्य—इस श्लोक में आप्त के तीन विशेषणों का जो क्रम रखा है उससे क्या सम्बन्ध निकलता है सो देखिये? सबसे पहला विशेषण है भगवान का आप्त का जिसकी

दिव्यध्वनि की परम्परा से हम सबको यह तत्व ज्ञान मिला है । सो उसके तीन प्रकार है, देखिये तीन बातें कही हैं—निर्दोष, सर्वज्ञ, हितोपदेशी इनमें कारण कार्य बना है । निर्दोष होंगे तब ही सर्वज्ञ बनेंगे दोष रहित हुए कोई सर्वज्ञ नहीं बन सकता । करणानुयोग के अनुसार निर्दोष होना १२ हैं गुण स्थान में हो जाता है । १० वें गुण-स्थान के अन्त में निर्दोष हो जाता है । अर्थात् किसी भी मोहनीय कर्म की सत्ता न रही क्षपक के १२ वें गुणस्थान में तो जब यह निर्दोष अवस्था मिली १ २वां गुणस्थान मिला तब वह १३ वां गुणस्थान पाया याने सर्वज्ञ हुए । तो निर्दोष जो होगा सो ही सर्वज्ञ होगा, दूसरा कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता । यह सम्बन्ध बना है । जो निर्दोष होगा, सर्वज्ञ होगा वही हितोपदेष्टा हो सकता है दूसरा नहीं हो सकता । तो आप्त के ये तीन विशेषण दिए । आगम के मूल प्रणेता अरहंत भगवान में ये तीन विशेषण इस क्रम से न रखते और दूसरा क्रम रख देते तब सर्वज्ञ, निर्दोष, हितोपदेशी या हितोपदेशी, सर्वज्ञ, निर्दोष, तो ऐसे कुछ भी अटपट क्रम में यह सर्वज्ञ नहीं विदित हो सकता । उल्टी बात आती है । यहाँ काल का भी क्रम आ गया । पहले निर्दोष होता है कोई फिर सर्वज्ञ होता है वही कोई फिर हितोपदेशी होता है । कारण भी आ गया, निर्दोष हुआ इस कारण सर्वज्ञ हुआ । सर्वज्ञ हुआ इस कारण हितोपदेशी हुआ । यह चर्चा किसकी चल रही है? इन्हीं शास्त्रों की निकली है। उन शास्त्रों का मूल वक्ता, मूल प्रणेता कौन था, उसका यह वर्णन चल रहा है । वह थे निर्दोष: इसलिए कोई झूठ बात उसमें आ नहीं सकती । वह थे सर्वज्ञ इसलिए कोई अज्ञानकृत दोष के कारण भी झूठ बात आ नहीं सकती । उनके अज्ञान है ही नहीं । वह थे हितोपदेशी सो किसी अहित बात का यहाँ उपदेश हो ही नहीं सकता । सम्यग्दृष्टि से लेकर, पहली प्रतिमा से लेकर बढ़ते चले जाइये । महाव्रती हुये, क्षपक श्रेणी में चढ़े, सभी का आचार, सभी का व्यवहार अपनी-अपनी भूमिका में हित की ओर रहने वाला रहता है । अहित वाला व्यवहार नहीं रहा । तौ प्रभु जो निर्देश हो सर्वज्ञ हो वही हितोपदेशी है और जिसमें ये तीन गुण हों उसके द्वारा जो आज शास्त्र प्रवाह चल रहा है वह पूरा प्रामाणिक है । जो लोग इन शास्त्रों के अध्ययन में नहीं है और न प्रयत्न करना चाहते कि हम कुछ सीखें, अध्ययन करें, जिससे हमें विदित हो कि शास्त्रों में जो कुछ लिखा है वह वस्तुस्वरूप के अनुसार लिखा है । जैन शासन कहो या विश्व धर्म कहो । विश्व मायने समस्त पदार्थ उनको बताने वाला, उनके धर्म को जताने वाला यह शासन है । ऐसे परम्परा से चले आये हुए इन शास्त्रों के अध्ययन से हम अपने कल्याण की बात पाते हैं ।

आप्त की पुरुषोत्तमता—वे आप्त मनुष्य हैं। अरहंत भगवान मनुष्य हैं जिनकी हम पूजा करते हैं मूर्ति बनाकर । वे मनुष्यगति के जीव हैं । अब आप देखिये मनुष्य-मनुष्य में कितने भेद पड़ गए हैं । कोई मनुष्य अज्ञानी मिथ्यादृष्टि खुद व्याकुल ऐसी स्थिति में है तो कोई मनुष्य यथार्थ वान और श्रद्धान पाकर कुशल बना, सावधान बना है और वह अनन्त संसार वाले कर्मो को नहीं बांधता । एक वह मनुष्य है । और एक वह मनुष्य है जो आत्मानुभव करने की दिशा में बढ़ रहा है और अपनी भूमि का के अनुसार अणुव्रत धारण कर रहा है और उसमें ११ प्रतिमा के भेद और एक वह मनुष्य जिसका किसी प्रकार का शल्य नहीं है । किसी बाह्य पदार्थ में अटका हुआ नहीं है मुनि है, महाव्रती है; शरीरमात्र ही जिसका परिग्रह है तो एक ऐसा मनुष्य । और वही मुनीश्वर जब अपने आत्मा पर एक कब्जा प्राप्त कर लेते है तो वे श्रेणी में बढ़ते है । जहाँ शुद्ध ध्यान है ।

रागद्वेष की प्रवृत्ति नहीं है, एक तो वह मनुष्य और एक वह मनुष्य कि जिसके अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द प्रकट हुआ है, जिसकी दिव्य वाणी सुनने के लिए स्वर्ग खाली हो जाता हैं । देव लोग आ जाते है । खाली होने का मतलब बिल्कुल खाली नहीं किन्तु वहाँ कोई चहल पहल नहीं रहती, सब विक्रिया ऋद्धि से भगवान के समवशरण में आ जाते हैं । कैसी समवशरण की रचना, कैसी परम वैराग्य की मुद्रा, एक वह मनुष्य है । तो मनुष्यों के अनेक भेद है । जिन आप्त का हम वर्णन कर रहे हैं वे आप्त हैं मनुष्य, किन्तु मनुष्यों में अलौकिक मनुष्य हैं, जिन्हें मनुष्य न कहकर भगवान कहियेगा । ये अनन्त ज्ञान द्वारा सबको जानते हैं । अनन्त दर्शन द्वारा सबका अवलोकन करते है । अनन्त शक्ति द्वारा सर्व इन अनन्त गुणों को, अनन्त विकासों को सम्हाले हुए हैं । अनन्त आनन्द द्वारा अद्भुत अलौकिक आनन्द को भोग रहे हैं । तो ऐसे लोकालोक में व्याप्त हो जाने से याने जिनका ज्ञान इतना बढ़ा चढ़ा है कि उसमें सारे लोकालोक प्रतिबिम्बित हो गए तो ऐसे व्याप्त हो जाने के कारण जो अन्य दीन मनुष्यों में आत्मरूप न पाया जाय, ऐसे आत्मस्वरूप से वे देदीप्यमान रहते है । ये प्रभु देवाधिदेव मनुष्य पर्याय में रहने वाले अनन्तज्ञान, अनन्तशक्ति आदिक गुणों के कारण ये आप्त कहलाते हैं । उनकी वाणी है यह सब जो कि आज अनेक शास्त्रों के रूप में फैली हुई है ।

श्लोक 6

क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मया: ।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्त: स प्रकीर्त्यते ।।६।।

आप्त की क्षुधादोषरहितता—इससे पूर्व श्लोक में आप्त का लक्षण कहा गया है जो निर्दोष हो, सर्वज्ञ हो, हितोपदेशी हो उसे आप्त कहते है । आप्त के मायने है कि वह परमात्मा जिसकी दिव्यध्वनि से आगम की रचना बनी है । तो वह मूल वक्ता आप्त अरहंत भगवान तीर्थंकर निर्दोष सर्वज्ञ और हितोपदेशी है । जो निर्दोष होगा सो ही सर्वज्ञ बनेगा । जो निर्दोष और सर्वज्ञ होगा वही सच्चा उपदेश कर सकेगा । जो केवल निर्दोष है, सर्वज्ञ नहीं उन निर्दोष के मायने है कि रागद्वेष क्षुधा तृषा आदिक दोष न हों, तो ऐसे तो पुद्गल द्रव्य भी हैं । पुद्गल द्रव्य में भूख प्यास रोग शोकादिक कुछ भी नहीं है तो वे आप्त हो जायेंगे क्या? तो निर्दोष हो और सर्वज्ञ हो तब आप्त बनता है । तो निर्दोष और सर्वज्ञ तो सिद्ध भगवान भी हैं तो क्या वे आप्त कहलाते है? भले हो वे आप्त से बड़े हैं मगर आप्त नहीं है आप्त उन्हें कहते है जिनकी दिव्यध्वनि से आगम की रचना होती है । तो निर्दोष हो, सर्वज्ञ हो हितोपदेशी हो वही आप्त हो सकता है । तो निर्दोष के मायने क्या है? कौन से दोष नहीं हैं इसका विवरण करने के लिए यह श्लोक आया है । जिसमें ये १८ दोष नहीं हैं वह आप्त कहलाता है । (१) पहला दोष बताया है क्षुधा । जिस भगवान को भूख लगती है वह भगवान-भगवान भी कहां है और वह आप्त भी कैसे हो सकता? क्षुधा में विह्वलता होती है । बुद्धि भी हीन हो जाती है । शुक्ति भी घट जाती है । और भूख मेटने के लिए भोजन करना होता है, तो उसमें रागद्वेष इष्ट अनिष्ट बुद्धि बनती है । तो जो भोजन करता हो वह भगवान ही नहीं, फिर आप्त कैसे हो सकता है?

प्रभु के क्षुधा मानने पर दोषों का भार—कुछ लोग भगवान को भोजन करने वाला मानते हैं । सो मोटी दलीलों से भी साबित होता है कि जो अनन्त शक्ति वाला आत्मा होगा वह भोजन क्यों करेगा? रही एक यह

बात कि भोजन के बिना देह कैसे टिका रहेगा? सो यह सब जीवों की अलग-अलग बात है । देवताओं का भोजन के बिना शरीर टिका रहता है । ये जब मुनि अवस्था में थे और जब क्षपक श्रेणी में चढ़ने लगे तो अप्रमत्त विरत में, अपूर्वकरण में और ऊंचे गुणस्थानों में पाप प्रकृतियाँ बदलकर पुण्य प्रकृतियां हो रही तो पुण्य प्रकृतियों का आधिक्य है । पाप प्रकृति केवल नाम पर चलती है १३ वें गुणस्थान में । उससे वेदना नहीं हो सकती । श्वेताम्बर सम्प्रदाय में केवली भगवान को आहार करने वाला माना है । तब सोचा जाय तो आहार वह करते है मानो तो सबके देखते-देखते करते या लुक छिपकर? अगर देखते-देखते करें तब तो लोगों के चित्त में भगवान के रूप से श्रद्धा न रहेगी, एक केवल साधु जितनी ही श्रद्धा रहेगी । छुपकर करें तो उसमें कपट का दोष है । रोज-रोज आहार करते या दो चार दिन बाद करते? अगर रोज-रोज आहार करते तो इसके मायने है कि रोज-रोज उनका शारीरिक बल घट जाता है । या कुछ दिन बाद करते हैं तो उतने दिन तक शरीर का बल रहा फिर क्षीण हो गया, शक्तिहीन हो गया तब आहार करते । वे आहार करते तो उस आहार का ज्ञान उन्हें केवल ज्ञान के द्वारा होता है या रसनाइन्द्रिय द्वारा? अगर कहो कि उसका ज्ञान अनुभव तो केवलज्ञान द्वारा होता है तो केवलज्ञान द्वारा तो बाहर कहीं भी पड़ा रहे अन्न भोजन उसे भी जान जायेंगे । खाने की भी जरूरत क्या रही? अगर कहो कि रसना इन्द्रिय द्वारा वे श्वांस लेते, ज्ञान करते तो वह तो मतिज्ञान कहलाने लगा । सर्वज्ञता न रहेगी । उनके घातिया कर्म नष्ट हो जाने से अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति प्रकट होती है । सुख में फर्क आये तो भोजन आदिक जैसी अनेक बातें करें और वहाँ तो अनन्त आनन्द है शक्ति भी अनन्तवीर्य है । शक्ति क्षीण कभी होती ही नहीं । किसलिए भोजन का प्रसंग है? तो प्रभु जो हो गया उसके क्षुधा का दोष नहीं होता ।

प्रभु की पिपासादोषरहितता—(२) दूसरा दोष बताया है तृषा । प्रभु के तृषा का भी दोष नहीं है । उनका देह स्फटिक मणि की तरह शुद्ध होता है, उस देह में क्षुधा तृषा जैसी वेदना नहीं है । उनका देह देवों से भिन्न हैं । क्षुधा और तृषा ये दोनों बड़ी वेदनायें कहलाती है । जिन में क्षुधा की वेदना के तो दर्जे कहा—तीव्र और मंद । किसी के तीव्र क्षुधा लगी है, किसी के मंद क्षुधा लगी है, और तृषा की वेदना के चार दर्जे कहे हैं—(१) तीव्र (२) तीव्रतर (३) मंद (४) मंदतर याने अत्यन्त हल्की प्यास हल्की प्यास, तेज प्यास, बहुत तेज प्यास । इससे मालूम होता कि क्षुधा की असाता से तृषा की असाता और अधिक होती है । थोड़ी सी भूख लगी हो तो भूख का अनुभव नहीं होता । जबकि जरा सी भी प्यास लगी हो उस प्यास का पता पड़ जाता है कि हम को प्यास लगी है । क्षुधा और तृषा दोनों ही वेदनायें है । आप्त भगवान के ये दोष नहीं होते ।

आप्त की जरातङ्कदोषरहितता—(३) तीसरा दोष है बुढ़ापा । बुढ़ापा बड़ा दोष है । बुढ़ापा स्वयं रोग है । शरीर क्षीण है । इन्द्रियां काम करती नहीं । मन भी प्रबल नहीं रहा । तृषा बढ़ जाती है । ऐसी स्थितियों में वृद्धावस्था में बड़ा कष्ट होता है । ज्ञान हो तो ज्ञानबल से वह कष्ट न मानेगा, पर ज्ञान जिसके नहीं है तो वह उसमें बड़ा कष्ट मानता है । तो बुढ़ापा अरहंत भगवान के नहीं है । आप्त में नहीं है ये सभी दोष अरहंत के, भगवान के नहीं हैं । चाहे वह आप्त हो या नहीं । सभी अरहंत आप्त नहीं कहलाते । कोई उपसर्ग सिद्ध हुए है । उनकी दिव्यध्वनि नहीं खिरी, उनसे आगम की परम्परा बनी ही नहीं, पर ये १८ दोष सभी अरहंतों में नहीं पाये जाते

। चौथा दोष है रोग । इस शरीर सम्बंधी व्याधि । शरीर में करोड़ों रोग बताये गए? अब करोड़ों रोगों का कौन नाम लेता फिरे । इसलिए कुछ मुख्य-मुख्य रोगों के नाम आयुर्वेद में बताये गए । पर रोग शरीर में उतने होते जितने कि शरीर में रोम, और उससे भी कई गुना अधिक समझो । तो अरहंत भगवान के स्फटिक मणि की तरह देह होता है । वहाँ निगोद जीव तो रहते ही नहीं है । कोई भी त्रस जीव वहाँ नहीं पाये जाते । अरहंत भगवान के शरीर में किसी भी प्रकार का रोग नहीं है । किसी मुनि को अगर रोग भी हो पहले और उसे केवलज्ञान हो जाय । अरहंत हो जाय तो वहाँ रोग नहीं रह सकते । इसी तरह कोई अंग खराब हो जाय और उस मुनि के केवलज्ञान हो जाय तो फिर उसका वह अंग सही सुदृढ़ हो जाता है ।

आप्त की जन्ममरण दोषरहितता—(5) ५ वां दोष बताया है जन्म । जन्म होने में इतना कष्ट है कि जिसका जन्म हो रहा वह अबोध जैसा है । उस समय के कष्टों को वह बता नहीं सकता । जब बताने लायक हो जाता है तब जन्म के समय की बातें भूल जाता है । और जन्म के समय में मरण से कम दुःख नहीं है जन्म वास्तव में तो जिस क्षण जीव उस भव में आया गर्भ में आया उसे कहते हैं और रुढ़ि में गर्भ से निकलने की स्थिति को जन्म कहते है । गर्भ में आया तब भी दुःख था और गर्भ से निकल रहा उस समय की तो बहुत बड़ी वेदना । तो जन्म का दोष अरहंत भगवान के नहीं है अर्थात् अरहंत प्रभु अब जन्म धारण न करेंगे । खोटे जन्म न लेंगे यह तो है ही मगर लोक में जो अच्छे जन्म माने जाते इन्द्र होना, चक्री होना आदि थे भी जन्म नहीं होते । उनके आयु कर्म समाप्त होने के बाद कोई कर्म रहते ही नहीं हैं तो जन्म कैसे हो? (६) छठा दोष है अंतक अर्थात् मरण । अरहंत भगवान के आयु का क्षय तो होता है पर उसे मरण नहीं कहते । मरण की रूढ़ि है कि जिसके बाद जन्म होवे ऐसे मरण को मरण कहते है । अरहंत की आयु का विनाश होने के बाद उनका जन्म नहीं होता इसलिए उसे मरण संज्ञा नहीं दी । वैसे शास्त्रों में निर्वाण का नाम पंडित-पंडित मरण कहा है अर्थात् वह भी इस भव की दृष्टि से तो मरण ही कहलाया, पर जन्म नहीं होता इसलिए मरण नहीं कहते । भगवान महावीर स्वामी का निर्वाण हुआ तो कोई यह तो नहीं कहता कि दीवालों को महावीर स्वामी मर गए । उनके मरने का नाम कोई नहीं लेता । भले ही आयु का क्षय हो पर अगला जन्म न होने से मरण नाम नहीं और वह मृतक देह भी पड़ा नहीं रहता इसलिए भी मरण नाम नहीं ।

आप्त की भयस्मय दोषरहितता—(7) अरहंत भगवान के ७ वां दोष भय नाम का भी नहीं है । डरे कौन जो निर्बल हो, ऐश्वर्यहीन हो । भगवान तो अनन्त वीर्य के धारी है । अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द है । जिसमें कभी बाधा ही नहीं आ सकती । बाधा किसी पर पदार्थ से किसी की नहीं हुआ करती, मगर मानते है इसलिए बाधा है । बाह्य पदार्थ जहाँ पड़े है पड़े रहने दो, आना हो आये, जाना हो जायें । उनसे कोई वास्ता ही नहीं इस जीव का । यहाँ तक कि यहाँ के संसारी जीवों को शरीर में कुछ हो गया तो उससे कहीं आत्मा को बाधा नहीं आती । पर शरीर मेरा है, मैं शरीर हूँ ऐसा शरीर के साथ जो एकत्व बुद्धि लगी है उसके कारण यहँ बाधा मानता है और दुःखी होता है । प्रभु के बाधा न होना बिल्कुल स्पष्ट है । प्रभु के भय का नाम नहीं । यदि प्रभु के भय होता तो वे बढ़िया से बढ़िया हथियार भी रख सकते थे । जैसे कि अनेक लोगों ने अपने प्रभु को हथियार धारी माना, धनुष लेना, बर्छी रखना, त्रिशूल रखना, फरसा रखना ऐसी

बातें की है । भले ही जो भगवान होते अरहंत होते उन्हीं ने गृहस्थावस्था में शस्त्र धारण किया, वे क्षत्रिय थे, लड़ाई में जाते थे, शस्त्रों का प्रयोग किया था, मगर साधु होने पर शस्त्रों का भी त्याग हो जाता । यदि कोई साधु शास्त्र रखे तो उसके रागद्वेष स्पष्ट है । साधु तो अपने आत्मा की साधना के लिए हुआ है । आत्मसाधना में किसी बाहरी चीज की जरूरत ही नहीं । कमण्डल और पिछी तो संयम के लिए रखते हैं, शुद्धि के लिए रखते हैं और न ही पिछी कमण्डल तो भी मुनिपना मिटा नहीं । वह मुनि कहलायगा, पर गमनागमन नहीं कर सकता । बैठे हैं ध्यान करें, आहार चर्या आदिक न करेंगे, पर मुनिपना नहीं मिटता । यदि कमण्डल पिछी न हों तो वह कहीं मुनिपना नहीं खतम हो जाता, वे सब तो है चर्या, गमन शुद्धि के लिए । इतने काम रुक जायेंगे इसलिए रखते हैं, पर साधु को तो एक अणु मात्र भी कुछ रखने का प्रयोजन नहीं है वह अपने आप में आत्मदृष्टि करके प्रसन्न रहा करता है । वह तो भगवान के स्मरण के लिए उसने सब कुछ त्यागा है । तो जब वहाँ ही शस्त्र नहीं है तो फिर प्रभु होने पर शस्त्रों का लगाव बन ही कैसे सकता है? प्रभु निर्भय हैं इस कारण उनके पास शस्त्र नहीं हैं । और अनन्त शक्तियों के धारी हैं । वहाँ भय का क्या काम? (८) एक दोष है स्मय । स्मय मद करने को कहते है । किसी भी बात पर मद किसे होता ? जिसके ज्ञान न हो । कोई भी घटना, थोड़े ज्ञान आदि की घट गई, अब उस घटना को निरखकर मद किसे होगा? जिसको पहले कुछ भी ज्ञान आदि नहीं है । और अचानक कुछ दिखा तो उसे मद होगा । भगवान को तीन लोक तीन काल का सब कुछ ज्ञान है । अब उसे मद का अवकाश ही कहां रहेगा? प्रभु के मद नहीं होता।

आप्त की रागरहितता—प्रभु के राग नहीं । राग होता है तुच्छ प्राणियों के, अल्पज्ञ प्राणियों के । किसी भी जीव या जीव के प्रति राग करने, प्रीति करने के परिणाम रखना यह तो उसकी अनुदारता का सूचक है । प्रभु के राग नहीं होता । लोग कहते है कि प्रभु भक्तों की सम्हाल करते हैं या भक्तों को मनोवाञ्छित फल देते है । यह सब बात सही नहीं है । तब फिर लोग भक्ति करते ही क्यों हैं । भक्ति करने का कारण यह है कि जो विवेकी जीव है वे तो मुक्ति चाहते है और मुक्ति के मार्ग के लिए चाहिए अविकार स्वभाव ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व की उपासना और प्रभु प्रकट अविकार हैं ज्ञानमात्र और ज्ञान से परिपूर्ण है । तो उनके स्वरूप को निरखकर अपने आत्मा के स्वभाव को दृष्टि दृढ़ करना इस प्रयोजन के लिए विवेकी जन भगवान की भक्ति करते है और जिनके विवेक नहीं और कदाचित् थोड़ी बहुत सांसारिक भावना भी है तो प्रभु की भक्ति करने से अपने आप अपने अनेक भवों के पाप बदल जाते हैं । पुण्यरूप हो जाते हैं । नवीन बंध पुण्य का बंधता है, सो अब पुण्य का उदय आने पर उन्हें इष्ट सामग्री मिलती है । तो चूंकि शुभ भावों के आश्रयभूत भगवान है सो लोग यों कहने लगे कि भगवान ने सब कुछ सुविधा दी । अरे भगवान तो अपने अनन्त ज्ञान अनन्त शक्ति में लवलीन रहते हैं । उनको क्या प्रयोजन है कि बाहर कोई रागद्वेष करे । जो लोग भगवान को ऐसा मानते है कि भगवान सुख देता है, स्वर्ग नरक भेजता है, फैसला करता है वह कर्ता बना हुआ है तो ऐसा मानने वालों को भगवान में भक्ति जगेगी ही नहीं । तो फिर करते हैं सो क्या बात है? वे डर के मारे करते हैं कि भगवान नरक न भेज दे या आस्था की वजह से करते हैं कि भगवान सब कुछ देने वाले है सो भगवान की भक्ति करें तो आशा से या भय से कोई उपासना करे, सेवा करे तो वह भक्ति नहीं कहलाती । भक्ति तो गुणों के अनुराग होने का नाम

है । वहाँ गुणानुराग है नहीं । भय और आशा लगी हुई है । तो भगवान का स्वरूप नहीं है ऐसा कि वह राग किया करे । प्रभु राग नाम के दोष से रहित है ।

आप्त की द्वेषमोहरहितता—(१०) प्रभु में द्वेष का भी दोष नहीं है । वैसे राग और द्वेष दोनों ही एक दर्जे के है । मलिनतायें हैं, कलंक हैं, पर लोगों का ऐसा ख्याल है कि द्वेष तो राग से भी अधिक बुरी चीज है । प्रभु किसी से द्वेष करें, यह सम्भव नहीं । भगवान के द्वेष नामक दोष भी नहीं है । (११) प्रभु के मोह नहीं है । मोह कहलाता है अज्ञानभाव । परपदार्थ के प्रति लगाव का परिणाम । प्रभु तो अनन्त आनन्द का अनुभव करते हैं, वे क्यों किसी वस्तु का लगाव रखेंगे? उनका ज्ञान तो पूर्ण निर्मल है, वे क्यों खोटा ज्ञान बसायेंगे? तो प्रभु के मोह नहीं है । इतने दोषों के नाम इस श्लोक में कहे गए हैं, किन्तु ये सब हैं केवल ११ नाम । ७ नाम और शेष रहे । तो इस श्लोक में च शब्द लिखा है । मायने और और भी हैं, तो शेष दोषों के नाम, इस च शब्द से ग्रहण किए गए है । वे क्या है? सो आगे सुनिये ।

आप्त की चिन्तारतिनिद्राविस्मयषिदस्वेदखेदरहितता—(१२) चिन्ता—किसी भी बात की चिन्ता करना । न भक्त की चिन्ता न किसी की खराबी करने की चिन्ता, चिन्ता नाम की कोई बात ही नहीं है । शुद्ध आत्मा हैं । अनन्त ज्ञान अनन्त आनन्दमय आत्मा है । वहाँ चिन्ता की बात ही नहीं । वे तो ऐसा शुद्ध परिणम रहे हैं कि जैसे धर्मादिक द्रव्य अपने में शुद्ध परिणमते है । वहाँ अशुद्धता की गुंजाइश भी नहीं । तो ऐसे जिनके कोई उपाधि न रही उनकी चिन्ता आदिक जैसे विकारों की गुंजाइश ही नहीं । (१३) तेरहवां दोष है रति, प्रीति करना, किसी बात का इन्ट्रेस्ट (दिलचस्पी) लेना, यह रति नामक दोष अरहंत भगवान के नहीं होता । (१४) चौदहवां दोष है निद्रा । नींद आना । नींद में मनुष्य अचेत हो जाता, नींद तब आती है जब कोई थक जाता सो प्रभु का जो काम है केवल जानना ही जानना वह जो स्वभाव की क्रिया हो रही है, उससे थकते नहीं हैं और कुछ कार्य वे करते नहीं, फिर निद्रा का कारण क्या? निद्रा आने का निमित्तभूत दर्शनावरण कर्म उनके रहा ही नहीं है तो प्रभु के निद्रा नाम का दोष नहीं होता । (15) पंद्रहवां दोष है विषाद । शोक रज ये प्रभु के नहीं होते । धर्मास्तिकाय पदार्थो की तरह वे शुद्ध परिणम रहे हैं उनको विषाद का प्रसंग ही क्या है? (१७) सत्रहवां दोष है पसेव । प्रभु के शरीर में पसीना नहीं आता । स्फटिक मणि की तरह स्वच्छ शरीर होता । (१८) अठारवां दोष है खेद, व्याकुलता । यह भी दोष प्रभु में नहीं होता, प्रभु के चार घातिया कर्मों का विनाश हो गया है । जिसके ये सभी दोष नहीं होते वह आप्त कहलाता है, सभी अरहंतों के ये १८ दोष नहीं होते ।

श्लोक 7

परमेष्ठी परंजयोनिविरांगो विमल: कृती ।

सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्त: सार्व: शास्तोपलाल्यते ।।७।।

अज्ञानी जीव को उद्धार के लिये धर्मोपदेश की प्रारंभिक अनिवार्य आवश्यकता—हम आप सब जीव हैं । जिसमें मैं-मैं का भीतर बोध हो रहा है वह एक चेतन पदार्थ है । किसी भी जड़ पदार्थ में मैं का अनुभव नहीं होता । जिसमें मैं का अनुभव चल रहा वह मैं हूँ, मैं अमुक हूँ आदिक रूप से जिसमें मैं का अनुभव चलता है वह मैं जीव हूँ । यह मैं जीव आज इस हालत में हूँ । कभी मैं किस-किस पर्याय में था उसका परिचय संसार

के अन्य जीवों को देखकर मिल जायगा ये जो कीड़ा-मकोड़ा, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी आदिक दिख रहे, ऐसी ही शकल में मैं था जैसे कि और जीव हैं । उन सब भवों में कितना कष्ट है सो सब देख ही रहे हैं । झोंटा, बैल, गधा, खच्चर आदि लदा करते हैं, बूढ़े भी है तो भी जुट रहे है । चल भी रहे हैं तो भी उन पर लाठी चल रही है । कितना बोझ लादते है, पराधीन हैं । जब खाना पीना दे दिया मालिक ने तब ले लिया नहीं तो बंधे पड़े है । प्रत्येक भव में देख लो बड़े कष्ट हैं । ऐसे ही कष्ट वाले भवों में कभी हम भी थे । आज कुछ सुयोग है । उन बुरी गतियों से हटकर मनुष्यभव में आये है । तब यह बात विचारना कि मनुष्य भव में आकर यदि पशुओं जैसे काम में ही जीवन गुजार दिया तो अब मनुष्यभव का लाभ क्या पाया? पशुवों के काम किया । खाना-पीना, निद्रा लेना, डरना, विषयसेवन करना, इतने काम मनुष्य भी कर रहे तो इन मनुष्यों में और पशुवृत्ति में फिर कोई अन्तर न रहा । मनुष्य की विशेषता है ज्ञानप्रकाश पा लेना, वह धर्म ज्योति पा लेना जिसके पाने से संसार के संकट दूर होते हैं । तो ज्ञान लाभ कहो धर्मलाभ कहो एक ही बात है । मैं अपने आपके सही स्वरूप को जान लूं फिर संसार में संकट न रहेगा । हम अपने स्वरूप को जानते नहीं और इस बाहरी भेष को, इस शरीर को मानते है कि यह मैं हूँ । इसकी वजह से सारे संकट इस जीव को लद जाते है । तो कर्तव्य क्या है कि मैं अपने वास्तविक स्वरूप को जानूं । वास्तविक स्वरूप का शान हो मुझे इसके लिए । सर्वप्रथम देशना की आवश्यकता होती है, देशना अर्थात् धर्मोपदेश । इस जीव का जब भी उद्धार होता है तो उपदेश सुनने के बाद फिर उद्धार होता है । भले ही कोई मनुष्य आज इतना संस्कारवान हो कि किसी का उपदेश न सुहाये और उसे ज्ञान मिल जाय । सम्यक्त्व हो जाय तो भी समझिये कि आज नहीं तो पहले भव में उसने कोई उपदेश पाया था जिसके बल से ज्ञान बना और आज उस संस्कार से स्वयं ही ज्ञान लाभ लिया । तो धर्मोपदेश का बड़ा महत्त्व है ।

धर्मोपदेश का प्रयोजन दुःखनिदान मोह से छुटकारा—इस श्लोक में यह बात बतायी जा रही है कि वास्तव में धर्मोपदेश का अधिकारी कौन पुरुष है? धर्मोपदेश देने के अधिकारी हैं भगवान सर्वज्ञ, जहाँ कुछ भी भूल नहीं है । उससे पहले जो ज्ञानी पुरुष है वे भी धर्म के अधिकारी हैं, उपदेश देने वाले है पर भगवान की वाणी की परम्परा के अनुसार ही उपदेश देने वाले होते है । उपदेश में क्या बात मुख्य आती है? पदार्थ का सही-सही स्वरूप जान लेना । लोग कहते है कि मोह हटावो । मोह ही दुःख की जड़ है, अब बतलावो वह मोह कैसे हटेगा? कोई उपाय तो बतावो जिससे मोह हटे । जीवन भर कहते आये कि मोह हटावो सब बेकार है, मरने पर सब कुछ छूट जायेगा, सार कुछ नहीं है इस समागम में और जितना मोह करते है उतना ही हम कष्ट पाते है इसलिये मोह को दूर करने के विषय में लोग रोज-रोज कई बार कह लेते अब बताओ वह मोह कैसे दूर होगा? घर छोड़ दिया तो मोह दूर हो गया क्या, कुछ पता है क्या? घर छोड़ने पर भी चित्त में घर बसा रहेगा तो मोह छोड़ना न कहलाया, हां घर छोड़ना कहलाया, प्रभु की भक्ति करते है जैसा कि लोग किया करते है, तो उस भक्ति से मोह छूट पाया क्या? उस भक्ति में न जाने क्या-क्या लोगों के ख्याल रहा करते है । कोई सोचता है कि प्रभु हम को धन दिला देंगे या प्रभु की भक्ति के प्रसाद से हम को वैभव मिलेगा । तो बतलावो उसने भक्ति में मोह छोड़ा या बढ़ाया? कोई पुरुष इतना विवेकी हो कि प्रभु भक्ति में केवल यही भाव रखे कि

प्रभु मैं भव-भव में आपका भक्त रहूं... इन भावों से भक्ति कर रहा तो भी उसने क्या मोह छोड़ दिया? नहीं छूट सका । व्रत उपवास आदिक भी करे कोई अब अमुक पर्व आया, व्रत करें, उपवास करें, ऐसा करके भी मोह छूट पाता है क्या? यह बात अपने मन से सोचो, करते तो सब थोड़ा-थोड़ा, पर मोह छूटा क्या? मोह इस उपाय से नहीं छूटता । तो मोह छूटने का उपाय क्या है? तत्त्वज्ञान, मोह होता है, बाहरी चीजों से, इन दिखने वाले बाहरी पदार्थों से, तो इनसे मोह छोड़ना है, कैसे मोह छूटेगा कि इनका सही ज्ञान करले तो स्वयं मोह छूट जावेगा । जब तक हम पुत्र के बारे में उल्टा ज्ञान रखते है तब तक मोह बढ़ता है और उसका सही ज्ञान कर लें तो मोह छूट जाता है ।

माया का माया के रूप में परिचय होने की सम्यग्ज्ञानरूपता—वह सही ज्ञान क्या है जिससे मोह छूटता है? वह सही ज्ञान है हम पहले यह जानें कि वास्तव में जो कुछ दिखता है वह सचमुच में पदार्थ है या यह झूठ है और असल में क्या है? तो सुनो—जो भी दिख रहा है वह कोई परमार्थ पदार्थ नहीं है । वह सब माया रूप है । यहाँ सत्य कुछ नहीं दिख रहा । जो दिख रहा है वह कुछ भी सत्य नहीं है । वह माया स्वरूप है । वास्तविक पदार्थ नहीं है, तो वास्तविक पदार्थ क्या है, और माया रूप का है इन दीनों का अन्तर जानें । माया का क्या अर्थ है कि अनेक पदार्थ जुड़कर जो बने उसे माया कहते है । यह माया का लक्षण है, और इस कुञ्जी से ऐसा सब जगह समझते जावो । जो अनेक पदार्थ मिलकर बना हुआ हो वह माया है और जो अकेला ही एक पदार्थ हो, जिसमें दूसरा पदार्थ न जुड़ा हो वह पदार्थ है । वास्तविक है, सही है । ये से बातें खूब ध्यान में रखियेगा । अब घटावो-आपको क्या दिखता है? यह भींट दिख रही है । तो बताओ यह भींट एक चीज है या अनेक चीजें मिलकर बना हुआ रूप है । यह एक चीज नहीं है, यह अनेक चीजों का मिलकर बना हुआ रूप है । यह कितने पदार्थो से मिलकर बना है? ये भींट, चटाई, दरी आदिक जो कुछ भी दिख रहे ये अनंत परमाणुवों से मिलकर बने हैं । यह भी ध्यान रखें कि ये हजार ईटें मिलकर भींट बनी अरे ईट भी खुद-खुद नहीं है । ईंट भी खुद अनन्त परमाणुवों का पिण्ड है । जो दिख रहा उसके टुकड़े बनाते जाइये, आखिरी टुकड़ा जब आप से बन जाये उसमें भी अनगिनते टुकड़े होंगे उन्हें आप न कर पायेंगे, वे स्वयं होंगे । ऐसे टुकड़े बनाते जायें जो अन्त में एक अविभागी अंश बनेगा वह है एक पदार्थ । उसे कहते हैं परमाणु । तो जितना जो कुछ दिख रहा है यह सब माया रूप है और इसमें परमार्थरूप चीज क्या है? एक परमाणु, ऐसा परमाणु कि जिसका कोई दूसरा हिस्सा न हो सके वह परमार्थ है । बताओ-कोई परमार्थ से प्रीति करता है क्या? सब माया से प्रेम करते हैं, परमार्थ से प्रेम करने वाले कोई नहीं हैं । जो केवलज्ञानी सिद्ध प्रभु होंगे वे परमार्थ की दृष्टि रखते । और ये संसारी जीव इस माया में दृष्टि रखते हैं ।

प्राणियों की मायारूपता व परमार्थ के परिचय का महत्त्व—अच्छा बताओ जो जहाँ बैठे हुए हैं मनुष्य या जानवर वगैरह जो कुछ दुनिया में हैं, ये वास्तविक है या माया रूप है? ये सब माया है । तो हम आप जितने बैठे है ये सब भी माया है । इसमें वास्तविक कोई नहीं है क्योंकि माया का लक्षण बताया है कि जो अनेक पदार्थ मिलकर बना हो उसको माया कहते हैं । आप बैठे, हम बैठे, ये अनेक पदार्थ मिलकर बने हैं । कितने

पदार्थ मिल गये हैं? एक तो जीव है और अनन्त शरीर के परमाणु हैं और अनन्त ही कर्म के परमाणु हैं, इन सबका मिलकर यह रूप बना है जो हम आम बैठे दिख रहे है । तो यह सब भी माया है । माया से प्रीति करने में हित नहीं है, क्योंकि यह विनश्वर है, जबरदस्ती अपना माना जाता है । क्योंकि किसी का साथी नहीं है, पर जबरदस्ती मानते हैं तो परमार्थ पर दृष्टि दें—केवल एक-एक परमाणु, एक-एक जीव ये सब स्वतन्त्र है । एक का दूसरा कुछ नहीं लगता । सबका अपना-अपना अस्तित्व है, सब अपने-अपने स्वरूप में परिणमते हैं । कोई किसी का करने वाला नहीं । भोगने वाला नहीं । सब अपने-अपने परिणाम को करते हैं, अपने-अपने भावों को भोगते हैं । किसी का कोई स्वामी नहीं । परमार्थ दृष्टि करके जब ऐसी स्वतन्त्रता का ज्ञान होगा तो मोह टूटेगा और इस स्वतन्त्रता का ज्ञान किए बिना मोह टूट नहीं सकता अन्य चाहे कितने ही उपाय, करले । यह तत्त्वज्ञान प्रभु से प्राप्त हुआ है ।

तत्त्वज्ञान के विरुद्ध चलने में संकटों का भार—तत्त्वज्ञान के विरुद्ध जो चल रहे वे सब जन्म लेते, मरण करते, जन्म और मरण के बीच जितनी आयु मिली है उसमें अनेक संकट सहते है । जीना । जिन्दगी में बड़े-बड़े कष्ट सहना । मरना, फिर दूसरा जीवन पाना, जिन्दगी में अनेक संकट सहना, मरना, बस इसी धारा में चलते आ रहे हैं सब जीव । अपनी भी बात विचारो । क्या यही करते रहना मंजूर है? अगर जन्म मरण जिन्दगी के संकट ये ही मंजूर हैं तो उसका उपाय तो यही है जो करते आ रहे । मोह करते जाये, संकट मिलते जायेंगे । और यदि यह संकट न चाहिए तो मोह को दूर करना है, यह उपाय करना होगा । सब अपनी-अपनी बात विचारो, धर्म मिलजुल कर नहीं होता । धर्म अकेले को मिलेगा, अकेले से होता है, कोई दो आदमी मिलकर धर्म नहीं करते । सबका धर्म अपने-अपने आत्मा में है, अपने-अपने भाव में है । अपने भाव सुधारिये, ज्ञान प्रकाश लीजिए और आनन्द प्राप्त करिये, जो ऐसा नहीं करता वे जीव चार प्रकार की विपत्तियों से घिरे हुए हैं । यहाँ भीतरी विपदा बतला रहे हैं कि वे चार पद क्या हैं? कोई माने या न माने, हैं वह विपदा । पहली विपदा है अहंकार । शरीर मैं नहीं, शरीर तो अशुचि पदार्थ का पिण्ड है मगर इसे निरखकर मानना कि मैं, बस अहंकार बन गया, मूढ़ता है । जहाँ यह मोह है, जहाँ यह मूर्खता लगी है कि मैं हूँ तो एक ज्ञानानन्द स्वभाव वाला आत्मा और मान रहा हूँ इस अशुचि पिण्ड देह को कि यह मैं हूँ, वे मूढ़ हैं और संसार में भटकने वाले हैं । जगह-जगह उसको विपदा है, जो भी यह कार्य करेगा उस ही में आकुलता बढ़ेगी, क्योंकि इसका आधार उल्टा है । शरीर को मानता है कि यह मैं हूँ । 'देह जीव को एक गिने बहिरातमतत्त्वमुधा है ।' सबसे पहले यह गलती दूर करना है । इस गलती को दूर किये बिना धर्म रंच भी न होगा, हां पुण्य हो जायेगा । पुण्य तो एक किसी जीव पर दया करने से भी हो जाता है । भगवान की भक्ति, गान, तान, नृत्य उद्यम आदिक करने से भी पुण्य हो सकता है, पर धर्म का मार्ग न मिलेगा । जब तक मिथ्यात्व दूर न हो तब तक धर्म का रास्ता नहीं है ।

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को सर्वत्र मिलने वाली आपदावों में प्रथम आपदा अहंकार—मिथ्यात्व है देह को आपा मानना । यह ही मूढ़ता कहो, मूर्खता कहो । किसी भी शब्द से कहो, यह जीव इन विपत्तियों से घिरा हुआ है । जो इसका सही स्वरूप है वह उसके परिचय में नहीं आ रहा, तब ऐसे मोह वाले को जगह-जगह आपत्ति है

। एक छोटा कथानक है कि कोई दो स्त्री पुरुष थे, तो पुरुष का नाम तो था बेवकूफ और स्त्री का नाम था फजीहत । उन दोनों में अकसर करके लड़ाई हो जाया करती थी । एक दिन जरा तेज लड़ाई हो गई सो फजीहत घर छोड़कर भाग गई । तो वह बेवकूफ गाँव के लोगों से पूछता फिरे पड़ोस में कि भाई तुमने हमारी फजीहत देखी? तो सब जानते ही थे कि फजीहत इसकी स्त्री का नाम है, सो सबने कहा भाई हमने तो नहीं देखा । एक बाद किसी अपरिचित व्यक्ति से, मुसाफिर से पूछ बैठा—भाई तुमने हमारी फजीहत देखी? तो वह मुसाफिर उसकी कुछ बात ही न समझ सका उसे क्या पता कि फजीहत उसकी कौन थी? सो पूछ बैठा—भाई आपका नाम क्या है? तो वह बोला—मेरा नाम है बेवकूफ ।... अरे भाई बेवकूफ होकर तुम फजीहत कहां ढूंढ़ते फिरते? बेवकूफ के लिए जगह-जगह फजीहत है । जहाँ ही खोटा बोल दिया बस वहीं से लात, जूते, थप्पड़ हाजिर है । तो जैसे बेवकूफ के लिए जगह-जगह फजीहत हैं ऐसे ही इस माया के रुचिया को, इस देह को आपा मानने वाले को प्रतिक्षण संकट ही संकट है । वह शान्ति का पात्र नहीं । इसमें समय बहुत गुजर गया जिन्दगी का । अब जो कुछ थोड़ा समय है उसमें ऐसा विवेक लायें । ऐसा प्रकाश लायें कि मैं अपने वास्तविक स्वरूप को पहिचान जाऊं । देखिये जब तक चारों चीजें मिली हुई होती हैं और मिलकर उसका रूप बिगड़ भी जाय तो भी जितनी चीजें मिली हुई है अहंकार में उनका वही स्वरूप है । किसी का स्वरूप मिटता नहीं है । तो यहाँ अनन्त तो शरीर के परमाणु और अनन्त कर्म के परमाणु और एक ही जीव में सबका मिलावट है । इस मिलावट के अन्दर भी यदि हम केवल अपने जीव के स्वरूप को पहिचान लें तो इसी के मायने है ज्ञान प्रकाश । उसको फिर संकट नहीं और जो उस सहज आत्मस्वरूप में दृष्टि नहीं कर पाता उसको संसार के संकट नहीं दूर हो सकते । तो पहली विपत्ति है अहंकार । खुद-खुद में सोचिये-करने की बात है और आपके आत्मा की ही बात है । कोई दूसरी बात नहीं कही जा रही।

अज्ञानी जीव पर दूसरी व तीसरी विपत्ति ममकार व कर्तृत्वबुद्धि—दूसरी विपत्ति है ममकार । मायने जो मेरा नहीं है उसे मानना कि यह मेरा है, यह भी बहुत बड़ी भारी विपत्ति है । बोलो घर सम्पदा आपकी है क्या? यहीं देख लो—यदि घर सम्पदा आपकी होती तो आपके साथ यहाँ (प्रवचन सभा में) भी आती, पर यहाँ तो कुछ साथ नहीं आया, आप तो अकेले बैठे हैं । और जो आपका है वह आपका एक क्षण भी साथ नहीं छोड़ सकता । आप से अलग है, छूटा हुआ है वह आपका कुछ नहीं है । एक उदय है पुण्य का कि कुछ वैभव पास मिल गया है तो उनको मान रहे कि यह मेरा, यह मेरा पर वास्तव में मेरा कुछ नहीं है । मेरा तो केवल मेरे आत्मा का स्वरूप है । देह भी मेरा नहीं, बाहरी चीज भी मेरी नहीं । केवल मेरा वह स्वरूप है जो इस भव को छोड़कर जाऊंगा तो पूरी का पूरा मेरे साथ जायेगा । वह तो मेरे परिणाम की चीज है, बाकी कुछ भी मेरा नहीं, बाहरी परिकर कुछ भी मेरा नहीं । कोई माने कि यह मेरा है तो यह कहलाता है ममकार । इसके कारण भी जगत के जीव दुःखी हैं । इसे हटावो ।

तीसरी विपत्ति लगी है जीव को कर्तृत्वबुद्धि की । मैं ही करता हूँ, इन बच्चों को मैं ही पालता हूँ, इनकी मैं खबर न रखूं तो ये जिन्दा नहीं रह सकते । कितनी ही तरह के भीतर के भाव बनें । अरे जिनका आप इतना ख्याल रखते हैं, इतनी चिन्ता करते है उनका पुण्य आप से अधिक है जिसके कारण आपको उनकी चिन्ता

करनी पड़ती है । बात तो असल में यह है पर मानता है अज्ञान में जीव ऐसा कि मैं इनको पालता हूँ, इनको पढ़ाता हूँ, इनको सुखी दुःखी करता हूँ... तो उसकी यह कर्तृत्व बुद्धि है, उसके कारण यह जीव निरन्तर दुःखी रहता है । इसको वह रास्ता नहीं मिल रहा कि जिस वजह से यह केवल अपने को अकेला अनुभव कर सकें । वस्तुतः कोई किसी का करनहार है नहीं ।

अज्ञानी जीव पर आने वाली तीसरी विपत्ति कर्तृत्वबुद्धि पर एक उदाहरण—एक कोई मांगने वाला जोगी था, सो वह भीख मांग रहा था । उसे भीख मांगते हुए में एक जगह मिला एक संन्यासी । उस संन्यासी ने पूछा—भाई क्या कर रहे हो?... महाराज जी हम भीख माँग रहें हैं ।... भीख मांगकर क्या करोगे? घर ले जायेंगे, बच्चों को खिला पिलाकर उनका पालन पोषण करेंगे ।... तो क्या आप बच्चों को पालते-पोषते हैं?... हां-हां हम नहीं तो और कौन पालता पोषता?... अरे यह तुम्हारा ख्याल गलत है । वे बच्चे सब स्वयं अपने भाग्य से पल पुष रहे, उनका तुम कुछ नहीं करते ।... कैसे कुछ नहीं करते? हमीं तो बच्चों को जिन्दा रखते ।... अरे तुम व्यर्थ किसी के कर्ता बने । चलो हमारे साथ कुछ दिन के लिए छोड़ दो सब व्यर्थ के ख्याल । सो वह था कुछ धार्मिक प्रकृति का सो चल दिया उस संन्यासी के साथ । अब प्रतिदिन तो वह दोपहर तक घर पहुंचता था भीख मांगकर तब कहीं खाने पीने का सेजा बनता था उस दिन न पहुंचा तो उसके बच्चे लोग बड़े चिन्तित हुए । इसी बीच किसी मसखरे ने ऐसा भी कह दिया कि उसको तो आज बाघ उठा ले गया, खा डाला, वह तो मर गया । उसके सब बाल-बच्चों ने बड़ा रोना धोना मचाना शुरु कर दिया । पास पड़ोस के लोग जुड़े । सबने उस जोगी के मरने की घटना जानकर भारी खेद माना । लोगों ने विचार किया कि अब इसके घर कमाने वाला भी कोई नहीं रहा, घर में खाने-पीने तक का सेजा नहीं हैं, अपना कोई पड़ोसी संकट में रहे यह कैसे किसी से देखा देख जायगा, सो सभी लोग उस जोगी के बाल बच्चों के मददगार बने । गल्ले की दुकान वालों ने गल्ला दे दिया, कपड़ा वालों ने कपड़ा दे दिया, घी वालों ने घी दे दिया, शक्कर वालों ने शक्कर दे दिया, अब क्या था, उसके घर का सारा रंग ढंग ही बदल गया । सब बड़े मौज में रहने लगे । उधर वह जोगी संन्यासी के पास जंगल में विचार करता है कि मुझे घर से निकले काफी दिन बीत गए, पता नहीं घर में कौन मरा होगा, कौन जीवित बचा होगा । सो वह संन्यासी से बोला—महाराजजी, हम को घर से निकले कई दिन हो गए । आज्ञा दीजिए मुझे घर जाने की । जाकर देखूंगा कि घर में कौन मरा, कौन बचा । सो संन्यासी बोला—ठीक है जावो घर पर एक काम करना कि यों ही सीधे घर में न घुस जाना, छिपकर पीछे से मकान की छत पर से देखना ।... ठीक है महाराज, ऐसा ही करुंगा । सो जब वह जोगी पहुंचा अपने मकान के पास और पीछे से छिपकर, छत पर पहुंचा तो ऊपर से क्या देखा कि घर के अन्दर सब बच्चे लोग हंस खेल रहे थे, अच्छे-अच्छे नये कपड़े पहने हुए थे, पूड़ी कचौड़ी पक रही थी, यह सब दृश्य देखकर वह जोगी दंग रह गया और मारे खुशी के घर की आंगन में उछलकर कूद गया और बच्चों को गले से लगाने लगा । उधर बच्चे लोगों को तो पूरा विश्वास हो चुका था कि वह तो मर गया सो यह सोचकर कि यह तो उसी की शकल में भूत आ गया, उसे मारना, भगाना, लूगर आदि से जलाना शुरु किया । बड़ी मुश्किल से प्राण बचाकर वह जोगी घर से बाहर भगा । जंगल पहुंचा संन्यासी के पास और अपना सारा हाल कह सुनाया तो वहाँ संन्यासी

बोला—देखो मैं कहता था कि तुम किसी को पालते पोषते नहीं, सब अपने भाग्य से पलते पुसते हैं, तुम व्यर्थ ही करने का अहंकार करते थे । अरे जब वे खुद मजे में हैं तो तुम्हें पूछेंगे क्यों? तो किसी का यह कहना गलत है कि मैं किसी का कुछ करने वाला हूँ ।

अज्ञानी जीव पर चौथी विपत्ति भोक्तृत्वबुद्धि व सर्वविपदावों से छुटकारा का उपाय बताने में सच्ची धर्मप्रभावना—चौथी विपदा जीव में यह लगी है कि वह मानता है कि मैं पर का भोगने वाला हूँ, धन भोगता हूँ, भोजन भोगता हूँ, अमुक चीज भोगता हूँ । लगता है ऐसा कि मैं आम खा रहा हूँ तो आम को भोग रहा पर वास्तविकता यह है कि आम के बारे में जो हमने ज्ञान किया, कल्पनायें किया कि बड़ा अच्छा है, बड़ा मीठा है,... इन कल्पनाओं को भोग रहे, कहीं जड़ पदार्थों को यह आत्मा भोग नहीं सकता, क्योंकि आकाश की तरह अमूर्त आत्मा में किसी चीज का सम्बंध ही नहीं बन सकता । तो ये जो चार कल्पनायें हैं उनसे यह जीव परेशान है । यह ही परेशानी सबको लगी है । तो इस परेशानी के मेटने का उपाय है तत्त्वज्ञान । सही-सही ज्ञान करना । अब तक लोग धर्म के नाम पर अनेक काम तो करते रहते हैं अनेक विधिविधान समारोह, मगर तत्त्वज्ञान मिले और वास्तविक ज्ञान जगे, इसकी ओर दृष्टि नहीं है । और वास्तव में पूछो तो धर्म के लिए कोई कितनी भी बाहर में प्रभावना करे, समारोह बनाये, अनेक बातें करें पर धर्मप्रभावना उसका नाम नहीं किन्तु लोगों में यह ज्ञान बने कि वास्तविकता यह है तो उसे कहते है प्रभावना । ज्ञान की प्रभावना को प्रभावना कहते है, धन की प्रभावना को प्रभावना नहीं कहते । बड़े अच्छे समारोह बन गए यह कोई सच्ची प्रभावना नहीं । सच्ची प्रभावना है यह कि अपना जो आत्मस्वरूप है वह ज्ञान में आये, क्योंकि उससे लोग अपने आत्मा का उद्धार कर लेंगे । सो ज्ञानप्रभावना ही अपनी प्रभावना है । ज्ञान प्रभावना ही धर्मप्रभावना है यह ज्ञान जगे, ऐसा उपाय बनायें तो जीवन सफल हो जायेगा अन्यथा जो चलता आया वैसा चलता रहेगा उसमें अपने को कुछ लाभ नहीं है ।

देशनालब्धि का महत्त्व—संसार में जिस भी प्राणी का उद्धार हुआ है उसका उद्धार उपदेश सुनने के बाद ही हुआ है । यह नियम है । इसे कहते है देशनालब्धि । सम्यक्त्व की ५ लब्धियाँ होती हैं उनमें तीसरी लब्धि है देशना अर्थात् उपदेश मिलना जिसे सुनकर इसके भाव बढ़ें और सम्यक्त्व उत्पन्न हो । तो धर्मोपदेश अनिवार्य आवश्यक है । उसके बारे में बतला रहे हैं कि मूल धर्मोपदेश देने वाला कैसा होता है । जो अब उपदेश चल रहा है—आचार्यों ने किया मुनियों ने ब्रह्मचारियों ने किया, यह तो आपकी बात है पर किस उपदेश से लेकर यह उपदेश किया जाता है वह मूल उपदेश उसका देने वाला कौन है, यह बात बतलाते हैं । संक्षिप्त उत्तर तो यह है कि जो तीर्थकर हैं या विशिष्ट अरहंतदेव हैं, जिनकी दिव्यध्वनि खिरती है उनकी दिव्यध्वनि से उपदेश की परम्परा चली है इसीलिए मूलवक्ता तीर्थकर महाराज को बताया जाता है ।

तत्त्व के मूल उपदेष्टा का परमेष्ठित्व—जो भी मूल उपदेश देने वाले हैं वे परमेष्ठी हैं । परमपद में स्थित है । सबसे उत्कृष्ट पद कौनसा है? सबसे उत्कृष्ट पद इस लोक में जिनेन्द्रदेव का है । जिनेन्द्रदेव मनुष्य ही है । जब तक सिद्ध भगवान नहीं बनते तब तक वे मनुष्य कहलाते हैं । अरहंत भगवान मनुष्यगति में हैं मगर पुरुषोत्तम है । याने उन जैसा मनुष्य कोई होता नहीं है । इस लोक में सर्वोत्कृष्ट पद है जिनेन्द्रदेव का, अरहंतदेव का

वे उस उत्कृष्ट पद में स्थित है । उससे नीचे के पद हैं, आचार्य, उपाध्याय, मुनि के, उनका उपदेश अगर स्वयं कल्पना से किया हुआ हो तो प्रामाणिक नहीं है । जिनेन्द्रदेव के उपदेश में से उपदेश किया जाय तो वह प्रामाणिक है कोई अपने मन से कुछ भी उपदेश करे तो वह प्रमाणभूत नहीं है । तो मूल उपदेष्टा कौन है? अरहंत भगवान । कैसे वे उत्कृष्ट पद में है? उत्कृष्ट पद कौन कहलाता? जहाँ ज्ञान तो पूरा प्रकट हो और दोष एक न रहे वही उत्कष्ट कहलाता है । किसी जीव में दोष तो रहा नहीं, पर ज्ञान पूरा नहीं आया तो भी वह उत्कृष्ट नहीं है, और ऐसा हो ही नहीं सकता कि ज्ञान पूरा आ जाय और निर्दोष न हो । जैसे मुनिराज तपस्या के बल से क्षुधा तृषा आदिक १८ दोषों से रहित हो जाते हैं, वे अरहंत बनते है । तो जो सर्वज्ञ है वह निर्दोष तो जरूर है, पर जो निर्दोष आत्मा हो गया वह अभी सर्वज्ञ हो पाया हो न हो पाया हो वहाँ दोनों बातें सम्भव हैं । जैसे गुणस्थान १४ होते हैं, उन १४ गुणस्थानों में शुरु के तीन गुणस्थान तो अज्ञानी जीव के कहे जाते है चौथा गुणस्थान सम्यग्दृष्टि ज्ञानी का होता है । ५ वाँ गुणस्थान श्रावक का होता है । छठा गुणस्थान मुनि का होता है जो आहार विहार भी करता है, पर ध्यान में लीन हो जाय तो ७ वां गुणस्थान, इसके बाद इस पंचमकाल में गुणस्थान नहीं बढ़ पाते । हां पहले हुआ करते थे तो ७ गुणस्थानों से ऊपर दो श्रेणियाँ होती हैं । अगर कोई मुनि कर्म को दबाकर चढ़े तो उपशम श्रेणी में चढ़ता है, कोई मुनि कर्मो को हटाकर चढ़े तो वह क्षपक श्रेणी में चढ़ता है । उपशम श्रेणी में चढ़ने वाला मुनि ११ वें गुणस्थान से नीचे के गुणस्थानों में गिर जायगा और क्षपक श्रेणी वाला मुनि ११ वें गुणस्थान से चढ़कर १२वें १३वें गुणस्थानों में चढ़ता है । इन गुणस्थानों में रागद्वेष नहीं रहता, निर्दोष हो गया वह जीव मगर सर्वज्ञ नहीं कहलाता । १३ वें गुणस्थान में सर्वज्ञ होता है । जिनकी मूर्ति बनाकर पूजते वे १३ वें गुणस्थानवर्ती अरहंत देव हैं । जो तीर्थंकरदेव, अरहंतदेव १३ वें गुणस्थान वाले भगवान, उनका उपदेश प्रथम होता है । उनकी दिव्यध्वनि को गणधरदेव झेलते हैं और फिर आचार्यदेव उसका प्रचार करते हैं ।

तत्त्वज्ञान के मूल उपदेष्टा परमेष्ठी आज अरहंतदेव की परंज्योतिस्वरूपता—मोक्षमार्ग के इस उपदेश के मूल कर्त्ता करने वाले हैं अरहंत भगवान । उनका आत्मा कैसा है? परमज्योति स्वरूप है । आत्मा का स्वरूप क्या है? केवल ज्योति । अब भी हम आपका जो आत्मा है सो जो ज्ञानज्योति है वह तो आत्मा है और इस ज्ञानज्योतिमात्र रागद्वेषादिक विकारों की छाया पड़ती है । कर्म की छाया वह मैं नहीं हूँ । विकार है, मैं विकाररूप नहीं । मैं तो ज्ञानमात्र हूँ । तो यह आत्मा ज्ञानज्योतिस्वरूप है । कहते हैं ना कि अपने आत्मा का अनुभव करो, सम्यक्त्व हो जायेगा । संसार से तिर जायेंगे, तो आत्मा का अनुभव कैसे करेंगे आप? आत्मा के बारे में बहुतसा कथन है । यह आत्मा देह के बराबर है । यह आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड है । अनेक प्रकार से आत्मा का वर्णन होता है पर जब अनुभव होगा तो आत्मा की लम्बाई चौड़ाई के ज्ञान से न होगा, किन्तु अपने को कोई ऐसा, माने मनन करे कि मैं ज्ञानमात्र हूँ । ज्ञानज्योतिमात्र हूँ, जो ज्ञान का स्वरूप है वही ज्ञान में रहे । ऐसे ज्ञान को बनाये फिर आत्मा का अनुभव होता है । तो वह क्या चीज है? परमज्योति । तो अरहंत भगवान जिनेन्द्रदेव वह परमज्योति स्वरूप है । उनके ज्ञान पर से आवरण हट गया है । ८ कर्मो में ज्ञानावरण कर्म आ गया सो घातियाकर्म दूर हुए वहाँ ज्ञानावरण भी दूर होता है । अब ज्ञान का कोई आवरण न रहा, पर्दा न रहा

तो ज्ञान पूरा प्रकट हुआ, वही परमज्योति हैं । किसकी बात कही जा रही है कि जितने शास्त्र बने हैं, जितने आगम हैं उनका मूल कर्त्ता कौन है, यह प्रवाह कहा से चला? जो आज तक शास्त्रों में मिलता है । वह प्रवाह चला है तीर्थंकर देव से, अरहंत देव से । उनकी तारीफ की जा रही है कि वे परमेष्ठी है परम ज्योतिरूप हैं ।

आगम के मूल स्त्रोत आप्तदेव की वीतरागता—परमेष्ठी पंरज्योतिर्मय मूल उपदेष्टा आप्त भगवान वीतराग हैं । वहाँ राग नहीं रहा । देखो राग करना आत्मा का स्वभाव नहीं है । राग ज्ञानी के भी होता, अज्ञानी के भी होता है । अज्ञानी तो उसे आवश्यक समझता, अपना स्वरूप समझता, पर ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव जानकर घर में रहना पड़े तो परिस्थिति के कारण राग करना पड़ता है । उसका राग करने का भाव नहीं है । जैसे कोई रईस बीमार हो गया बड़ा तेज बुखार आ रहा तो उसका साधन बनाया जाता, अच्छे पलंग पर सोना, डाक्टरों का आना जाना दवाई देना, कई-कई नौकर सेवा में हाजिर रहना, मिलने बाले अनेक लोगों द्वारा बड़ी पूछताछ, दवा समय पर देना यों, बड़ी-बड़ी व्यवस्थायें की जाती पर बताओ उन सब साधनों में उस रईस को मोह है क्या? नहीं है मोह । मोह तो तब कहलाये जबकि वह रईस यह चाहे कि मुझे ये साधन जिन्दगीभर मिलें । अरे वह चाहता कि मुझे कब दवाई पीना छूटे । कब यह रोग मिटे, कब ये सब बातें खतम हों और मैं प्रतिदिन मील दो मील टहलने जाऊं । देखो चाहता तो यह है मगर परिस्थिति ऐसी है कि उसे औषधि पीनी पड़ती है । अगर औषधि समय पर न मिले तो वह झुंझला भी जाता है इतना प्रेम है उसे दवा से पर उस दवा से उसे मोह नहीं है । मोह न होकर भी दवा से राग कर रहा । तो ऐसे ही ज्ञानी जीव जिसे सम्यग्दर्शन हो गया वह राग को जरा भी नही चाहता मगर घर में रहना पड़ रहा तो राग किए बिना घर में नहीं रह सकता इसलिए प्रीति करता है । मुनिराज को भी प्रमत्त अवस्था में छठे गुणस्थान में किसी परिस्थिति में राग करना पड़ता है । पर बुद्धिपूर्वक वह राग नहीं है । इससे ऊपर जिनेन्द्रदेव के तो राग का अंश भी नहीं है । जिसके रागद्वेष न हो और पूरा ज्ञान हो ऐसे गुणागम के मूल वक्ता तीर्थंकर देव के वचन प्रामाणिक है ।

तत्त्वज्ञान के मूल उपदेष्टा आप्त जिनेन्द्रदेव की विमलता—प्रभु जिनेन्द्र आप्त परमेष्ठी है परंज्योति हैं, वीतराग हैं, वह विमल हैं, याने कि निर्मल हैं, किसी भी प्रकार का दोष उनके नहीं रहा, क्षुधा, तृषा, जन्ममरण, रति, अरति, शोक आदि किसी प्रकार के दोष उनके नहीं रहे । देखो जिनेन्द्रदेव के दोष उनके नहीं रहे । देखो जिनेन्द्र देव के दर्शन करने आते हैं तो वहाँ क्या भाव रखना चाहिए कि हे प्रभो तुम्हारी स्थिति सर्वोत्कृष्ट है । मैं पामर आज संसार में जन्म मरण कर भटक रहा हूँ, आप इस भटकन से अलग हो गए, पर हे प्रभो आत्मा जैसा आपका है वैसा ही हमारा है । जाति एक है, पर फर्क यह हो गया किं मैं राग करता हूँ और संसार में रुलता हूँ । आपके राग नहीं हैं और आप उत्कृष्ट पद में आनन्दमग्न हो । हे प्रभो मेरी स्थिति बने, मैं और कुछ नहीं चाहता । जो लोग प्रभु के दर्शन करते हुए कुछ चाहते हैं—मुझे धन मिले, मेरी मुकदमें में जीत हो, मेरे को संतान की प्राप्ति हो... तो वह उनकी भूल है । कैसे भूल है कि प्रथम तो जिनेन्द्रदेव की भक्ति में आये तो ऐसा ध्यान रखना चाहिए कि जगत में सर्वोत्कृष्ट पद हैं तो यह पद है जिसके हम दर्शन कर रहे हैं, सो मुझे यह पद मिले, मैं और कुछ नहीं चाहता । यह भाव रहना चाहिए । क्योंकि जगत के ये सब समागम मुझ से अत्यन्त भिन्न है । यह जीव मोहवश अपना मानता है, कल्पनायें करता है मगर इसका कुछ नहीं है । तो चाहें

तो भगवान जिनेन्द्रदेव जैसा पद चाहें कि मेरे को ऐसी स्थिति मिले कि जहाँ दोष रंच न हो और ज्ञान पूरा प्रकट हो । दूसरी बात यह है कि जिनेन्द्रदेव से कुछ भी चीज मांगे कोई, तो जिनेन्द्रदेव देते नहीं, वे तो वीतराग हैं, ज्ञानानन्द में मग्न हैं, वे कुछ नहीं देते इसलिए उनसे कुछ मांगना व्यर्थ है । जब वे कुछ दे नहीं सकते तो मांगना व्यर्थ है—पहली बात दूसरी बात यह है कि जो कुछ मिलता है सो पुण्योदय से मिलता है और पुण्यबंध भक्ति करने से होता है । अगर पहले ही हम कोई चाह रखकर भगवान की भक्ति करें तो पुण्य भी नहीं बंधता मगर विषयों की चाह रखकर धन सम्पत्ति की चाह रखकर भगवान की भक्ति करें तो वह सच बात नहीं है और न वहाँ पुण्य का बंध है । जिसको ऐसा ज्ञानप्रकाश नहीं मिला कि मेरे को जगत में कुछ भी न चाहिए जो भी स्थिति मिली है मैं उसी में गुजारा करुंगा । पर मेरे को आत्मा का ज्ञान रहे, परमात्मा का ध्यान रहे, बाकी तो जो भी स्थिति हो उसी में गुजारा करेंगे यह मनुष्य, आज मनुष्यभव में है मगर कभी कुत्ता, गधा, सूअर आदिक भी तो था । वहाँ कितने-कितने कष्ट सहे । आज कितनी भली स्थिति में हैं । ऐसी स्थिति को पाकर अच्छे कर्म करें । अच्छे भाव रखें जिससे संसार का बंधन छूटे और मुक्ति प्राप्त हो । यही अपना भाव रखें क्योंकि थोड़े दिनों का यह जीवन है । मरना नियम से होगा । यहाँ का सब ठाठ यहीं पड़ा रह जायगा यहाँ का कुछ भी साथ नहीं देता क्योंकि वह मेरा कुछ है ही नहीं । मेरा क्या है? ज्ञान, दर्शन, आनन्द, यह मेरा स्वरूप है, सो मरने पर यह साथ जाता हे । यही तो आत्मतत्त्व है और जो मेरा नहीं है वह कभी मेरे साथ जा ही नहीं सकता । शरीर मेरा नहीं, धन मेरा नहीं, ये कुछ भी नहीं जा सकते । तो अपने को ऐसा प्रकाश लेना चाहिए कि हे प्रभो मैं ज्ञानमात्र हूँ । ज्ञान सिवाय मेरा कोई स्वरूप नहीं है । इस ज्ञानमात्र मुझ का दुनिया में कुछ भी पदार्थ नहीं । मुझे कुछ न चाहिए । मुझे ऐसा स्वरूप दर्शन चाहिए कि अपने आत्मा के स्वरूप को लखता रहूं । केवल वही चाहिए ।

आगम के मूल स्रोत आप्त जिनेन्द्रदेव की कृतकृत्यता, सर्वज्ञता, अनादिमध्यान्तता व सर्वहितकारिता—आगम का मूल उपदेष्टा कैसा होता है?... कृतकृत्य, याने जिसको दुनिया में कुछ करने लायक नहीं रहा, उसी का ज्ञान स्थिर होगा, उसी का उपदेश प्रामाणिक होगा । जो कृतकृत्य नहीं है जिसके चित्त में अनेक काम करने को पड़े हैं उसके चित्त में व्यग्रता रहेगी । वह मूल उपदेष्टा नहीं हो सकता । तो प्रभु अरहंतदेव कृतकृत्य हैं । उनका ही उपदेश प्रामाणिक है । प्रभु सर्वज्ञ हैं । तीन लोक तीन काल के सर्व पदार्थों के जाननहार हैं, तब ही उनकी दिव्यध्वनि पूर्ण प्रामाणिक होती है, जो सबको नहीं जानता कुछ ही जान पाता उसका उपदेश मूल प्रामाणिक नहीं है । जो आजकल कम जानने वाले लोग भी उपदेश करते हैं वह प्रमाणिक है, तो वह उस उपदेश से मिला हुआ है तो प्रामाणिक है और यदि स्वतंत्र उपदेश है तो वह प्रामाणिक नहीं । तो प्रभु जो उपदेष्टा हैं आप्त हैं वे सर्वज्ञ हैं और अनादि मध्या: मायने अनादिकाल से चले आये हैं । कभी न थे, अब नये भये ऐसा नहीं । जिनेन्द्र भगवान की परम्परा अनादि से चली आयी है । ऐसे ये प्रभु जो आदि, मध्य अन्त से रहित हैं वे उपदेष्टा होते हैं । और अंतिम विशेषण सार्व है याने सबका हितकारी है । भगवान का उपदेश सब जीवों का हित करता है । जैसे बताया गया कि छह काय के जीवों की रक्षा करें मुनि, तो मुनिजन तो जीव रक्षा करके अपना भी उपकार करते हैं और दूसरों का भी । पर जीवों की रक्षा करने का भाव होने से उनकी खुद की भी रक्षा हो

गई । और कोई श्रावकजन हैं तो उनको राग है, उनको उपदेश है कि तुम अणुव्रत पालन करो । कोई महाव्रती हैं तो उनके लायक उनको उपदेश है कि महाव्रत धारण करो । तो सबके लिए उनका हितोपदेश है । ऐसे जो परम जिनेन्द्र तीर्थंकर देव हैं वे उपदेष्टा कहलाते हैं । तो जो अभी सम्यग्दर्शन के विषय में बताया था—आप्त, आगम, मुनि, इनका सच्चा श्रद्धान हो, उनमें यह आप्त की बात कही । आप्त, उपदेष्टा अरहंतदेव होते हैं जिनकी दिव्यध्वनि खिरती है ।

श्लोक 8

अनात्यार्थं बिना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितं ।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्सुरजः किमपेक्षते ।।८।।

आप्तदेव का राग के बिना प्राणिहितकारी सहज उपदेश—इससे पहले श्लोक में तत्त्व के मूल उपदेष्टा आप्त भगवान के गुण बताये गये थे । अब यहाँ प्रभु की निरपेक्षता बतला रहे हैं । प्रभु अपनी खुदगर्जी के लिए नहीं, अपनी किसी इच्छा से नहीं, किन्तु राग के बिना प्राणियों के हित का उपदेश करते हैं । जैसे कि बजाने वाले के हाथ से छुवा हुआ मृदंग आवाज देता हुआ क्या किसी की अपेक्षा करता है? नहीं, इसी तरह भव्य जीवों के भाग्य से वचन योग के प्रयोग से उपदेश होता है । वे प्रभु किसी की अपेक्षा नहीं करते । जितना यह धर्मोपदेश आज शास्त्रों में सो है तो अनेक आचार्यों का बनाया हुआ है लेकिन कपोल कल्पित नहीं है । जो ठीक अरहंतदेव की दिव्यध्वनि से चला आया हुआ है वही है । सो उन मूल उपदेष्टा अरहंत भगवान की बात कही जा रही है कि वह उपदेश अपने प्रयोजन के बिना देते हैं, राग के बिना देते हैं । तो वीतराग सर्वज्ञ हुए हैं, अब भव्य जीवों का भाग्य ही उसमें प्रबल निमित्त है कि प्रभु का उपदेश होता है और लोग समझते है, सुनते है । इस उपदेश में सर्वप्राणियों के हित्त की शिक्षा बसी हुई है । जैसे मेघ कुछ इच्छा नहीं रखते कि हम इस गाँव में बरसे पर जहाँ के नगरों के लोगों का पुण्योदय विशेष है वहाँ जाकर मेघ बरस जाते हैं । न लोगों ने मेघों को बुलाया न मेघों ने किसी गाम में जाने की इच्छा की, किन्तु ऐसा ही सुयोग है कि वर्षा वहाँ होती है जहाँ के जीवों को, पुण्यशालियों को आवश्यकता है । याने सब पुण्यपाप के योग से होता है । कहीं तेज वर्षा हो गई तो वहाँ के लोगों का पापं का उदय समझिये पर भगवान की दिव्यध्वनि खिरती है वह केवल हित का उपदेश करने के लिए है ।

दृष्टान्तपूर्वक प्रभु से सहज उपदेश प्राप्त होने का समर्थन—यहाँ दृष्टान्त दिया है कि जैसे मृदंग बजाने वाले ने हाथ का प्रयोग किया याने निमित्त नैमित्तिक भाव बना, अब वहाँ जो मृदंग से आवाज निकली है सो वह किसी की अपेक्षा नहीं करती । वह उस मृदंग का ही स्वयं का परिणमन है । ऐसे ही प्रभु इच्छा के बिना धर्मोपदेश करते हैं । वह यद्यपि प्रभुदेह का ही परिणमन हो रहा है वचन वर्गणा का ही परिणमन हो रहा है मगर उसमें निमित्त पुण्यवान जीव हैं । जैसे आम के वृक्ष फलते हैं उन फलों का उपयोग आम खुद करते हैं क्या? नहीं । फल तो रहते हैं दूसरों के उपकार के लिए । नदियों में पानी बह रहा है तो क्या नदियाँ स्वयं उस जल को पीती हैं? नहीं पर लोगों का उपकार हो रहा, ऐसे ही प्रभु जिनेन्द्रदेव का उपदेश होता है तो वहाँ कोई बाहरी प्रयोजन नहीं है पर भव्य जीवों के ही पुण्य के कारण उनका उपदेश हुआ करता है । तो यहाँ तक आप्त का

स्वरूप बताया । आप्त मायने वीतराग सर्वज्ञ देव, जो कि दिव्यध्वनि करते हैं, धर्मोपदेश जिनका होता है वे कहलाते है आप्त । भगवान तो बहुत है मगर सभी भगवान आप्त नहीं कहे गए । सिद्ध भगवान उनसे कोई शास्त्र की परिपाटी नहीं चलती, अरहंत भगवान की ही दिव्यध्वनि खिरती है इसलिए उनको आप्त कहा गया है । आप्त का सीधा अर्थ है—पहुंचा हुआ उस विषय में व्यापक होना कहलाता है । सो जो रागद्वेष रहित है, सर्व का ज्ञाता है वह पुरुष सर्व उपदेशों का मूल प्रणेता होता है ।

श्लोक 9

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकं ।
तत्त्वापदेशकृत् सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनं ।।९।।

आगम की आप्तोपज्ञता होने से प्रामाणिकता—पहले बतलाया था कि आप्त, आगम और तपस्वी इनका यथार्थ श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है । तो उनमें से आप्त का तो वर्णन किया, अब इस श्लोक में आगम का वर्णन कर रहे है । आगम, शास्त्र ये सब पर्यायवाची शब्द हैं, शास्त्र कौनसा उत्तम है? हितवादी । तो उसका विशेषण इस श्लोक में दिया है कि पहले तो वह शास्त्र आप्त के द्वारा कहा हुआ होना चाहिए । मूल अधिकारी आप्त कहलाता है, उनका कहा हुआ है यह सब धर्मोपदेश । देखिये कैसा विचित्र काम है, आश्चर्यजनक काम है कि भगवान रागद्वेष रहित हो गए और उसके फल में सर्व के मात्र ज्ञाता दृष्टा बने हुए है । उनका सर्वांग से दिव्योपदेश होता है । वह कैसे नहीं प्रामाणिक है? तो प्रथम तो वह सर्वज्ञ वीतराग देव का कहा हुआ होना चाहिए । जैसे इसके बाद दूसरे ने सुना, दूसरे से तीसरे ने सुना, और सैकड़ों लोगों में वह बात फैल जाय तो भी जिज्ञासा यह रहती है कि यह बात मूल में किसने कहा? यदि वह प्रामाणिक पुरुष हैं तो सर्व लोग उस वाणी का विश्वास कर लेते हैं बिना ही परीक्षा किए कि यह सही है । और परीक्षा करने पर तो सही उतरती ही है । तो शास्त्र है आप्त द्वारा कहा गया ।

आगम की अनुल्लङ्घ्यता—दूसरा विशेषण है शास्त्र का कि जिसके सिद्धान्त का कोई उल्लंघन न कर सके । कोई भी उसका खण्डन न कर सके, ऐसा निर्दोष वचन है आप्त के द्वारा कहा गया । हम आप आजकल सुन रहे हैं पर जिस जमाने में आप्त सर्वज्ञ बने हुए थे उनकी दिव्यध्वनि खिरती थी, लोग उसे सुनकर धर्मलाभ लेते थे । वह तो बड़ा ही अद्भुत वातावरण था, प्रभु की वाणी किसी के द्वारा खण्डित नहीं की जा सकती । प्रभु की वाणी याने शास्त्र आगम और प्रत्यक्ष से बाधारहित हे । न तो उस कथन में आगम से बाधा आती और न अनुभव प्रत्यक्ष से बाधा आती । जैसे प्रभु ने बताया कि जो भी जगत में सत् है । जो भी वस्तु है वह प्रतिक्षण उत्पाद व्यय धौव्यमय है । उत्पाद मायने उत्पन्न होना, व्यय मायने नष्ट होना और धौव्य मायने बना रहना, सो देख लो प्रत्येक पदार्थ बनता है, बिगड़ता है और बना रहता है । आत्मा पर भी घटा लो यह मैं आत्मा बनता हूँ बिगड़ता हूँ और बना रहता हूँ । जो नई पर्याय पायी वह तो इसका बनना कहलाया और जो पुरानी पर्याय विलीन हुई वह इसका व्यय कहलाया, पर मूलभूत पदार्थ वह है ही जिसमें इतना अवसर आया । तो यह शास्त्र अनुलंघ्य है किसी के द्वारा उल्लंघन में नहीं आ सकता ।

आगम की अदृष्टेष्टविरोधकता, तत्त्वोपदेशकारिता—परमार्थप्रतिपादक आगम में प्रत्यक्ष अनुमान से विरोध नहीं

है । ऐसा यह शास्त्र तत्त्व का उपदेश देने वाला है । शास्त्र किसलिए है कि उनके अध्ययन से, मनन से ऐसा ज्ञानप्रकाश जगे कि जिसमें ज्ञान ही ज्ञान समाया हो, रागद्वेष की कालिमा न सुहायी हो तो अविरुद्ध वचन हैं, तत्त्व का उपदेश करनेवाला है । आत्मा को मुक्ति कैसे मिलती है? आत्मा का सही स्वरूप श्रद्धान में लायें, ज्ञान में लायें । और उस ही के अनुरूप अपना आचरण बनायें तो यह है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र । प्रभु की वाणी में अनुयोग तो अनेक है पर संक्षेप करिये तो जो दूसरों को बाधा करने वाले न हों वे वचन सत्य वचन है । आगमवचन तत्त्व का उपदेश करने वाले है और खोटे मार्ग का विनाश करने वाले है । यदि शास्त्र स्वाध्याय न हो, ज्ञान की बात चित्त में न आये तब यह जीव न जाने कैसे मार्ग को अपना लेगा कि वह अपना बुरा करेगा । तो जो शास्त्र है वह शास्त्र है वह तत्त्व का उपदेश करने वाला है ।

आगम की सर्वहितकारिता—आगम सार्व मायने सबके लिए हितकारी है । आज सम्प्रदाय अनेक हैं और सभी सम्प्रदायों के कुछ सिद्धान्त हैं मगर उनके मूल प्रणेता रागी द्वेषी न हों और अपनी यशकीर्ति के लोलुपी न हों तो उनके वचन सत्य हों अन्यथा सब एकान्त रूप निकलेंगे । स्याद्वाद शासन में द्रव्य और पर्याय दो की दृष्टि चलती है । जो सदा रहे सो द्रव्य । जो क्षण-क्षण में नई घटना हो सो पर्याय । दो की दृष्टि चलती हैं जो सदा रहे सो द्रव्य, जो क्षण-क्षण में नई घटनायें हों सो पर्याय तो जब दो दृष्टियां है, पदार्थ में दो बातें है तो द्रव्य दृष्टि से पदार्थ को नित्य कहा जायगा और पर्यायदृष्टि से पदार्थ को आत्मा अनित्य कह दिया जायगा । जब पर्याय की दृष्टि रखते हैं तो अनित्य और जब द्रव्य की दृष्टि रखते हैं तो नित्य । जैसे एक आदमी ६०-७० वर्ष का है । बताओ वह वही है या कुछ नया-नया बन गया? वह तो वही एक आदमी है पर उसके जितने भाव बनते, जितनी लीलायें करते वे उनसे अनेक तरह का भी आत्मा बन गया । तो ऐसे ही आत्मद्रव्य वह एक रूप है और आत्मा में जो प्रवृतियां हैं वे अनेक बन जाती है । तो तत्त्व का उपदेश भरा हुआ है जैन सिद्धान्त में मनोविनोद के लिए या फाल्तू बात के लिए जैन शासन में कुछ कहा नहीं गया । ऐसा सब जीवों का हित करने वाला शास्त्र है ।

आगम की कापथपरिहारकता—आगम खोटे मार्ग का खण्डन करने वाला है । जो उपदेश का मूल प्रणेता है उसकी मुद्रा, उसका आचरण उसका ज्ञान उत्कृष्ट होना ही चाहिए । नहीं तो उसके उपयोग में प्रमाणता न रहेगी । जो पुरुष दोषवान हो उसके वचनों में प्रामाणिकता नहीं आती । भले ही वह ठीक बोले मगर स्वयं ही जब वह उस उपदेश से दूर है तो उपदेश में प्रामाणिकता कहा से आयेगी? सो देख लो आप्त भगवान कुछ भी जिनके परिग्रह नहीं है, जो समवशरण आदिक विभूति रचते हैं तो वे देव और देवेन्द्र अपनी भक्ति से रचा करते हैं, पर प्रभु का उसमें कुछ लगाव नहीं है । जबकि अनेक विडम्बनायें पायी जाती हैं अन्य दार्शनिकों के मूल गुरु या देवताओं के । कोई चूहे की सवारी करता फिर भी भगवान कहलाता, कोई शेर की सवारी करता है फिर भी वह भगवती कहलाता । न जाने कैसे-कैसे रूपक हैं । जिनका दर्शन करते ही लोग उन्हें शुद्ध समझ लेते हैं और उनकी भक्ति में रहते हैं । अरे प्रभु के तो केवल शरीरमात्र रह गया, न वहाँ कपड़े हैं, न सवारी, न अनेक तरह के भोजन हैं, न कोई वाहन, न त्रिशूल, न स्त्री पुत्रादिक । उनके तो केवल दिव्य देह है । उनके मुख से, उनके सर्वांग से निकला हुआ दिव्यध्वनिरूप उपदेश पूर्ण प्रामाणिक है और उसी परम्परा से आज ये

शास्त्र चले आये है ।

आगम की प्रामाणिकता की अनुभवसिद्धता—शास्त्र प्रामाणिक है यह बात इस तरह भी जानी जाती कि उसमें जो कुछ लिखा है वह अपने अनुभव में सत्य उतरा है । कोईसा भी विषय ले लो । जैसे दार्शनिक लोग पदार्थ कितने ही प्रकार के मानते हैं, जैनी भी मानते, पर अन्य के द्वारा बताये गए पदार्थ में प्रकार यों उचित ठीक नहीं पड़ते कि कुछ तो दुबारा कह दिए गए कुछ कहे ही नहीं गए । जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि , वायु, आत्मा, मन । दिशा आदिक बोलते हैं तो पृथ्वी जल, अग्नि , वायु ये सब पुनरुक्त हो गए, ये भिन्न-भिन्न चीज नहीं हैं । एक पुद्गल की ही जातियाँ हैं, चारों के चारों पुद्गल हैं । अगर ये भिन्न-भिन्न द्रव्य होते तो कभी भी एक दूसरे रूप न बदल सकते थे । यह द्रव्य की पहिचान है । पृथ्वी कभी जल बन जाती तो । चंद्रकांति मणि भी तो चंद्र का सामना पाकर पिघल जाती है । पिपरमेन्ट, कपूर और अजवाइन का फूल है तो ये सब पिण्डरूप, पृथ्वीरूप, और इन तीनों को इकट्ठा कर दिया जाय शीशी में तो जल रूप बन जाता है । अगर ये द्रव्य मूलत: अलग-अलग होते तो एक दूसरे रूप कभी न बन सकते । जैसे जीव और पुद्गल ये अलग-अलग पदार्थ है तो जीव कभी पुद्गल न बन सकेगा, पुद्गल कभी जीव न बन सकेगा । जो ६ प्रकार के द्रव्य जैन शासन में कहे उनमें कोई भी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य रूप तीन काल में नहीं बन सकता । जीव, पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य, इनमें से कोई भी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्यरूप बन सकते हैं क्या? नहीं बनते । और इन छहों के अलावा कोई द्रव्य तो नहीं कि जो छूट गया हो, इसलिए जैन शासन में जो ६ प्रकार बताये है पदार्थ के, वे बिल्कुल संगत है । पर अन्यत्र जो पदार्थ के प्रकार बताये सो कुछ तो दुहरा दिया और कुछ छूट गए । धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य की कोई चर्चा ही नहीं जानते । जो गमन में हेतु है वह धर्मद्रव्य है । जो स्थिति में कारण है वह अधर्मद्रव्य है । इसकी तो कहीं चर्चा भी नहीं होती । तो जैन शासन में जो कुछ ऐसा कहा गया है वह सिस्टेमेटिक और प्रामाणिक है ।

वीतराग सर्वज्ञदेव के ही आगमप्रणेतृत्व की संभवता—यहां यह बतला रहे हैं कि शास्त्र के मूलत: प्रणेता वीतराग सर्वज्ञ होना चाहिए । जिसके चारित्र में राग की घटना पायी जाती है और कभी से ही किसी भी शृङ्गारदशा में वे भगवान कहे गए तो जो रागी हो उसके वचनों में प्रामाणिकता कैसे हो? जैन शासन में तो तीर्थकर या- अन्य कोई जो भगवान बने है सो केवल ज्ञान होने पर ही उन्हें भगवान कहा गया है । उससे पहले नहीं । २४ तीर्थंकर हुए मगर वे जन्म से भगवान नहीं हुए, उनकी दीक्षा होगी, मुनि होंगे, फिर तपश्चरण होगा, केवल ज्ञान होगा तब प्रभु कहलायेंगे । सो अनेक तीर्थंकरों ने विवाह भी किया मगर उस समय तो वे भगवान न थे । जब सबका त्याग किया, आत्मस्वरूप में रमण किया तब वे भगवान कहलाये । सो जो सर्वज्ञ न हो वह सही बात कैसे बता सकता? जो वीतराग न हो वह सब बात सही कैसे बता देगा? तो आगम का मूल प्रणेता वही है जो वीतराग है और सर्वज्ञ है ।

आगम की हेयापादेय विवेक सम्पादकता—शास्त्र आप्तोपज्ञ है जिनमें न प्रत्यक्ष से बाधा है न अनुमान से । वे शास्त्र हैं, उनके अनुसार चलना, उसमें लिखे हुए तत्त्व का विनय करना यह मोक्षमार्ग में चलना है । आगम वही है जिसमें सर्व तत्त्वों का ठीक निर्णय मिले । हेय क्या, उपादेय क्या, छोड़ने योग्य क्या चीज है और ग्रहण

करने योग्य क्या चीज है? छोड़ने योग्य तो वह है जो मेरे स्वरूप में नहीं स्वभाव में नहीं । जैसे बाहर पड़ा हुआ धन वैभव दौलत यह सब हेय है कर्म विपाक का जो प्रतिफलन है वह सब हेय है । जिसने यह जान लिया कि यह परद्रव्य है, यह परभाव है इससे मेरे आत्मा का कुछ भी सम्बंध नहीं है तो उसने तो छोड़ दिया जो छोड़ने का था, और ग्रहण कर लिया जो ग्रहण करने योग्य था । यह मोही जीव धन वैभव बंधु पुत्रादिक सब कुछ छोड़ सकता है, किन्तु अपने यश की वाञ्छा नहीं छोड़ पाता । कैसा है प्रबल उपर्सग इस जीव पर कि अपना सब कुछ छोड़ सकता है पर अपने यश की इच्छा नहीं छोड़ पाता । और जो यश चाहता है समझिये कि उसे आत्म तत्त्व को पहिचान ही नहीं । किसका यश चाहते? सो जो आत्मा का परिचय कर लेने वाला है उसको यश को चाह नहीं होती । अरे किन में यश चाहते? जगत में जितना जो कुछ दिखता है चह सब मायास्वरूप है । माया किसे कहते हैं? अनेक पदार्थों का मिलकर रूप बना उसका नाम माया है । बतलावो जो कुछ दिख रहा है, इसमें कोई चीज सत्य भी है क्या? परमार्थ भी है क्या? इसमें कोई भी परमार्थ नहीं है । जो कुछ आँखों दिख रहा है, जो कुछ सबके प्रयोग में आ रहा है वह मिथ्या है, परमार्थ नहीं, मायारूप है । तो अज्ञानीजन माया में ही तो सिर भिड़ा रहे हैं।

आगमोपदेश का मुख्य प्रयोजन मोहापहरण—मेरा अणुमात्र भी किसी परपदार्थ से परमार्थत: कुछ सम्बंध नहीं है, यह बात आगम ने ही तो बताया । जाना हमने अपने अनुभव से किन्तु यह सब प्रकट हुआ है शास्त्र से । उससे ही हमने द्रव्य गुण पर्याय की बात सीखी । उससे ही हमने स्वरूपास्तित्त्व का बोध किया और उसके ही प्रताप से मोह दूर हुआ। सर्व उपदेशों का सार यह है कि मोहों को दूर करें। जब तक मोह लगा है तब तक कष्ट ही कष्ट है । राग और प्रीति नहीं छूटती है तो न छूटे, फिर छूट जावेगी किन्तु मोह तो पूर्णतया छोड़ देना चाहिए । मोह में यह भाव रहता है कि यह मेरा ही है, इससे ही मेरी जिन्दगी है, इससे ही मेरा महत्त्व है, इसके बिना मेरा अस्तित्व ही न रहेगा, ऐसा पर पदार्थो में मोह होना यह जीव के लिए कष्टदायी है । सो मोह न हो उस शिक्षा को कहते हैं वास्तविक शिक्षा । किसी से कहा जाय कि मोह न करो तो ऐसा कहने मात्र से उसका मोह न छूटेगा । और जब यह जान जायेगा कि प्रत्येक वस्तु जो दिखती है वह मायारूप है और मुझ से अत्यन्त भिन्न है, सारहीन है, उसका मोह छूट जायगा । तो जैसे मोह मिटे वैसा उपदेश सुनना, उसे अनुसार चलना ये सब बातें इस जीव के लिए लाभदायक हैं ।

श्लोक 10

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रह: ।
ज्ञानध्यानतापोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ।।१०।।

तपस्वियों की अनिवार्यरूप से विषयवशातीतता—इस ग्रन्थ में सबसे पहले यह बताया था कि मैं उस सही धर्म का वर्णन करुंगा जिस धर्म के धारण करने से जीव संसार के दु:खों से छूटकर उत्तम सुख में पहुंचता है । वह धर्म क्या है? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र । उसमें सम्यग्दर्शन के स्वरूप में कहा था कि परमार्थभूत आप्त, आगम और तपस्वी का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है । यद्यपि सम्यग्दर्शन के लक्षण अनेक किए हैं मगर सूक्ष्मता से विचार करें तो सब एक जगह ही बात है । तो आप्त और आगम का वर्णन तो किया

जा चुका है, आज तपस्वी का वर्णन किया जा रहा है । तपस्वी किसे कहते हैं? जो विषयों की आशा के अधीन न हो वह होता है तपस्वी । और भी लक्षण बताये जायेंगे, पर यहाँ पहले ही विचार करें कि जो गुरु स्वयं विषयों की आशा के आधीन हैं, खाने के लालची हैं, अनेक स्वाद के वशीभूत है । कर्णेन्द्रिय के वशीभूत हैं जो यश कीर्ति सुनना चाहते जो अभिमानी होते, अन्य-अन्य विषयों में जिनके राग जाता हो वे विषयों के छोड़ने का कैसे सही उपदेश कर सकते हैं? इससे पहली बात गुरु में यह होनी चाहिए कि वह विषयों के अधीन न हो । महिलायें लोग एक भजन गाती हैं ना—''हम तो हैं उन चरनन में दास जिन्होंने मन मार लिया ।'' जिन्होंने इन्द्रिय और मन को काबू किया, वे पुरुष गुरु कहलाने योग्य हैं, क्योंकि विषयों का लम्पटी दूसरों को विषयों से छुटाकर वीतराग मार्ग में नहीं लगा सकता ।

विषयाशावशातीत पुरूष के सत्संग से अन्य के विषयनिवृत्ति की संभवता—एक छोटासा दृष्टान्त है कि किसी बुढ़िया मां का छोटा बेटा गुड़ बहुत खाता था । उस गुड़ के खाने से उसके शरीर में कोई मर्ज भी बन गया था, सो बुढ़िया मां किसी संन्यासी के पास पहुंची और बोली—महाराज आप मेरे बेटे का गुड खाना छुटवा दीजिए । अब वह संन्यासी स्वयं गुड़ खाता था सो दूसरे से कैसे गुड़ छुटवा सके, सो बोला—अच्छा तुम आज से १५ दिन बाद मेरे पास लाना, तब छुटवा दूंगा । इधर उस संन्यासी ने पहले स्वयं गुड़ खाना छोड़ा और बराबर १५ दिन तक गुड़ न खानें का अभ्यास किया । १५ दिन बाद जब बुढ़िया अपने बेटे को लेकर आयी संन्यासी के पास गुड छुड़वाने को कहा तो सन्यासी बोला उस बालक से बेटे गुड खाना छोड़ दो, यह बड़ा हानिकारक है । वहाँ उस बुढ़िया ने संन्यासी से पूछा—अरे यही बात तो आप आज से १५ दिन पहले भी कह सकते थे, १५ दिन बाद क्यों कहा? तो सन्यासी बोला—बुढ़िया मां जब मैं स्वयं गुड़ खाता था तो दूसरे को गुड़ न खाने का उपदेश कैसे दे सकता था? जब मैंने १५ दिन तक गुड़ न खाने का अभ्यास कर लिया तब इस बालक को गुड़ न खाने का उपदेश दिया । तो इससे यह है समझना कि जो स्वयं रागी, द्वेषी, मोही है, मलिन है, संसारी प्राणी है वह गुरु कैसे कहा जा सकता? जो विषयों का अनुरागी है उसे प्रथम तो आत्मज्ञान ही नहीं है, बहिरात्मा है, मिथ्यादृष्टि है, वह गुरु कैसे कहा जा सकता। कोई पदवी तो गुरु की ले-ले, भेष तो गुरु का धारण कर ले और स्वयं विषयों का लम्पटी हो तो उसको आत्मज्ञान नहीं है। गृहस्थी में कोई रह रहा है और कभी विषयों को भोग भी करता है उसके तो सम्यक्त्व भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसको बहुत तीव्र राग लगा है तब ही तो वह विषयों की लालसा रखता हो तो उसको सम्यक्त्व ही नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसको बहुत तीव्र राग लगा है तब ही तो वह विषयों में आसक्त बना। तो जो स्वयं आत्मज्ञान से रहित है बहिरात्मा है वह गुरु कैसे हो सकता है? पहली बात कह रहे हैं कि तपस्वी गुरु वही है जो विषयों के आधीन न हो।

तपस्वी की अनिवार्य निरारम्भता—दूसरा विशेषण है तपस्वी का आरम्भरहित होना । त्रस स्थावर जीवों के घात का अगर आरम्भ है तो उसके पाप का ही बंध होगा । सो जो पापी पुरुष है आरम्भ करने वाला है वह गुरु कैसे हो सकता है? जैसे अनेक संन्यासी जन अपना बगीचा रखते हैं, खेती-बाड़ी देखते हैं और भेष, रख लेते हैं कोई लंगोट पहनने का, भस्म रमाने का और सारा आरम्भ कर रहे हैं तो आरम्भ का पाप उनको बराबर

लग रहा है । वहाँ गुरुपना थोड़ा बहुत लौकिक हिसाब से भी कैसे सम्भव है? फिर जो निर्ग्रन्थ दिगम्बर भेष धारण कर ले और किसी बाह्य आरम्भ में लग जाय तो वह तपस्वी नहीं, गुरु नहीं । तो जो निरारम्भ है वह ही तपस्वी हो सकता है । निरारम्भ पुरुष को न पहले चिन्ता न बाद में चिन्ता, न किसी तरह का उस कार्य का विकल्प है, अतएव वह आत्मध्यान में भली भांति लग सकता है । तो तपस्वी निरारम्भ होता है ।

तपस्वी की अनिवार्य निष्परिग्रहता—तीसरा विशेषण है तपस्वी का कि वह अपरिग्रही हो, याने परिग्रहरहित हो । परिग्रह अंतरंग तो १४ प्रकार के हैं और बहिरङ्ग १० प्रकार के हैं । सो इन परिग्रही से जो सहित हो वह गुरु कैसे हो सकता है? जो स्वयं परिग्रही है वह आप ही संसार में फंस रहा है, वह अन्य पुरुषों का उद्धारक गुरु, तपस्वी कैसे हो सकता है? अंतरंग परिग्रह कौन से होते है? जो जीव के भावरूप हैं, विकार हैं, विभाव हैं उनको जो लपेटता है उनसे लगाव रखता है, उनको आत्मस्वरूप मानता है वह भी तो परिग्रह हुआ । अन्तरंग परिग्रह, हुआ । अन्तरंग परिग्रह १४ प्रकार के हैं—(१) मिथ्यात्व (२) वेद (३) राग (४) द्वेष (5) हास्य (६) भय (७) रति (८) अरति (१) जुगुप्सा (११) क्रोध (१२) मान (१३) माया (१४) लोभ । ये परिग्रह कैसे हैं सो सुनो।

मिथ्यात्व परिग्रह की स्वभावविघातकता—(१) मिथ्यात्वपरिग्रह—इस समय जो प्राणियों की स्थिति है, शरीर सहित है तो शरीर तो एक पिण्डरूप है, अचेतन है, पौद्गलिक है, वह जाननहार नहीं है, और जो जाननहार तत्त्व है वह अमूर्त है, इस शरीर से बिल्कुल निराला है । वहाँ इस शरीर को अपनाना कि यह मैं हूँ और इस शरीर के पुष्ट रखने का ही ध्यान रखना ऐसे विकल्पों का नाम मिथ्यात्व परिग्रह है । कभी-कभी यह जीव इन बातों को सुन लेता है, कह लेता है कि शरीर का यह रूप है पौद्गलिक है, इस शरीर के आधार ही तो अनेक प्रकार की घटनायें होती है । जाति कुल मानना, किस पद में रह रहे, क्या पोजीशन है, राज्य, धन वैभव, इज्जत, प्रतिष्ठा आदि की सारी बातें इस शरीर के आधार से ही तो बन रही हैं । ऐसी ये सब शरीर की रचनायें है जो कि कर्मों के उदय से प्राप्त हैं । इस जीव के मिथ्यात्वकर्म का ऐसा उदय चल रहा है कि शरीर के नाश को अपना नाश मानता है । देखो धीरता स्थिरता की यह बात है कि इसके मिथ्यात्व है तो इसको शरीर के छूटते समय एक सूझा पहुंचता है, साथ ही शरीर के नष्ट होने पर बताओ अपना नाश मानता कि नहीं? जब कोई विपत्ति आती है, शारीरिक रोग आता है या कोई मरण की बात उपस्थित होती है तो बताओ यह मिथ्यादृष्टि जीव घबड़ाता है कि नहीं? घबड़ाता है मगर सम्यग्दृष्टि जीव न घबड़ायगा । उस सम्यग्दृष्टि जीव को अपने आत्मा पर श्रद्धान है कि यह मैं पूरा का पूरा हूँ, । यहाँ हूँ तो पूरा हूँ शरीर को छोड़कर जाऊंगा तो पूरा ही रहूंगा । मैं सर्वत्र पूरा हूँ मेरा कुछ गिरता नहीं है । मरण के मायने शरीर का वियोग होना, इतना ही तो अर्थ है, पर मैं आत्मा गुणों में परिपूर्ण हूँ । जो मेरा स्वरूप है वह अधूरा नहीं है । जाऊंगा तो पूरा का पूरा रहूंगा तो पूरा का पूरा । तो शरीर के नाश होने से अपना नाश मानना यह शरीर में आपा मानने का ही तो परिचय है । शरीर निर्बल हो जाय तो अपने आत्मा को निर्बल समझा यह शरीर में आत्मीयता की बुद्धि रखने के संस्कार लगे है इसके सम्यक्त्व कहां से होगा? वह तो ज्ञानी भी नहीं है फिर वह गुरु कैसे हो सकता है? शरीर अगर पुष्ट हो गया तो यह मानना कि मैं आत्मा पुष्ट हो गया हूँ, या इस शरीर को ही निरखकर अपने को उच्च

अथवा नीच मानना ये सब देहात्मबुद्धि की बातें हैं । जो खुद नहीं है, पररूप है, उसको अपना मानना यह मिथ्यात्व है कितने ही पुरुष तो ऐसे भी होते कि जो वचनों से तो कह देंगे कि ये सब परपदार्थ हैं, परवस्तु हैं लेकिन भीतर से ऐसा लगाव रखे रहते हैं कि उन पर पदार्थों के संयोग एवं वियोग में भारी हर्ष विषाद मानते है । तो भीतर में जिसके इस प्रकार का आशय पड़ा है उसके मिथ्यात्व नाम का परिग्रह है, और जिसके मिथ्यात्वपरिग्रह लगा है वह गुरु नहीं हो सकता ।

वेद रागद्वेष परिग्रह की स्वभावविघातकता—(२) दूसरा परिग्रह है वेद । स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद, इनमें कामवासना का भाव रखना यह वेद परिग्रह है । वेदरसानुभव में आत्मस्वभाव की सुध नहीं रहती । (३) तीसरा अंतरंग परिग्रह है राग । पर द्रव्य शरीर, धन, स्त्री पुत्रादिक सम्बंधी समस्त परपदार्थों में अनुरक्त होना, उससे अपना महत्व मानना यह राग परिग्रह कहलाता है । जिसके परपदार्थों में राग लगा है वह गुरु कैसे हो सकता है? (४) चौथा परिग्रह है द्वेष । दूसरों का ऐश्वर्य देखकर उससे द्वेष हो जाना । हालांकि उससे अपना बिगाड़ क्या होता, क्यों अपना अपमान महसूस कर रहा ? तो बात यह है कि वह अपने ऐश्वर्य का बड़ा रागी है । वह अपना बड़ा ऐश्वर्य चाहता है पर मिला न हो, मिल गया हो वह ऐश्वर्य किसी दूसरे को तो उस दूसरे से इसे द्वेष बन जाता । इसी तरह दूसरे की जवानी तथा धन सम्पत्ति देखकर उससे बैर रखना द्वेष है । जैसे कोई धनिक वृद्ध हो गया, रोगी भी है तो वह दूसरों को खूब मौज से खाते पीते रहते देखकर उनसे ईर्ष्या करता है तो यह उसका द्वेष परिग्रह है । ऐसे ही किसी का भारी यश बढ़ रहा हो उसके प्रति द्वेष हो जाना यह द्वेष परिग्रह है । जिसके द्वेष परिग्रह लगा है वह गुरु कैसे कहला सकेगा?

हास्य भय-रति अरति परिग्रह की स्वभावविघातकता—(५) पांचवां अंतरंग परिग्रह है हास्य । हंसने का परिणाम बनाना, विनोद की प्रकृति बनाना, किसी भी घटना में हंसना, ऐसा परिणाम जिसके हो रहा हो तो उसका उपयोग किस तरफ है? परद्रव्यों की ओर । स्वयं के आत्मस्वरूप की ओर नहीं । तो जिसके ऐसा हास्य परिग्रह लग रहा वह गुरु कैसे? (६) छठा अंतरंग परिग्रह है भय । अपना मरण होने का भय होना वियोग का भय लगा है, मैं मर जाऊंगा..., मरण के समय में जो वेदना होती है उसका डर लगना यह सब भय परिग्रह है । भयपरिग्रह में उपयोग अन्तस्तत्त्व की ओर नहीं रहा । (७) सातवां अन्तरंग परिग्रह है रतिपरिग्रह जो पदार्थ अपने राग के कारणभूत हों याने राग कराने वाले पदार्थ उनमें आसक्ति से लीन होना, रत हो जाना यह रति परिग्रह है । जिनके ऐसा रति भाव है पर पदार्थों मे उनमें गुरुपना कैसे सम्भव है? (८) आठवां अन्तरंग परिग्रह है अरति परिग्रह यह परिग्रह भी आत्म विमुख कर देता है जो वस्तु अपने को अनिष्ट लगती हो, उसमें परिणाम न लगता हो, चित न लगता है और उसके प्रति ग्लानि बन जाय तो वह अरति परिग्रह है।

शोक जुगुप्सा परिग्रह की स्वभावविघातकता—(९) नवमा परिग्रह है शोक परिग्रह । किसी इष्ट पुरुष या इष्ट वस्तु का वियोग हो जाय तो वह शोक परिग्रह है । देखिये जीवन में सबको कुछ न कुछ वियोग की घटनायें आती हैं, कहीं कोई गुजर गया, कहीं कोई चीज गुम गई, कहीं कुछ से कुछ घटना घट गई, ये बातें सब पर आती हैं तो फिर संसार में सुख की बात रही क्या? इन दुःखों से घबड़ाना नहीं इसके लिए चाहिए प्रभु की आराधना, आत्माराधना । अपने में ऐसा भाव बने कि हे प्रभो मेरे में वह बल प्रकट हो जिससे सर्व व्याधियों

को मैं समता से सह सकूं । यदि कोई ऐसा मांगे या सोचे कि हे भगवान मुझ को कोई कष्ट न आये तो यह बात बन नहीं सकती, क्योंकि संसार तो कष्ट रूप ही है, किसी को कुछ कष्ट है किसी को कुछ । तो मेरे को कोई कष्ट न आये, मैं सुख में रहूं ऐसी अभिलाषा करना बिल्कुल बेकार है, क्योंकि ये अपने अधीन नहीं है, ये सब बातें आयेंगी । अपनी ऐसी भावना रहे कि हे प्रभो मुझ में ऐसा ज्ञान प्रकाश रहे कि मैं अपने ज्ञान को बड़ी सावधानी से सम्हाले रहूं । कितनी ही व्याधियां आयें पर मैं उन्हें समता से सह लूं । क्या है वे सब बाह्यपरिणतियां है । तो मैं सब स्थितियों में धीर रह सकूं यह अभिलाषा करना तो ठीक है पर यह अभिलाषा करना ठीक नहीं कि मेरे को कष्ट न आये । अरे यह संसार तो कष्टों से ही भरा हुआ है । सबको ये कष्ट भोगने पड़ते हैं । हां यह बात है कि जो ज्ञानीजन हैं वे इन कष्टों को समता से झेलते है और जो अज्ञानीजन है वे उन दुःखों से घबड़ाकर निरन्तर बेचैन रहा करते है ऐसी उनकी स्थिति होती है । तो यह शोक नाम का परिग्रह जहाँ लगा है वो तपस्वी नहीं कहला सकते । (१०) दसवां परिग्रह है जुगुप्सा—बाह्य पदार्थों को देखकर उनके प्रति ग्लानि होना, बुरा लगना यह जुगुप्सा परिग्रह है । इसमें यह भी बात शामिल है कि दूसरों का पुण्योदय है सो वे भली प्रकार रह रहे हैं, अब उनको सुखी देखकर खुद को सुहाये नहीं तो यह जुगुप्सा परिग्रह कहलाता है । जिसके जुगुप्सा है उसके गुरुपना कैसे सम्भव हो सकता है ।

क्रोध मान माया लोभ परिग्रह की स्वभावविघातकता—(११) ग्यारहवां अंतरंग परिग्रह है क्रोध । रोष का परिणाम होना, गुस्सा का परिणाम होना यह क्रोध परिग्रह हैं कितने ही लोग तो इस क्रोध भाव को अपनाये रहते हैं । मान लो किसी प्रतिकूल घटना को देखकर क्रोध आ गया तो उस क्रोध को कम नहीं करना चाहते बल्कि कम होने लगे तो और भी क्रोध की बढ़ाना चाहते, इसलिए कि कहीं क्रोध कम हो गया तो फिर मैं इससे बदला कैसे चुका सकूंगा? तो भला बताओ जो क्रोध में लीन हैं वे तपश्चरण कैसे कर सकते हैं? (१२) बारहवां अंतरंग परिग्रह है मानपरिग्रह याने घमंड होना । घमंड का जीतना बड़ा कठिन है और खासकर मनुष्यों में मानकषाय की प्रधानता है । यद्यपि घमंड चारों गतियों के जीवों में होता किन्तु विशिष्ट घमंड मनुष्यगति में कहा गया है । नरकगति में क्रोध मुख्य है, तिर्यञ्च गति में माया मुख्य है, देवगति में लोभ मुख्य है और मनुष्यगति में मान मुख्य है । देखिये कैसी विचित्र बात है कि इन देवों को जरूरत कुछ नहीं है धन की, क्योंकि उन्हें खाने पीने आदि के कोई रोग नहीं सताते, फिर भी तृष्णावश वे निरन्तर धन वैभव के पीछे दुःखी रहा करते हैं, ऐसे ही मनुष्यभव में देख लो मान कषाय की आदत बनी रहती है । कोई अच्छी जाति का है, कुल अच्छा मिला है तो उसका ही घमंड हो जाता कि मैं अच्छे कुल का हूँ, बाकी ये सब लोग तो नीच कुल के हैं । अरे कल्याण चाहने वाले पुरुषों की तो सभी जीवों के अन्दर ज्ञानस्वभाव को निरखना चाहिए । और पर्याय में जो कुछ उसकी त्रुटि हो रही है वह गौण हो जाती है, मुख्यता रहती है चैतन्य स्वभाव की दृष्टि रखने में । मैं उच्च कुल का हूँ, ये नीच कुल के ऐसी प्रधानता ज्ञानी पुरुष नहीं रखता, बल्कि कोई नीच कुल में जन्मा हो तो उस आत्मा के स्वभावपर दृष्टि रखकर यह विचारता कि यह तो है बेचारा स्वरूपदृष्टि से भगवत स्वरूप मगर कर्मोदय की विचित्रता देखिये कि आज यह इतनी नीच स्थिति में है अब भला बताओ जहाँ मान परिग्रह है वहाँ तपश्चरण कैसे किया जा सकता? किसी को मान लो बड़ा सुन्दर रूप मिल गया तो वह अपनी सुन्दरता

का बड़ा अहंकार करता? अरे क्या है यह सुन्दरता? जरा इस पतली चाम के अन्दर की चीजों का तो ध्यान करो, खून, मांस, मज्जा आदि महा अपवित्र चीजें हैं, इस रूप सौन्दर्य का क्या घमंड करना? ऐसी हीं बात सब प्रकार के घमंडों के प्रति समझो । तो जहाँ मान कषाय है वह तपस्वी कैसे? (१३) तेरहवां अंतरंग परिग्रह है माया परिग्रह । जरा-जरासी बात में मायाचारी करना यह माया परिग्रह है । मायाचारी पुरुष तपस्वी कैसे कहा जा सकता? उसका तो चित्त ठिकाने ही न रहेगा । (१४) चौदहवां अंतरंग परिग्रह है लोभ परिग्रह । लोभ लालच तृष्णा का होना तो इस जीव के महा पतन का कारण है, निरन्तर बाह्यदृष्टि रहा करती है । ऐसी बाह्यदृष्टि रहने पर तपश्चरण कैसे किया जा सकता । अत: जहाँ लोभ परिग्रह लगा है उसे तपस्वी नहीं कहा जा सकता । जो स्वयं रागीद्वेषी है मोही है मलिन है वह गुरु कैसे हो सकता?

गुरु की विषयातीतता निरारम्भता व अपरिग्रहता का पुन: स्मरण—गुरु का स्वरूप कहा जा रहा है जिसका अपर नाम है तपस्वी । जिनके अन्तरंग और बहिरंग तप हो उन्हें तपस्वी कहते हैं । गुरु विषयों के वश नहीं रहते । जो विषयों के वश रहे वे दूसरों को विषय त्यागने का उपदेश कैसे दे सकते हैं, उनके उपदेश में प्रभाव न रहेगा । गुरु तपस्वी आरम्भरहित होते हैं । जो भोजन पानी आजीविका आदिक किसी भी प्रकार का आरम्भ करे तो वह खुद बुरे कार्यों में लग रहा, फिर वह दूसरों को पापकार्य छोड़ने का क्या उपदेश कर सकेगा? तो गुरु अपरिग्रही होते हैं । परिग्रह २४ प्रकार के कहे गए थे जिनमें अन्तरंग परिग्रह तो १४ हैं और बहिरंग परिग्रह १० हैं । इन परिग्रहों में पहले क्या छोड़ना चाहिए, पीछे क्या छोड़ा जायगा इसका कोई नियम नहीं है । अथवा प्राय: नियम है तो बाह्य परिग्रह के छोड़ने का पहले नियम है, अंतरंग परिग्रह उसके छूटता है जिसके बाह्य परिग्रह न रहा हो । फिर भी अन्तरंग परिग्रह में जिसकी हीनता होगी तथा भावना में अन्तरंग परिग्रह से विविक्त अन्तस्तत्त्व को प्राप्त कर लिया है । वह बाह्य परिग्रह को छोड़ सकेगा । जैसे चावल में दो मैल होते हैं—एक तो ऊपर का धान का छिलका और दूसरा—चावल पर स्वयं जो प्राकृतिक पालिस सी रहती है वह तो अब बतलाओ कि चावल का अन्तरंग मल तो है पालिस और बहिरंग मल है छिलका । तो पहले उसका बहिरंग छिलका छुटाते हैं बहिरंग मल? बहिरंग छिलका । तो जिनका बहिरंग मल याने बाह्य परिग्रह नहीं छूटा उसका अन्तरंग परिग्रह नहीं छूट सकता ।

निष्परिग्रह होने के उपायप्रक्रम का क्रम—जिनको बाहरी परिग्रह नहीं छोड़ता है वे इस तरह की बात को प्रधानता से कहेंगे कि क्या है, अपना अन्तरंग भाव शुद्ध होना चाहिए बाहर की बात अपने आप हो जायगी । अरे ऐसा कहते-कहते सारी जिन्दगी गुजर जाती पर बहिरंग मल नहीं छूट पाता तो फिर वैसा कहने का क्या अर्थ रहा? जो विधि है जैन सिद्धान्त में वह इस प्रकार है कि पहले यह जीव तत्त्वज्ञान करे । तत्त्वज्ञान का अभ्यास करने से इसका अन्तरंग परिग्रह मंद होगा । अन्तरंग परिग्रह मंद होने पर इसकी भावना बनेगी बहिरंग परिग्रह के त्याग की । और उसी समय या उसके बाद अन्तरंग परिग्रह छूट जाता है । बाह्य परिग्रह रखे रहें और कहें कि मेरा अन्तरंग परिग्रह तो छूटा हुआ ही है तो उनकी यह बात मानने योग्य नहीं है । इसी सिद्धान्त पर सवस्त्र मुनियों का निर्माण हुआ है, वस्त्र भी पहने रहें और अपने को मुनि भी कहते रहें । जिन सम्प्रदायों में वस्त्र धारियों को मुनि कहते हैं उनका यह ही तो तर्क था कि हमारे अंतरंग परिग्रह नहीं है यह बहिरंग परिग्रह

ऊपर पड़ा हुआ है । अरे पड़ा हुआ क्या है? जब वस्त्र रखते तो उनके धरने उठाने खरीदने आदि के अनेक विकल्प चलते तो बताओ कहां छूटा अन्तरंग परिग्रह? सो अंतरंग परिग्रह मंद हुए बिना बाह्य परिग्रह नहीं छूटता और बाह्य परिग्रह छोड़े बिना अन्तरंग परिग्रह का मूल से सफाया नहीं होता । और अन्तरंग परिग्रह का वर्णन हो चुका है, अब बाह्य परिग्रह बतलाते हैं ।

तपस्वी की बाह्यपरिग्रहरहितता—बाह्य परिग्रह १० प्रकार के हैं—खेत, मकान, चाँदी, सोना, धन, धान्य, दासी, दास, कपड़े और बर्तन । जो भी परिग्रह के नाम छूटे हों उनकी समानता जानकर इन ही में गर्भित कर लेना । कोई संन्यासी खेत रख रहा है और कहता है कि यह दूसरों के उपकार के लिए खेत रख रहे हैं, इसमें वृक्ष तैयार करते हैं, सींचते हैं, दूसरे लोग खाते है । उनको सुख पहुंचता है ऐसी दलील दिया करते हैं मगर खुद की बात तो देखो कि मोक्ष चाहिए या संसार में रहना चाहिए? यदि मोक्ष चाहिए तो वीतराग भाव का आदर होना चाहिए ।

वीतराग भाव के आदर में दूसरे जीवों पर दया होगी तो उसके स्वरूप को निरखकर कि इस स्वरूप का विकास हो इस विधि वाली दया होगी । जो साधु मार्ग में चल रहे हैं उनकी दया की विधि और हैं, जो संसारमार्ग में लग रहे हैं उनकी दया की विधि और है । तो जिसके पास खेतादिक का परिग्रह है उसके सन्यास न कहलायेगा । ऐसे ही यह मकान परिग्रह, मकान बनता हो, रहता हो किसी रूप में, यह मेरा है ऐसा स्वीकार करते हो तो इस भाव के रहते हुए वह अपरिग्रह नहीं कहला सकता । ऐसे ही सोना, चाँदी, रकम, गाय, भैंस, अनाज, नौकर, नौकरानी, वस्त्र और बर्तन आदि सभी की बात समझ लेना चाहिए । अनेक सम्प्रदायों में साधु समाज में वस्त्र और बर्तन रखने वाले बहुत मिलेंगे । भले ही दूसरों पर छाप रखने के लिए उसमें भी भेष बना रखा, सफेद-सफेद ही वस्त्र पहनेंगे, एक मुद्रा बना रखी कि दूसरों पर थोड़ा असर तो रहे, जो गृहस्थों जैसे कोई धारीदार पहने, कोई किनारीदार, कोई लाल, कोई पीले, कोई किस ही तरह के, यों नाना तरह की बात होने से प्रजाजनों पर उनका पूरा प्रभाव नहीं पड़ता सो उन्होंने तय कर रखा है कि सफेद-सफेद ही वस्त्र पहनेंगे, किसीने तय कर लिया कि लाल-लाल ही वस्त्र पहनेंगे, किसने तय किया कि पीले-पीले ही वस्त्र पहनेंगे किसीने तय किया कि गेरुवे रंग के ही वस्त्र पहनेंगे । भोली-भाली जनता इस बाहरी भेष को देखकर समझ लेगी कि अरे ये तो साधु महाराज हैं । पर यहाँ कह रहे कि ऐसा वस्त्र परिग्रह जिसके हो वह साधु मुनि मोक्षमार्गी नहीं कहला सकता । मुनि वह है जिसका ध्यान आत्मा के प्रति रहा करे, और बाह्य वातावरण भी ऐसा हो कि जिसमें ध्यान से विचलित न हो सके । ऐसे ही बर्तन परिग्रह रखने वाले साधु अनेकों सम्प्रदायों में मिलेंगे । सो उसकी भी पोल ढाकने के लिए उनका नाम उपकरण रख लिया है । और लोगों पर कैसे प्रभाव पड़े तो किसीने काठ काठ के ही बर्तन रखे, किसीने किस ही प्रकार के रखे । तो बर्तनों का और वस्त्रों का रखना बहुत से सम्प्रदायों के साधुवों में मिलता है, मगर वस्त्र क्या, बर्तन क्या, अन्न क्या, इन परिग्रहों से जो युक्त है उसके साधुता नहीं कहला सकती ।

सर्वसाधारण साधुवों का सर्वसाधारण एक चिन्ह—साधु का एक मुख्य चिन्ह तो यह होगा उसके पैर में जूते न होंगे, यह एक मुख्य चिन्ह समझिये जिसे देखकर आजकल के लोग झट समझ लेते कि यह साधु है । यह

एक साधारणरूप की बात कह रहे हैं । इस सम्बन्ध में कि कदाचित मान लो कि वस्त्र भी पहने हों किसी सम्प्रदाय के साधु ने तो उन्हें साधु मान लिया पर जो जूते पहिनकर चलते हों उनके तो जरा भी साधुपना नहीं है । उसका कारण क्या है सो आपके अनुभव बतायेंगे । जूते पहिनकर चलने वाले की करतूत बतायेगी एक तो जमीन देखकर चलने का काम वहाँ नहीं रहता, क्योंकि पैर में कुछ लगने का डर ही नहीं है । दूसरी बात वहाँ कुछ न कुछ अहंकार का ढंग बन जायगा । वहाँ जीव दया पालने का रंच भी भाव नहीं रहता, यदि जीव दया का भाव होता तो जूते ही क्यों पहनते, जमीन में नीचे देखकर चलते, नंगे पैर चलते । तो एक मुख्य चिन्ह है बाहर से एक जनरल साधुवों में भी यह जानने के लिए कि इनका हृदय विरक्त है अथवा नहीं, तो उसकी यह मोटी निशानी है कि उसके पैर में जूते न मिलेंगे । तो यहाँ समीचीन पद्धति से कह रहे हैं कि किसी भी प्रकार का बाह्य परिग्रह गुरुजनों के नहीं होता । यदि कोई तपस्वी साधु बड़ी तपस्या करके भी, बाह्य संयम की प्रवृत्ति रखकर भी उसका चित्त अगर अंतरंग बहिरंग परिग्रह से मलिन है तो उसका अकेलापन नहीं कहला सकता ।

सुगुरु की ज्ञानध्यानतपोरक्तता—चौथा विशेषण गुरु का इसमें दिया है कि वह ज्ञान, ध्यान और तप में लीन रहता है यही उनका रात दिन का व्यवसाय है । ज्ञान में लीन होने के मायने स्वाध्याय आदिक करना, पढ़ना धर्मवार्ता करना और ध्यान में लीन होने के मायने जो ज्ञान किया, जिस अंतस्तत्त्व का बोध किया उसका मनन करना, एक ही जगह उपयोग रमाना और तपश्चरण का मतलब अंतरंग और बहिरंग तप का करना, अब दूसरी विधि से अर्थ देखिये—ज्ञान का अर्थ है केवल ज्ञाताद्रष्टा रहना, ज्ञान में कोई तरंग लहर विकार मल न आने देना, ऐसा केवल ज्ञाता मात्र रहना सो उनका है ज्ञान, वह है ज्ञान में लीन और ध्यान और तप का वही अर्थ है जो पहली विधि में कहा । अब इस द्वितीय विधि में यह क्रम बनेगा कि गुरु को, साधु को मुख्यतया ज्ञान में लीन रहना चाहिए अर्थात् ज्ञाता मात्र रहना चाहिए । विकार, तरंग, विचार, तर्क, इष्ट, अनिष्ट इन विकृतियों से हटकर केवल जाननहार रहना इसे कहते हैं ज्ञानलीनता । तो सबसे ऊंचा काम है ज्ञानलीनता । अब यदि इस ज्ञान में लीन न रह सके, ज्ञानमात्र वृत्ति बना सके तब दूसरा काम है ध्यान करना अर्थात् ज्ञान उत्कृष्ट है ध्यान उससे नीचा है ध्यान से ऊंची चीज ज्ञान है यह दूसरी विधि में बतला रहे हैं और इस ज्ञान का अर्थ केवल जानकारी भर नहीं, किन्तु रागद्वेष न होकर केवल शुद्ध जाननहार रहना, ऐसे ज्ञान में लीन न हो सके तो ध्यान में लीन हो । ध्यान में लीन होने का अर्थ है कि किसी भी एक विषय पर, अन्तस्तत्त्व पर, द्रव्य गुण आदिक पर उपयोग लगाया, मनन किया तो उस ही ओर एकाग्र मनन चलना ध्यान कहलाता है । ध्यान भी एकसा नहीं चल सकता है, उसकी बदल होती है मगर उस विषय की बदल न करें जिस विषय को ध्यान में लिया है तो कुछ बदल भी होती रहे तो भी वह ध्यान कहलाता है । तो देखिये मुख्य बात है ज्ञान में लीन रहना । ज्ञान में लीन न रह सके तो ध्यान में लीन रहना और ध्यान में भी लीन न रह सके तो तपश्चरण करना, देखिये अन्तरंग वृत्ति का क्रम । तपश्चरण में तो नानाविधता है अनेक प्रकार की बात है । ज्ञान ध्यान में जिसकी लीनता नहीं है तो वह तपश्चरण करके अपने को पापभाव से बचाता है । तो यों जो पुरुष ज्ञानध्यान तप में लीन हो वह गुरु कहलाता है । ऐसा तपस्वी प्रशंसनीय है । यहाँ प्रकरण चल रहा था कि देव, आगम और गुरु इनका श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है । इसी से ही सम्बंधित है आत्मस्वरूप सो आत्मस्वरूप का श्रद्धान होना

सम्यग्दर्शन है । तो उस सम्यग्दर्शन में क्या-क्या विशेषतायें होती हैं अर्थात् जिन जीवों के सम्यग्दर्शन प्रकट हो जाता है उनमें मौलिक बात क्या आ जाती है उसका वर्णन करेंगे और वे ८ प्रकारों में बतायेंगे जिन्हें कहेंगे ८ अंग । उन ८ अंगों में से प्रथम अंग का वर्णन करते हैं ।

श्लोक 11

इदमेवेदृशं चैव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा ।
इत्यकम्पायसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसंशया रुचि: ।।११।।

देव के देवत्व के प्रति ज्ञानी की प्रखर श्रद्धा—देव शास्त्र गुरु का जो ज्ञान श्रद्धान पाया, आत्मा के सहज स्वरूप का जो ज्ञान श्रद्धान मिला, उसमें ऐसी दृढ़ता होना कि तत्त्व यही है, तत्त्व इसी प्रकार है, अन्य नहीं है, अन्य प्रकार नहीं है, इस तरह के अकम्प जरा भी न कंपे ऐसी रुचि होना सन्मार्ग में उसका नाम है नि:शंकित अंग । जैसे कि तलवार की धार पर पानी चढ़ाया जाता है तो और पानी तो ढुलमुल होता है, पर तलवार पर जो पानी चढ़ चुका वह पानी चलित नहीं होता, जहाँ का तहां ठहरा हुआ है । बर्फ भी बनता है पानी का, पर वह चलित हो जाता, पिघल जाता, बिखर जाता, पर तलवार की धार पर चढ़ा हुआ पानी बिखरता नहीं । उस पानी के चढ़ाने की कोई विधि है तब ही तो कहते हैं कि भाई यह अपने विचार से न हटेगा, इस पर पानी अच्छा चढ़ा हुआ हैं । तो वह चढ़ा हुआ पानी क्या कहलाता? वह एक दृष्टान्त है कि जैसे तलवार की धार पर चढ़ा हुआ पानी अचलित है ऐसे ही अचलित श्रद्धा जिसकी है, जिसमें रंच भी कम्पन नहीं चलायमानपना नहीं उसे कहते है नि:शंकित अंग । जिसके सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ है वह सिद्धान्त विरुद्ध भेष और क्रिया निरखकर वहाँ आकर्षित नहीं होता अपनी श्रद्धा से विचलित नहीं होता । देवों का स्वरूप देखिये—अनेक लोगों ने अनेक प्रकार का माना है । अनेक प्रकार के शस्त्र हाथ में लिए है, कोई गदा लिए, कोई चक्र लिए, त्रिशूल लिए, तलवार लिए, धनुष बाण लिए, यों कितने ही प्रकार के शस्त्र लिए है, और इतना ही नहीं, कितने ही देव तो स्त्रीसहित हैं और भक्तजन उनका बड़ा आदर भी करते । और वह स्त्री साथ ही बैठी हो, ऐसा उसका चित्र रखते हैं । उसमें लोग देवत्व की श्रद्धा करते हैं तो कारण क्या है कि देव का जो स्वरूप है वास्तविक कि जो वीतराग हो, सर्वज्ञ हो वह होता है देव, यह लक्ष्य में नहीं है या इस ओर उनकी दृष्टि नहीं है, यहाँ तो किसी ऐसे ब्रह्मचारी को भी नहीं माना जा सकता जो कि घर के दोनों ही स्त्री पुरुष एक साथ बैठे हों ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी रूप में और उनका साथ फोटो खिंचे । तो जैसे भगवान और भगवती हैं ऐसे ही ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी हो जाय यह भी स्वीकार नहीं किया गया । तब फिर जो शस्त्र लिए हो, स्त्री में आसक्त हो जिसका चारित्र ऐसा बना हो कि जरा-जरासी बात में क्रोध आये घमंड बगराये, मायाचारी करे, लोभ करे और जिसके ऐसी वाञ्छा रहती हो कि मैं लोगों को कुछ अपना करतब दिखाऊं तो ऐसा रागसहित, परिग्रह सहित आत्मा देव नहीं कहा जा सकता है । देव के स्वरूप पर सम्यग्दृष्टि की प्रखर श्रद्धा है।

आगम व गुरु के प्रति ज्ञानी की प्रखर श्रद्धा—आगम में ज्ञानी की प्रखर श्रद्धा है । समीचीन आगम वह है कि जिसमें लिखे हुए उपदेश विषयों से हटायें और आत्मस्वरूप में लगायें । वह है आगम । अब कोई भी

जीव विषयों से तब ही हट सकता और अपने स्वरूप में तब ही लग सकता जब उसको तत्त्वज्ञान हो । वस्तु का स्वरूप कैसा है, इस सम्बंध में यथार्थ ज्ञान हो तो मोह हटेगा । तो जिसमें वस्तुस्वरूप का परिचय कराया गया हो, हिंसा, काम, क्रोधादिक में जिसको वैराग्य कराया गया हो उसे आगम कहते हैं । ज्ञानी जीव को गुरु के विषय में भी दृढ़ श्रद्धा है । अनेक पाखंडी, लोभी, कामी, अभिमानी लोगों को लोगों ने गुरु मान रखा सो सम्यग्दृष्टि के चित्त में यह पूर्ण निर्णय है कि जो कुछ ग्रहण करता है वह गुरु नहीं है । छोड़ना-छोड़ना ही काम होता है गुरुवों का । वस्त्र छोड़ा, घर छोड़ा, आरम्भ छोड़ा, परिग्रह छोड़ा, ममत्व छोड़ा, यों छोड़ने-छोड़ने की बात हो होकर जहाँ एक ऐसी मुद्रा रह गई कि वह अब छोड़ी कैसे जा सके? निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा है तो ऐसे ही आत्मस्वरूप की उन्मुखता रखने वाले पुरुष निर्ग्रन्थ दिगम्बर गुरु कहला सकते हैं । गुरु का अन्य प्रकार नहीं, ऐसी देव शास्त्र गुरु के विषय में दृढ़ श्रद्धा होना, उसमें शंका न होना सो नि:शंकित अंग कहलाता है ।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के इहलोक भय का व परलोक भय का अभाव—जिसको अपने आत्मा के सही स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, उसको दुनिया में फिर कोई शंका नहीं रहती । शंका कहो, भय कहो, शंका से भय होता है । भय से शंका बनती है, जगत के जीवों को इस लोक का भय लगा हुआ है कि इस जीवन में मेरी आजीविका सही रहेगी या नहीं । इस प्रकार इस लोक सम्बंधी शंका बनी रहती है, मेरी इज्जत सही रहेगी या नहीं, पता नहीं कैसे-कैसे कानून बनेंगे । मेरा कैसे गुजारा होगा, ऐसा इस जीवन की शंकायें रखा करते है अज्ञानी, किन्तु ज्ञानी पुरुष की यह कोई शंका नहीं रहती, क्योंकि वह जानता है कि मेरा आत्मा पूरा है, इसमें दूसरे का कोई प्रवेश नहीं । मेरी कोई चीज मेरे से अलग होती नहीं, बाहर की चीजें हैं । जैसा परिणमें परिणमें, उससे मेरे में क्या हानि होती है, यह निर्णय है ज्ञानी का, जिसने आत्मा के सही स्वरूप का ज्ञान किया, इस कारण इसे इस लोक सम्बंधी शंका नहीं रहती । कभी यह जीव यदि परलोक की बात कुछ समझी है या चर्चा की है तो उसे परलोक सम्बंधी भी भय बन जाता है । मरकर मैं कहां जाऊंगा? किस गति में जन्म लूंगा, वहाँ मेरी क्या हालत होगी, ऐसी परलोक की शंका रखते हैं अज्ञानी, किन्तु जो ज्ञानी जीव है, जिसको आत्मा के स्वरूप का परिचय है वह जानता है कि मैं हूँ, मेरा स्वरूप है, मेरे स्वरूप में मेरी सारी बात है । परलोक जाऊंगा तो यह मैं पूरा का पूरा परलोक में रहूंगा, मेरा लोक और परलोक तो मेरा चह चैतन्य स्वरूप है । बाहरी चीजों से ज्ञानी अपना लोक परलोक नहीं मानता । अपने आत्म का बोध है इस कारण ज्ञानी को परलोक का भय नहीं रहता ।

सम्यग्ज्ञानी जीव के मरणभय का व वेदनाभय का अभाव—जीव को मरण का भय बहुत रहता है । मरणभय से सभी जीव दुःखी रहा करते हैं । नारकी जीव तो मरण चाहते हैं पर उनका मरण नहीं होता । जितनी आयु बची है उतनी आयु तक ही रहेंगे नरक में । इनके शरीर के खण्ड-खण्ड टुकड़े भी कर दिए जाते हैं, क्योंकि वे नारकी सब परस्पर लड़ते हैं लेकिन वे टुकड़े भी इकट्ठे हो जाते हैं और ज्यों का त्यों शरीर भर जाता है । फिर लड़ते हैं । जो वे नारकी चाहते हैं कि मेरा मरण हो जाय । नरक की वेदना बड़ी कठिन है और उनका मरण बीच में नहीं होता, क्योंकि उनका वैक्रियक शरीर हैं, बाकी तीन गतियों के जीव कोई मरण नहीं चाहते कैसी ही हालत हो जाय, वृद्ध हो गए, कुछ तकलीफ में हो गए, कैसी ही स्थिति हो जाय पर मरण किसी को प्यारा

नहीं, कोई मरण नहीं चाहता । पशु-पक्षी, कीड़ा मकोड़ा किसी को मरण इष्ट नहीं है । तो मरण का भय संसारी जीवों को लगा है किन्तु ज्ञानी जीव जिसने आत्मा के स्वरूप का परिचय किया है वह जानता है कि मैं तो अमर हूँ । मेरा जो अस्तित्व है वह कभी नष्ट नहीं होता । मैं तो सदा ही रहता हूँ, मेरा मरण नहीं होता । जैसे कोई पुरुष किसी घर में रहता है और घरों में चलता फिरता है, दूसरे घर में पहुंच जाता है तो आदमी तो जिन्दा है वही, ऐसे ही आत्मा आज इस शरीर में है कल दूसरे शरीर में है, भले ही कई गतियों में यह जन्म लेता रहा मगर आत्मा तो मूल में वही है, वह कष्ट नहीं होता । ऐसा जानने वाले ज्ञानी को मरण की शंका नहीं हुआ करती । भले ही रोग का रहता है । मेरे शरीर में कोई रोग न हो जाय, अथवा थोड़ा रोग हुआ हो तो यह न बढ़ जाय, तब क्या होगा? यह कठिन रोग लग गया है ऐसी चिन्ता और शंका रहती है, पर इतनी जानता है कि रोग है किसका । शरीर में कोई परिवर्तनसा हुआ है । वात पित्त कफ नसाजाल मांस आदिक में कुछ परिवर्तन हुआ है, इस ही का नाम रोग कहते है । तो शरीर तो मेरे आत्मस्वरूप से अत्यन्त भिन्न हैं, मैं शरीर से अत्यन्त निराला हूँ । मेरे आत्मा को रोग नहीं होता । वह बाहर शरीर में इस रोग को निरख रहा है, उसे रोग की शंका नहीं है।

सम्यग्दृष्टि जीव के अरक्षाभय का अगुप्तिभय का व आकस्मिकभय का अभाव—जीवों को अरक्षा का भय रहता है । मेरा कोई रक्षक नहीं, मेरा कोई समर्थक नहीं, इस प्रकार की शंका रहती हैं । ज्ञानी जीवा को यह शंका नहीं रहती । वह जानता है कि मेरा सहाय करने वाला मेरा भगवान आत्मा है । दूसरा कोई मेरा मददगार नहीं । जब मैं अपने भगवान आत्मस्वरूप की सुध करूँ तो सारे संकट टल जायेंगे । जब निज भगवान आत्म की सुध नहीं रखते, बाहरी पदार्थों में चित्त रमाया करते, तब फिर कौन सहाय बनेगा जिन बाहरी पदार्थो में रम रहे है वे भिन्न हैं, विनाशीक हैं, वे मेरे मददगार कैसे होंगे तो ज्ञानी जीव जानता है कि मैं परिपूर्ण हूँ, मेरा विनाश ही नहीं हैं, फिर रक्षा का प्रश्न क्या । सदा सुरक्षित हूँ । ज्ञानी जीव को अरक्षा की शंका नहीं रहती । अनेक जीवों को अगुप्तिभय रहता है कि मेरा मकान सुरक्षित नहीं हैं, किसी भी ओर से चोर आ सकते है, डाकू आ सकते हैं, चीजें चुरा ले जा सकते है, किवाड़ भी ठीक नहीं है, ऐसी अनेक प्रकार की कल्पनायें करके वे अपनी अगुप्ति का भय बनाये रखते हैं, किन्तु ज्ञानी जीव जानता हैं किं मेरे में अगुप्ति कहाँ है । मैं पूरा एक दृढ किले की तरह हूँ, जैसे मजबूत किले के अन्दर दुश्मन का प्रवेश नहीं हो सकता, ऐसे ही मेरे स्वरूप में किसी दूसरे का स्वरूप नहीं आ सकता । मैं परिपूर्ण हूँ अधूरा सत् नहीं होता, मेरी अगुप्ति कहाँ? पूरा मैं अपने प्रदेशों में चारों ओर से दृढ़ हूँ । ज्ञानी जीव को अगुप्ति का भय नहीं होता ।

अनेक जीवों को अकस्माद्भय सताता है । न जाने अकस्माद् ही क्या से क्या हो जाय? कहीं से बिजली गिर जाय, छत गिर जाय, और-और भी कल्पनायें करके बहुतसी शंकायें बन जाती हैं, पर ज्ञानी जीव को अकस्माद्भय भी नहीं हैं, क्योंकि वह जानता है कि मेरे में किसी दूसरे से कुछ होता ही नहीं । जो अपने ज्ञानमात्र स्वरूप को देखे और उस ही रूप अपना अनुभव बनाये रहे तो उसे काहे का कष्ट है पर अपने स्वरूप में रह नहीं पाता । बाहरी पदार्थों में अपने सुधार बिगाड़ की कल्पनायें करके दुःखी होते हैं और भय मानते हैं । तो ज्ञानी जीव को अपने आप में कोई शंका नहीं होती ।

दुर्लभ मनुष्यजन्म का सदुपयोग करने का संदेश—देखिये यह मनुष्यजन्म बड़ी कठिनाई से मिला है । संसार में कितनी ही तरह के जीव हैं—एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, चौइन्द्रिय आदिक, इन सब भवों में भी हम रहे । इन सब भवों में रुलते-रुलते अनन्तकाल व्यतीत हो गया । आज एक दुर्लभ मानव जीवन मिला तो इस जीवन में मेरे साथ क्या रहने का है जो भी समागम है वे सब मेरे से अत्यन्त भिन्न हैं, मेरे अब भी नहीं हैं, मरण होने पर तो तिनका भी साथ नहीं जाता । तब फिर बाहरी पदार्थों की कल्पना में क्यों अपना जीवन खोया जा रहा है जिस भाग्य के उदय से मनुष्य जन्म मिला हैं उसमें इतना भाग्य तो कम से कम है ही कि गुजारा चले, पर इतनी हिम्मत करना चाहिए कि जो भी साधन भाग्य से मिले उनमें ही गुजारा कर लूंगा । और किसी भी वाह्य पदार्थ से अपनी रक्षा न मानना, सुख न मानना, अपने ही स्वरूप को आनन्दमय निरखकर उस ही में तृप्त रहना, यह कला सीख लेना चाहिए इस जीवन में, इसे कहते हैं अध्यात्मकला । बाहर चित्त दे देकर अब दुःखी हो रहे है । शरीर, धन, वैभव, कुटुम्ब, परिजन, इज्जत प्रतिष्ठा आदि बाहरी बातों में चित्त दे देकर दुःखी हो रहे हैं । वे पुरुष धन्य हैं जो इस जीवन में अपने कल्याण को प्रमुखता देते है, बाकी सब चीजों को गौण रखते हैं । आत्मकल्याण करने के लिए ही यह मानव जीवन है, ऐसा निर्णय रखना चाहिये । ज्ञानी जीव के यह निर्णय है इस कारण उसके ये कोई भय नहीं होते ।

बाह्य पदार्थों के लगाव की व्यर्थता व अनर्थता—ज्ञानी जानता है कि मेरा वास्तविक वैभव क्या है? शरीर निराला हैं, मैं आत्मज्योति निराला हूँ । वही मेरा वास्तविक वैभव है । यह शरीर तो बाह्य पदार्थ है । जैसे तार और बिजली का करेन्ट, ये दोनों अलग चीजें हैं ऐसे ही शरीर और आत्मज्योति ये भी अलग-अलग चीजें है । जैसे तार के अन्दर वह बिजली रह रही है ऐसे ही इस शरीर के अन्दर वह आत्मज्योति रह रही है । तो यह शरीर तो तार की तरह है और आत्मज्योति बिजली की तरह है । शरीर निराला है, आत्मा निराला है, पर रह रहा है शरीर में । तो यह शरीर प्रमाण जो एक आत्मज्योति है वह ज्ञान स्वरूप है । मेरा धन ज्ञान स्वरूप है, अन्य तो परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है । यह देह मैं नहीं और देह के सम्बंधी स्त्री पुत्रादिक भी मेरे नहीं । ये भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं । ये सब भिन्न द्रव्य हैं । यह तो एक संयोग बन गया है । जैसे दिन भर विचरने वाले पक्षी रात्रि में किसी पेड़ पर इकट्ठे होते हैं, संयोग बन गया है, पर रात्रि व्यतीत होते ही अपने-अपने निर्दिष्ट स्थान को चले जाते हैं, ऐसे ही कोई किसी भव से आया कोई किसी भव से, किसी एक कुटी में कुछ जीव इकट्ठे हो गये और अपनी-अपनी आयु पूर्ण होते ही वे सब बिछुड़ जायेंगे । तो मेरे आत्मा के ज्ञानस्वरूप को छोड़कर कुछ भी मेरा नहीं है । सब मुझ से भिन्न हैं । जिनका संयोग हुआ उनका वियोग नियम से होगा और जगत में ऐसे सम्बंध अनन्तबार हुए, अनन्त बार बिछुड़े, फिर इन समागमों की शंका क्यों, वाञ्छा क्यों? जिनका संयोग हुआ उनका वियोग जरूर होगा । मैं तो ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, अमर हूँ, मैं नष्ट न होऊंगा । जिन जिनका संयोग हुआ है वे सब बिछुड़ जायेंगे, पर मेरा तो ज्ञानस्वरूप है, वह मेरे से बिछुड़कर कहीं जायगा? वही तो मैं हूँ । ऐसा दृढ़ निर्णय है ज्ञानी जीव के तो उसको बाह्य परिग्रहों के बिछुड़ने का भय नहीं रहता ।

बाह्यार्थविषयक विकल्प छोड़कर अन्तःप्रकाश में संतुष्ट होने का कर्तव्य—भैया, जितने समागम मिले हैं वे सब

बिछुड़ेंगे जरूर । चाहे अपने जीते जी ये सब बिछुड़ जायें और चाहे हमारे सामने खुद बिछुड़ जाये, पर बिछुड़ेंगे जरूर । तो अभी से अगर आत्मा के ज्ञान की बात न सीखी, आत्मज्ञान न समाया तो जीवन में ठिकाना नहीं है । दुःखी होकर मरना पड़ता है । यदि आत्मा का कुछ बोध है तो वह मरते समय दुःखी न होगा । वह तो अपने स्वरूप में उपयोग लगाकर प्रसन्नता के साथ जायगा । क्या है मेरा यहाँ, इसका उसे कुछ विकल्प नहीं । तो देखिये—मूल तो विपत्ति अज्ञान है । मगर जितना ये बाहरी समागम मिल जाते है उतना ही उसको दुःख उठाना पड़ता हैं, क्योंकि यह तो निश्चित है कि वियोग जरूर होगा और संयोग की चीज में प्रेम बहुत कर डाला, मोह बहुत कर डाला, तो जब वियोग होगा तब कष्ट होगा ही । ज्ञानी जानता है कि ये खेत मकान धन दौलत आदिक जो १० प्रकार के बाहरी परिग्रह हैं ये मेरे कुछ नहीं है । यह मैं जीव हूँ । ज्ञानस्वरूप हूँ । मुझ में बाह्य पदार्थ झलकते रहते हैं, उसका स्वरूप है, स्वभाव है । वास्तव में तो मैं किसी बाह्य पदार्थ को जानता भी नहीं हूँ । तो फिर किसको जानता हूँ? बाह्य पदार्थों का जो झलक हो रहा है यहाँ, बस उस झलकने वाली नित्य आत्मा को मैं जानता हूँ, जब मेरा इन बाहरी पदार्थों से जानने तक का सीधा सम्बंध नहीं तब किसी अन्य परमाणु मात्र से भी मेरा सम्बंध क्या हो सकता? सो यह सम्यग्दृष्टि जीव सर्व भयों से दूर हैं, और वह जानता है कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ । केवल ज्ञान-ज्ञान ही रहे जाननहार ही रहे तो मेरे सहज आनन्द रहेगा और जैसे ही इन बाहरी पदार्थो में कुछ भी ध्यान लगाया, ख्याल किया तो कष्ट होने लगता है । तो मेरा सहाय मेरा धर्म है, अन्य कुछ सहाय नहीं । धर्म के मायने मुझ आत्मा का स्वभाव केवल जाननहार रहे, इष्ट अनिष्ट कल्पनायें जगे, वहाँ कोई कष्ट नहीं रहता । इस प्रकार निःशंकित अंग का वर्णन किया, अब निःकांक्षित अंग का वर्णन करते हैं ।

श्लोक 12

कर्मपरवशे सांते दुखैरन्तरितोदये ।

पापबीजे सुखेनास्था श्रद्धानाकङक्षणा स्मृता ।।१२।।

पराधीन सुख में लगाव रखने के अपराध का ज्ञानी के अभाव—सम्यग्दृष्टि जीव के निःकांक्षित अंग होता है । वह किसी वस्तु की चाह नहीं करता और धर्म के एवज में तो कभी कुछ चाह होती ही नहीं । अज्ञानी जीव किसमें चाह किये हुए हैं? हम मनचाही चीजें खा पी लेंगे अमुक-अमुक चीजें छू लेंगे, छूने का सुख मान लेंगे स्वाद का सुख मान लेंगे गंध का सुख मान लेंगे, सुन्दर-सुन्दर रूपावलोकन कर लेंगे, कर्णों से खूब राग रागनी के शब्द सुनकर मौज मान लेंगे, इस प्रकार की चाह अज्ञानी जीव किया करते हैं । अब जरा देखो तो सही कि ये सुख है कहा ? सर्वप्रथम तो ये कर्म के अधीन है । यदि कर्म का उदय हो तो वे चीजें भी मिल जायें जिनको इन्द्रियों द्वारा भोगा जाता । तो सर्वप्रथम सर्व कुछ समागम सांसारिक सुख कर्माधीन हैं । और ये सब सांसारिक सुख मात्र कर्माधीन है इतना ही नहीं किन्तु इनका विनाश होता है । कर्म के अधीन तो है पर पुण्यकर्म का उदय आये बिना करोड़ों उपाय कर लिये जायें फिर भी सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती । वे जीव तो पौद्गलिक है जो इस जीवन में सुख दुःख भोगने के लिए नाना प्रकार के विकल्प करते हैं नाना प्रकार की चिंतायें रखते है । जो उदय में है सो होगा । और फिर सांसारिक समागमों की अभिलाषा ही क्यों रखना ।

आत्मा के स्वरूप को देखें उसमें ही रमे और प्रसन्न रहें । यह काम करने को है वास्तव में पर जिसके अज्ञान छाया है वह बाह्य पदार्थो की आकांक्षा करता है । संसार के जितने सुख हैं वे सब कर्म के अधीन हैं । वे कर्म अन्त करके सहित है जो कि पराधीन सुख है वे आखिर कितने दिनों तक भोगे जा सकते? वे सब विघट जायेंगे । तो इन्द्रियजन्य जितने सुख है वे अपने इष्ट विषय के अधीन है । इष्ट का समागम जो है वह जब नष्ट हो जायगा तब सुख भी नष्ट हो जायगा ।

विनश्वर और दुःखव्याप्त सांसारिक सुख के लगाव के अपराध की ज्ञानी में असंभवता—यहाँ का सुख क्षणभंगुर है । जैसे बिजली चमकती है और समाप्त हो जाती है ऐसे ही संसार का सुख क्षणभर को मिला और समाप्त हो जाता है । कुछ ही दिनों के लिए ये सब साधन मिल रहें हैं । तो आप यह सोचें कि इस अनन्तकाल के सामने यह १०-२०-५० वर्ष का जीवन क्या गिनती रखता है? इसकी क्या गिनती समुद्र के एक बूंद बराबर भी नहीं । यह इन्द्रियसुख क्षणभर है पराधीन है पराधीन है । तो जिस सुख में इतनी पराधीनतायें हैं वे सब हेय हैं । ये सब सुख विनाशीक हैं । अच्छा तो दो बातें सांसारिक सुख में मिली—(१) ये सांसारिक सुख कर्मोदय के अधीन हैं और (२) विनाशीक हैं । अब तीसरी बात देखिये—जितने समय को ये सांसारिक सुख मिलें है उतने समय भी ये सुख नहीं रहते । बीच-बीच में अनेक दुःख आते रहते हैं । एक दिन तो क्या एक घण्टा भी सुख से लगातार किसी का नहीं गुजरता । तो बीच-बीच में दुःख का उदय आता रहता है । कैसे? खूब धन है खाने पीने पहिनने ओढ़ने आदि के अच्छे साधन हैं बड़ा आराम है, मगर कोई रोग हो जाय तो उसका धन वैभव का आराम क्या रहा? तो एक तरह का सुख तो है कल्पना का किन्तु उसमें दुःख अनेक भरे पड़े हैं । वैभव है खूब और स्त्री पुत्र मित्रादि किसी का मरण हो गया, वियोग हो गया तो जो बाहरी समागम का सुख मिला है उसकी क्या कीमत हुई? कभी अपमान हो जाता हैं । जो जितना बड़ा बन गया लोक में वह उतना ही अधिक जरा-जरा सी बात का अपमान महसूस करता है उसका ही दुःख लगा हुआ है । कभी धन की हानि हो गई । सुख तो था, आमदनी तो खूब थी मगर अचानक धन नष्ट हो गया तो लो वहीं एक दुःख आ गया । दुःख के कुछ नाम नहीं खुद की कल्पना से अनेक दुःख हैं मगर एक दुःख के बाद जब दूसरा दुःख आता है तो लोग यह कहने लगते हैं कि इससे तो वही दुःख अच्छा था । अब दूसरा दुःख उसे बिल्कुल हल्का लगने लगता । अब दूसरे दुःख के बाद कोई तीसरा दुःख आ जाय तो वह तीसरा दुःख दूसरे दुःख की अपेक्षा बड़ा मालूम होता है । याने पहले का दुःख उसके अन्दर बना रहता पर नवीन दुःख के आ जाने से पहले वाले दुःख का ध्यान नहीं रख पाता पर वह दुःख निरन्तर बना रहता है सांसारिक सुखों को भोगते हुए भी उनके बीच में निरन्तर दुःख बना रहता है । उन सांसारिक सुखों में यह जीव कल्पित मौज मानता है पर वे सब सुख दुःखों से भरे हुए हैं । सम्यग्दृष्टि जीव ऐसे सुखों में लीन नहीं होते वे अन्याय से अहित से दूर रहते हैं । अपने स्वरूप को जान लेने के कारण वे अपने आप में ही तृप्त रहते है । बाहरी पदार्थों में उनका चित्त नहीं रमता । सुखी होना है तो ज्ञानी बने, दूसरा कोई उपाय नहीं है सुखी शान्त होने का । तो ज्ञान मायने क्या? अपने आत्मा के सहज स्वरूप का परिचय पा लेना । यदि यह काम कर लिया गया तो सारे संकट दूर हो जायेंगे ।

पराधीन विनश्वर दुःखव्याप्त पापबीज इन्द्रियसुख में ज्ञानी का अनादर—सम्यग्दृष्टि के

नि:कांक्षित अंग का वर्णन चल रहा । सम्यग्दृष्टि जीव को संसार के सुखों में आकांक्षा नहीं रहती । सांसारिक सुखों में आदर रंच भी नहीं रहता, क्योंकि ये संसार के सुख पराधीन है, कर्म के अधीन हैं । और विषयसाधन मिलें उनके अधीन हैं । इन्द्रियां अपनी सही रहें उसके अधीन हैं । शारीरिक सुख भोग के लायक हों उसके अधीन हैं । अनेक पराधीनतायें है संसार के सुखों में । सो उनको अधिक क्या समझाना आप सब समझ ही रहें है । थोड़ासा भी संसार का सुख लिया, तो उसके लिए कितना क्षोभ मचाना पड़ता एक भोजन का ही सुख ले लो । कितना भोजन तैयार करने में श्रम, कितने उसके सभी कामों में श्रम, तब १० मिनट का स्वाद सुख मिलता है ऐसी ही सभी इन्द्रियों के विषय की बात है । इन विषयों के सुखों में ज्ञानी जीव को आदर नहीं रहता और ये सुख पराधीन हैं इतनी ही खराबी नहीं किन्तु ये विनाशीक है । किसका सुख सदा रह सकता है? जीवन में सुखदु:ख आरे की नाई घूमता रहता है । कभी सुख कभी दुख । दुःख में बड़ा सुख है । सुख के बाद दुःख है । और विनाशीक है इतनी ही बात नहीं किन्तु जितने बाहरी सुख मिले है उसके बाहर में भी अनेक दु:ख भरे हुए हैं उस सुख के साथ । तो ऐसे सुखों में सम्यग्दृष्टि जीव को आदर नहीं रहता । और ये इन्द्रियजन्य सुख पाप के बीज है इन सुखों में आसक्त होने से ही पाप का बंध होता है । जिसका फल आगामी काल में दुःख भोगना है । इन इन्द्रियजन्य सुखों के वश होकर जीव संसार में चारों गतियों में परिभ्रमण करता है । नरक में कौन जीव जाता? जो विषयों में अधिक आसक्त हैं । जैसे परस्त्रीगामी वेश्यागामी मद्यमांस भक्षी चोर डाकू हत्यारे आदि ऐसे लोग पापकर्म का बंध करते हैं और नरकगति में जन्म लेते हैं । तो क्यों जन्म लेना पड़ा कि उनको संसार में विषयसुख प्यारे थे । जितने भी कुकर्म होते हैं वे विषय सुखों के लोभ से ही होते हैं । सम्यग्दृष्टि अपने आत्मीय सहज आनन्द का परिचय है इस कारण विषयों में उसका आदर नहीं होता।

सहजपरमात्मतत्त्व के अनुभवी आत्मा के सहज आत्मीय आनन्द का लाभ—सम्यग्दृष्टि का आनन्द तो सहज है । आत्मा हूँ जो हूँ सो धीरता पूर्वक वैसाही जाननहार रहूँ, वहाँ आनन्द ही आनन्द बरषता है । जहाँ पर पदार्थ पर दृष्टि है किसी भी पर से सुख की आशा मान रखी है वहाँ ही बैचेनी होती है । बड़े-बड़े तीर्थंकरों ने जिनकी बड़ी विभूति थी उन्होंने भी विषय सुखों को त्यागकर आत्मा का ध्यान किया तब आनन्द पाया । हम आप प्रभु के तो दर्शन करें रोज-रोज और विषयों से ही सुख है ऐसा भाव बनाये रहें तो दर्शन नहीं किया । जिसके दर्शन करते हैं उसमें जो गुण हैं उनकी जो वृत्ति है वह हम को सुहा जाय तो उसे दर्शन कहते है तो जो विषयसुखों का लोभी विषय सुखों में ही आसक्ति कर रहा है उसको प्रभु का दर्शन कैसे? प्रभु का जिसने दर्शन किया उसने यह परखा कि प्रभु ने पहले इन्द्रियों पर विजय किया आत्मा के ज्ञान का अनुभव किया आत्मीय आनन्द का अनुभव किया उसके फल से कर्मों का क्षय करके अनन्तकाल के लिए वे संसार के संकटों से मुक्त हो गए अच्छा जरा यह भी तो सोचो कि एक इस भव में खूब मौज से रह लिया अव्वल तो किसी का ऐसा हो नहीं सकता कि वह जीवनभर मौज में रहे खूब विषयों का आराम भोगे । अब क्या होगा? बुढ़ापा न आयगा क्या? बुढ़ापा में आराम से किसी इन्द्रिय का सुख भोगा जा सकता है क्या? अरे सारी इन्द्रियाँ शिथिल हो जातीं । यहाँ तक कि पेट में खाना भी नहीं खा पाता सो वह बुड्ढा दूसरों को खूब खाता पीता देख मन ही मन कुढ़ता है—हाय मैं क्यों नहीं भोग पाता । इसी भव में यह हालत है । मान लो किसी तरह इस भव में

आराम से दिन गुजर गये तो अगला भव कैसा मिलेगा सो तो विचारो । यदि स्वभाव की दृष्टि न बनी हो और विषयों में ही आसक्त रहें हो, बाह्य पदार्थों से ही अपना शरण माना हो तो उसके भली गति कैसे हो सकती है? आगे दुःख भोगेगा । तो क्या मंजूर है कि मैं खूब जन्म मरण करता फिरूँ और दुःख भोगता फिरूँ? अगर नहीं मंजूर है तो फिर जैन शासन के बताये हुए मार्ग पर चलो । प्रभु ने बताया कि सर्वप्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करो उसके बिना धर्म में आपका रथ न चलेगा । वह सम्यक्त्व क्या चीज है? सर्व विकल्प छोड़कर आराम से बैठ जायें । जो मैं सही हूँ सो ही अपनी जानकारी में रहे मुझे कुछ अन्य नहीं जानना है । ऐसा अपने प्रभु के प्रसाद का आग्रह करके आराम से बैठूँ, सबको भूल जाऊं कोई परवस्तु मेरे ख्याल में न रहे तो भगवान आत्मा से वह आनन्द उमड़कर अनुभव में आयेगा और वहाँ ज्ञात होगा कि वास्तव में आत्मा कैसा है । जिसको आत्मीय आनन्द का अनुभव हो वह इन विषयसुखों में प्राप्ति न करेगा ।

सांसारिक सुखों की पीड़त रूपता—संसार में जितने इन्द्रियजन्य सुख हैं वे सुख नहीं हैं किन्तु कोई पीड़ा हुई है उसका इलाज है । जैसे भूख की पीड़ा है, भूख बर्दाश्त न हो तो भूख का इलाज किया जाता है खाकर । खाने से सुख नहीं मिला किन्तु जैसे किसी को १०५ डिग्री बुखार है और घटकर १०१ डिग्री रह जाय तो वह कहता है कि मेरी तबीयत अच्छी है । अरे बुखार तो अब भी १०१ डिग्री बना है तबीयत अच्छी कहा है मगर बुखार कम हो गया इससे कहता है कि मेरा स्वास्थ्य अच्छा है । तो ऐसे ही समझो कि ये जो संसार के सुख हैं उनमें कुछ दुःख कम हो गया है पर दुःख तो है ही है । भीतर बेहोशी व्याकुलता भय शंका आदि सब बातें चल रही हैं तो दुःख दूर नहीं हुआ किन्तु दुःख कम हो गया इस कारण मोही जीव मानता है कि मेरे को सुख हुआ है । अरे यह सुख नहीं किन्तु सुखाभास है । प्यास की पीड़ा हुई तो जैसे पानी पीकर उसका इलाज कर लिया ऐसे ही पाँचों इन्द्रियों की पीड़ा होती है और उस पीड़ा का इलाज किया जाता है विषय सुख भोगकर वास्तव में वह आनन्द नहीं है । जिसमें आनन्द है वह विषयों सुखों का इलाज क्यों करेगा? जैसे जिसके कान में रोग नहीं हैं बकरे का मूत्र कान में क्यों डालेगा । अथवा जिसके कोई फोड़ा फुंसी नहीं वह मलहमपट्टी क्यों करेगा? भगवान के अनन्त आनन्द है । तो जिसको समता है और आत्मानुभव का आनन्द है वह क्यों विषयसुखों की ओर मुख करेगा? जिसको वेदना है वे ही विषयसुखों से प्रीति करते हैं । तो ये विषय सुख पाप के बीज है । उन सुखों में आदर न करना इसको बोलते हैं अनाकांक्षा ।

सम्यग्ज्ञानी का वास्तविक लक्ष्य—जो ज्ञानी गृहस्थ हैं घर में रहते हैं सम्यक्त्व जिसके हो गया है तो गृह में रहते हुए सभी तरह के सुख भोगता है मगर उसकी बुद्धि सही है । वह जानता है कि यह गृहस्थी का सुख भोगना यही मेरा अन्तिम लक्ष्य नहीं है, मेरा लक्ष्य है सिद्ध होना । सबको अपने मन में यह सोचना चाहिए कि मुझे तो सिद्ध होना है, इससे पहले की जो कुछ अवस्थायें हैं संसार की देव बनना राजा बनना चक्री बनना आदि ये सब मुझे कुछ न चाहिए । मुझे तो सिद्ध भगवान होना है । अपना यह लक्ष्य बनायें कि मुझे तो केवल आत्मा ही आत्मा रहना है । हम आप तीन प्रकार की चीजों में बंधे हैं—(१) जीव (२) कर्म और (३) शरीर । याने शरीर कर्म और जीव इनका मिलाकर यह पिंडोला है । सो जब तक ये तीन मिलते रहेंगे तब तक अपनी खैर नहीं । जैसे कहते ना कि बकरे की माँ कब तक खैर मनायगी आखिर एक न स्व दिन बकरा मरेगा जरूर

ऐसे ही इन तीन चीजों के रहते हुए जीव कब तक खैर मनायगा? भव-भव के कष्ट भोगेगा जरूर । तो अपना यह लक्ष्य कैसे बने कि मैं आत्मा केवल आत्मा रह जाऊं । इस केवलपने में ही आनन्द है अन्यथा नहीं है । तो सोचिये ऐसा रहना आपको पसंद है या नहीं? याने जो तीन चीजों का पिण्ड है शरीर कर्म और जीव तो इनमें शरीर और कर्म छूट जाये केवल आत्मा ही आत्मा ज्ञान ज्योति रहे यह बात आपको पसंद होनी चाहिए । इसमें बिगड़ता नहीं है कुछ । बल्कि सुधरता हैं सब कुछ । मान लो मोह-मोह में ही सारा जीवन बिताया तो उसमें लाभ क्या मिलेगा? आखिर उसके फल में रोना ही रोना होगा । इससे पहले के भवों में जिन जिनसे मोह किया वे कोई साथ है क्या? जिन जिनका संग प्रसंग रहा वे कोई भी तो आज साथ नहीं हैं ऐसे ही आज इस भव में जो कुछ दिनों का संग प्रसंग मिला है यह भी अगले भव में साथ न रहेगा । आज इस भव में मिले हुए लोगों से मिलजुल रहे हैं मरकर दूसरे भव में जायेंगे वहाँ भी जो समागम मिलेगा उसमें मोह चलेगा । तो मोह चला चलाकर क्यों नहीं थकते? क्यों नहीं यह बुद्धि बनती कि मोह न करना । देखिये—गृहस्थ पुरुष निर्मोही तो रहे पर गृहस्थी का काम राग किये बिना नहीं चलता । दो बातें ध्यान में रखें—मोह और राग । मोह तो कहते हैं परवस्तु से ऐसा निकट लगाव रखना कि यह मन में निर्णय रहता कि इस परवस्तु के बिना मेरी जिन्दगी ही नहीं मेरा सारा शरण यह ही है । पर को और अपने को एकमेक करके रहना यह तो कहलाता हैं मोह और मोह न रहे ज्ञान तो सही बन जाय कि यह पर है और यह मैं ज्ञानस्वरूप हूँ ये जीव अलग वस्तु है मैं जीव अपने स्वरूपमात्र हूँ यह वैभव भिन्न है शरीर निराला है मैं ज्ञानज्योति हूँ मेरा काम मेरे में ही होता है । मैं अपना ही कर्ता भोक्ता हूँ पर पदार्थ अपने कर्ता भोक्ता हैं । ऐसा जानकर मोह दूर किया, लेकिन जब तक घर में रह रहें हैं, नहीं है इतनी सामर्थ्य के गृह त्यागकर मुनिव्रत धारण कर ले घर में रहना पड़ रहा तो घर में रहकर राग किया जायगा । एक दूसरे की सम्हाल करना, पालन पोषण करना अच्छे वचन बोलना दूसरों को धैर्य धारण कराना ये सब काम गृहस्थी में होंगे तो वे काम राग के कहलाये । सो इस राग बिना तो न चलेगा घर में रहना पर मोह बिना चलेगा भीतर में सही ज्ञान बनाये रहें कि मेरा आत्मा मेरे स्वरूपमात्र हैं इनका आत्मा इनके स्वरूपमात्र है । सत्य ज्ञान बनाये रहें और घर में रहने के नाते से रागव्यवहार पालन पोषण करते रहें ।

निर्मोहता के कारण गृहस्थ के भी व्याकुलता का अभाव—भैया, धर्म किसी को दुःख देने के लिए नहीं होता, सबके सुख के लिए होता है । खुद के सुख के लिए होता है अब बतावो कि गृहस्थ निर्मोह होकर राग व्यवहार करता हुआ घर में रहे तो कुछ काम में कमी आती है क्या? अरे आजीविका चलती है, घर चल रहा, सब कामकाज ठीक चल रहा, पर ज्ञानप्रकाश हो गया जिसके कारण अब उसे भीतर में व्याकुलता नहीं रहती । कितनी ही कठिन परिस्थिति आ जाय वह अधीर नहीं होता । समस्त दुःखों को जानता कि ये तो कुछ भी दुःख नहीं है । इनसे भी कई गुने दुःख हुआ करते हैं अथवा यह तो परवस्तु का परिणमन है । उससे मेरे आत्मा में क्या आता? दुःख जितना भी माना जा रहा है वह अपने आत्मा में कल्पनायें करके माना जा रहा है । ज्ञानी जीव को विषय सुखों में आस्था नहीं रहती । रोग को कौन चाहता? पर रोग आ जाय तो इलाज करता या नहीं? इलाज करता हुआ भी क्या यह चाहता है कि मेरे ऐसा इलाज हमेशा चलता रहे क्योंकि इसमें

बड़ा आराम है । बड़े ठाठ हैं, अच्छा कमरा है । कई नौकर चाकर है, अनेक लोग पूछताछ करते रहते है । अनेकों नाते रिश्तेदार सेवायें करने के लिए आते जाते रहते हैं, डाक्टर भी समय पर हाजिर रहता है, कोमल स्प्रिंगदार पलंग पर आराम से पड़े रहते हैं, बताओ ये सब आराम के साधन हमेशा के लिए चाहता है क्या वह रोगी? अरे वह तो चाहता है कि मुझे कब इस झंझट से छुट्टी मिले मेरा रोग दूर हो और मैं प्रतिदिन एक दो मील टहलने जाया करूं । यों ही रोगी उन सब साधनों में राग तो करता है क्योंकि समय पर दवाई न मिले तो झुँझलाता है, सेवा पाने में कुछ कमी हो तो नौकरों पर नाराज होता है, पलंग में कुछ कोमलता कम हुई हो झुँझलाता है यों राग तो उन सब साधनों में पर उसे उनसे मोह नहीं है । वह नहीं चाहता उन सब साधनों को, परन्तु परिस्थितिवश करना पड़ता हैं ठीक यही हालत है सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव की । व्यवहार में रहकर उसे करना पड़ता है, सब पर वह समझता है कि ये सब खटपटें करना मेरा काम नहीं, यह सब तो मुझे करना पड़ रहा है रहना पड़ रहा है गृहस्थी में पर यह सब मेरा काम न था । अब ये सब वेदनायें लगी हैं सो उनका इलाज भी करना जरूरी है सो करना पड़ता है पर मेरा कर्तव्य यह न था । मेरा काम था इन सबसे आगे होकर मात्र अमूर्त ज्ञानमात्र आत्मत्व में लीन होना ।

अमूर्त आत्मा में स्वयं कष्ट का अभाव होने से कष्टप्रतीकार की अनावश्यकता—मैं आत्मा आकाशवत् अमूर्त हूँ । इस शरीर से भिन्न ज्ञान ज्योतिमात्र हूँ । बस मैं आत्मा अकेला ही रह जाऊं यही मेरा करने का काम था, बाकी तो सब फिजूल के काम हैं । इस अमूर्त आत्मा को कोई बाधा नहीं दे सकता छत पर्वत आदिक से यह छिड़ नहीं सकता । लोग तो बताते हैं कि वैज्ञानिकों ने ऐसा भी किया कि एक कांच के मकान के अन्दर किसी मरणहार व्यक्ति को रख दिया और ऐसा कांच से बन्दकर दिया कि जिससे जीव तक के निकलने की जगह न रहे । पर क्या हुआ कि उस व्यक्ति के मरते ही जीव निकल गया, कांच तड़क गया, ऐसा लोग बताते हैं, पर यह बात मानने योग्य नहीं । जीव तो अमूर्त है, अमूर्त पदार्थ का मूर्त से भिड़ना हो सकता? तो यह अमूर्त आत्मा को कोई मूर्त पदार्थ बाधा दे नहीं सकता यह तो हालत है इस समय जबकि जीव कार्माण शरीर में बंधा हुआ है । और जिसके कार्माण शरीर भी नहीं रहता, कर्मों का क्षय हो जाता यह पुरुष तो एक समय में सिद्धलोक में जाकर विराजमान हो जाता है । तो जीव को यों समझिये जैसे तार अलग बिजली अलग । मगर बिजली का आधार तार है ऐसे हीं जीव अलग शरीर अलग, मगर जीव का वर्तमान आश्रय यह शरीर है । आज कितना प्रिय लग रहा यह शरीर इस जीव को, मगर यह शरीर प्रीति किये जाने योग्य नहीं । यह एक दिन इन्हीं मित्रजनों के द्वारा जला दिया जायेगा यही सबको आनी है । अगर ये मनुष्य मरते न होते तो यहाँ संसार में पैर रखने को जगह भी मिलना मुश्किल पड़ जाता । मान लो १०० वर्ष तक भी अगर कोई मरे नहीं और पैदा होते जायें तो भी यहाँ पैर रखने को जगह न मिलेगी पर ऐसा नहीं होता । मरण सबका नियम से होता तो जो शरीर अभी कुछ ही दिनों में जला दिया जायगा । वह प्रीति करने लायक नहीं है । हां यह शरीर तो हम आपको काम करने के लिए मिला है । जब तक शरीर में बल है । जब तक इस शरीर में बल है तब तक इससे काम ले लें । वैसे जरूरत नहीं है इस शरीर की, पर जब साथ लगा है और शरीर की कुछ खुशामद

भी करते तो फिर इस शरीर से कुछ काम ले लीजिए । इस शरीर के प्रति आसक्ति का भाव रखना योग्य नहीं । मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूँ । ऐसा भीतर में ज्ञानप्रकाश रहे । मुझे ये संसार के सुख न चाहिए मेरे को तो मेरा स्वाधीन आनन्द चाहिए ।

परभावों में ज्ञाता की अनास्था—एक जमाना था जबकि लोग विवाह बारात में दूसरों से गहना (जेवर) माँगकर उसे पहिनकर जाया करते थे और सबके बीच बैठकर बड़ी ठसक बताते थे । मगर यह भी तो सोचो कि यदि दूसरों को पता पड़ गया कि यह तो किसी से माँगकर जेवर पहिन आया है तो क्या इज्जत रह गई उसकी? उसकी तो सारी शोभा बिगड़ गई । और मान लो कि कदाचित कोई दूसरे लोग न भी समझ पायें कि मांगा हुआ जेवर पहिनकर आया है तो खुद की आत्मा तो जानता है, कि मांगा हुआ जेवर है, खुद का नहीं, इसमें क्या ठसक दूसरों को दिखाना? तो ऐसे ही समझो कि यह संसार का जो वैषयिक सुख है वह माँगा हुआ हैं, पराधीन है । किससे उधार लिया? पुण्यकर्म से । हमारी गाँठ का नहीं है । तो उधार ली हुई कब तक अपने साथ रहेगी, वह तो सब जायगी । गाँठ की जो चीज है वह अपना सहज आनन्द है वह कहीं न जायगा । उस सहज आनन्द को पाने का लक्ष्य बनाइये और इन उधार मिली हुई चीजों का लक्ष्य न रखिये—यह तो हमारी कमजोरी है, वेदना है, भोगना पड़ता है, मगर इसको मैं नहीं चाहता । मैं तो अपना निजी स्वाधीन आनन्द ही चाहता हूँ, ऐसा चित्त में संकल्प होना चाहिए । ज्ञानी जीव का यह निर्णय है इस कारण उसे विषयों के सुखों में अनुराग नहीं रहता । यह कहा जा रहा है सम्यग्दृष्टि का दूसरा नि:कांक्षित गुण । इसमें एक बात ओर विशेष समझिये कि घर में रहने पर क्या यह इच्छा नहीं होती कि दूकान में या कारखाने में बैठने पर मेरी आमदनी हो? होती है इच्छा मगर धर्म के स्थान में जाकर या धर्म का कोई काम करके चाहना कि मुझे पैसा मिले, तो यह पाप है । इसमें सम्यक्त्व नहीं रहता । आकांक्षा भी दो तरह की हो गई—एक तो धर्मधारण कर के इच्छा करना और दूसरी—धर्म के एवज में नहीं किन्तु जरूरत के कारण इच्छा करना, इन दोनों में बड़ा अन्तर है । जरूरत के कारण ज्ञानी के इच्छा होती है मगर धर्मधारण करके उसके एवज में संसार के सुख और साधनों की इच्छा ज्ञानी के नहीं होती । उस धर्म के प्रसंग में तो के वल धर्म की धुन रहती है । मैं आत्मा अपने सहज ज्ञानानन्द को अनुभवूं जैसा कि प्रभु ने अनुभवा है । धर्म के प्रसंग में केवल यही भावना रहे । तो ऐसा सम्यग्दृष्टि के नि:कांक्षित अंग का वर्णन हुआ ।

श्लोक 13

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते ।
निर्जुगुप्सागुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता ।।१३।।

सम्यग्दृष्टि का आन्तरिक और बाह्य निर्विचिकित्सित अङ्ग—सम्यग्दृष्टि जीव का अंतरंग कैसा होता है और बाहर में प्रवृत्ति कैसी होती है उन अंगों का वर्णन चल रहा है । इस श्लोक में निर्विचिकित्सा अंग बताया जा रहा है । निर्विचिकित्सा का अर्थ है ग्लानि न करना चित्त को मलिन न बनाना । अन्तरंग स्वरूप को देखकर प्रसन्न रहना । यह शरीर प्रकृत्या अपवित्र है । हम आपके शरीर में नीचे से ऊपर तक क्या बसा है? हड्डी, मांस, मज्जा, नसाजाल, चामरोम आदिक ये सब तो इस शरीर में पड़े हैं, कुछ सारभूत बात है क्या? तो यह

शरीर से अपवित्र है, किन्तु इस शरीर में रहने वाला कोई भव्य जीव यदि रत्नत्रय से पवित्र है जिसे आत्मा का श्रद्धान सही है ज्ञान सही है और अपने में ही रमने का जिसका पुरुषार्थ चल रहा है उस मुनि के शरीर में देखो तो लोग मंगलपना मानते हैं । कहते कि यह पवित्र है । रत्नत्रय के संयोग से पवित्रता कही जा रही है । ऐसे उस मुनि आदि के शरीर में कोई रोग हो जाय उसकी सेवा करें तो सेवा करने में ग्लानि न रखना, चित्त को मलिन न रखना सो निर्विचिकित्सा अंग है । जिसने सम्यक्त्व पाया वह दूसरे सम्यग्दृष्टि सम्यग्ज्ञानी संयमी जीवों को देखकर प्रसन्न रहता है । रास्ते में जा रहा हो पैदल या किसी प्रकार और जिस जगह जाता है उसी जगह का जाने वाला और मिल जाय तो कितना प्रसन्न होते हैं आप? एक से दो, दो से चार हो गए । तो ऐसे ही जो सम्यग्दृष्टि पुरुष है उसका निर्णय है कि मोक्ष में जाना और मोक्ष में जाने का प्रयत्न करने वाले साधुजन दिख जायें तो उसे कितना हर्ष होता है और जिसके प्रति हर्ष होता है, उसकी सेवा करने में ग्लानि का परिणाम न बनना । माता पिता को अपना बच्चा प्रिय है तो बच्चे की सेवा करने में चाहे वह बच्चा शौच कर दे, मूत्र कर दे तो भी उस बच्चे के प्रति म्लान परिणाम नहीं करते । ऐसे ही साधुसंत जनों की सेवा करने में कोई व्याधिवशकय हो जाय, दस्त होने लगे कैसी ही स्थिति हो उससे ज्ञानी जीव मलिनता का परिणाम नहीं लाता । अब उसके अंतरंग से परखिये कितने ही पूर्व के बंधे कर्म हैं उनका उदय आता है तो किस भव का पाप का उदय आया और कैसी ही स्थिति हो जाय तो कोई उपसर्ग हो क्षुधा आदिक वेदना हो, दरिद्रता हो कुछ भी स्थिति आये उस स्थिति को कर्म की दशा जानकर ज्ञानी जीव अपने परिणाम में म्लानपना नहीं लाता । खेद हो या उस पर कुछ ग्लानि बने । ज्ञाता दृष्टा रहता है । यह है सम्यग्दृष्टि का निर्विचिकित्सा अंग ।

सहजात्मस्वरूप होने पर भी अज्ञान में व्याकुलता की चेष्टायें—दूसरे जीवों को भी जब यह ज्ञानी देखता है तो मूल में परखकर लेता कि यह है सहजात्मस्वरूप अर्थात् सहज आत्मस्वरूप । जो प्रभु का स्वरूप है सो सब जीवों का स्वरूप है । एक दरवाजे पर मकड़ा बैठा था, आज की बात है, तो देखा तो वह कुछ चलने लगा । मालूम होता कि उसके आंखें भी होती और कान भी होते । आवाज होने पर वह भागता भी था, तो उसे देखकर हमारे मुख से अचानक ही ये शब्द निकले—अहो सहज परमात्मस्वरूप । इस मकड़े के आत्मा का स्वरूप भी वैसा ही पवित्र है जैसा कि अन्य सब आत्मावों का । और उसकी भी पर्याय देखकर कि ऐसी पर्यायें इस जीव ने हम आपने कितनी बार पायी हैं । क्या जीवन हैं कीड़ों का, मकोड़ों का, मकड़ियों का । ऐसी पर्याय जब पायी गई । आज एक मनुष्य पर्याय में हैं तो भी हर भवों की तरह रागद्वेष मोह में आसक्त हो रहे । एक बड़ी चिड़िया थी हम इसी आंगन में बैठे थे, तो वह चिड़िया बार-बार मेरे सिंर पर से निकले, एकदम निकट से चोंच तो नहीं लगाया, पर ५-७ बार निकली वह चिड़िया । मैंने सोचा किं बात क्या है, मैंने इसका कोई अपराध तो किया नहीं; पर ऐसी गुस्सा भरी दिख रही थी जैसा कि मानो मैंने उसका कोई बिगाड़ किया हो । थोड़ी देर में मैंने सोचा कि शायद इसका बच्चा गुम गया है जो मेरी पिछी में बच्चे का भ्रम करके आ रही हो फिर मैंने ज्यों ही नीचे की ओर देखा तो क्या देखा कि उस चिड़िया का एक छोटा बच्चा नीचे चल रहा धीरे-धरि । और उस बच्चे के ही कारण वह चिड़िया बड़ी बेचैन होकर मेरे पास से बार आती जाती थी । तो देखिये चिड़ियों को भी अपने बच्चों पर कितना तीव्र मोह होता है । दम आपको तो उनके बच्चों पर कुछ प्यार

नहीं होता पर वे अपने बच्चों को अपना सर्वस्व जैसा समझते । तो ऐसे ही समझलो कि यह जीव जब जिस भव में जाता है उस भव में जिन जिनका संयोग होता है उनसे यह अधिक आसक्ति मोहकर लेता है । फल यह होता है कि भव-भव में यह ही गल्ती करता है और जन्म लेता है, मरण करता है ।

केवल सहजात्मस्वरूप निरखने में मोक्षमार्ग के सर्व पौरुषों की सुगमता—अपने स्वरूप को देखिये—यह विशुद्ध चैतन्यस्वरूप जाननहार है, उसमें कष्ट का काम नहीं । कष्ट तो कर्म फिल्म का अक्स है, वह भिन्न चीज है । मैं तो भगवान की तरह हूँ । अच्छा यह ही बताओ कि जन्मे बड़े हुए, विवाह किये, बच्चे हुए, चिन्ता की, मरण किया, फिर जन्मे, तो वही-वही करते रहना अच्छा लगता है क्या? यदि संसार संकटों से छूटने की इच्छा है तो फिर उसका उपाय क्यों न बना लीजिए? क्या है इसका उपाय? इसका उपाय यह है कि जैसे मोक्ष में केवल आत्म- ज्योति रहती है ऐसे ही मुझ में केवल आत्मज्योति अब भी है । वहाँ सर्व बाह्य संग से रहित दशा है और यहाँ ये शरीर तथा कर्म साथ में लगे हैं । तो यहाँ पर अपनी केवल आत्मज्योति का ज्ञान बनायें और उसको ही आत्मस्वरूप मानें । तो उपाय है मोक्ष के मार्ग का । सो किसी भी भव में यह काम करने की इच्छा नही हुई । आज इस मनुष्य भव में आये और यहाँ भी उस प्रकार की इच्छा न हुई तो फिर कब काम सुधरेगा? तो अपने सहज आत्मस्वरूप को निरखिये और यह भी परखिये कि जितना सुधा तृषा इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग, रहा व्याधि अपमान आदिक जो-जो भी कष्ट आते हैं वे कष्ट कर्म के विपाक हैं मेरे स्वरूप नहीं हैं । इसलिए कष्टों में भी चित्त की न गिराना, मन को मलिन न करना यह कला होती है सम्यग्दृष्टि जीव की । वह दो बातें तकता है । एक तो यह कि जो दुःख हम पर आया है वह दुःख न कुछ है, इससे भी कई गुने दुःख हुआ करते जीवों पर । मानो जिसके दरिद्रता है, रोज-रोज के खाने का कोई प्रबंध नहीं हैं । शरीर से भी लाचार है, अंधा है तिस पर भी रोगी हो, कोढ़ी हो, सब लोग उसको दुतकारते हैं, जरा उसका दुःख तो देखो । उसके मुकाबले तो यहाँ कुछ कष्ट नहीं । ज्ञानी जीव एक तो यों निरखता है इसलिए अपने पर आये हुए कष्टों से उद्विग्न नहीं रहता है । दूसरी बात यह कि तानी जीव अपने आत्मा में अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप को देखता है । मैं तो यह पवित्र आत्मस्वरूप हूँ, इस कारण उसे कर्म की दशाओं में अधीरता नहीं आती, दूसरे दुःखी गरीब शरीर के अत्यन्त रोगी पशु पक्षी मनुष्यों को निरखकर भी ज्ञानी यह जानता है कि इनका आत्मा तो मूल में पवित्र है, चैतन्यस्वरूप है, पर सब कर्म की लीला है । अपने को भी यों ही निरखना कि मैं अंतरंग में पवित्र हूँ, केवल चैतन्यमात्र हूँ । अब जो अनेक बातें आती हैं । ऐसा जानने वाला सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष अपने मन की खेद खिन्न नहीं रखता और साधर्मी जनों की सेवा करने में ग्लानि नहीं करता ।

उद्दायन राजा के निर्विचिकित्सत अंग के पालन की ख्याति—निर्विचिकित्सत अंग की एक कथा प्रसिद्ध है । स्वर्गों में यह चर्चा चल रही थी कि इस समय उद्दायन राजा साधुजनों का बड़ा भक्त है, सम्यग्दृष्टि है, ज्ञानी है, तो यह चर्चा जब स्वर्गों में सुनी देवों ने, वहाँ भी प्रवचन सभा चलती है, और उसमें मुख्य वक्ता इन्द्र होता है इसलिए उसको बृहस्पति भी कहते है, और बाकी सब लोग सुनते है, क्योंकि धर्म की बात कुछ न सुने तो वह जीवन बड़ा ऊबासा जीवन होता है । वे देव लोग विषयों में रमते हैं, नाना प्रकार के सुख भोगते हैं, और यही-यही करे तो वे प्रसन्न नहीं रह सकते, सुखी नहीं रह सकते तो उनके भी घण्टों धर्म चर्चायें चलती रहती हैं ।

तो एक देव के मन में आया कि मैं उद्दायन राजा की परीक्षा करूं सो वह आया मुनि भेष बनाकर चर्या के समय पहुंचा, उद्दायन राजा ने उनको पड़गाहा । आहार दिया । मुनि तो थे नहीं, देव का रूप था आहार लिया और कय कर दिया, तो वह राजा उद्दायन और उसकी पत्नी अपने कर्मों को धिक्कारती हुई कि मेरा कैसा अशुभ कर्म है कि आज महाराज को आहार देने का मौका मिला और उनको पचा नहीं कय हो गया, बड़ी तकलीफ है, सो वे कय वगैरह साफ करने लगे, उनका शरीर पोंछने लगे रंच भी ग्लानि नहीं की । तब उन्होंने रूप प्रकट करके कहा कि हमने जैसा सुना था कि आप बड़े धर्मात्माजनों के प्रेमी हैं ज्ञानी है सो वह चीज हमने आज पाया । हम देव हैं, हम को क्षमा करो । मुझे स्व परीक्षा भर करना था । तो जो ज्ञानी पुरुष है वह ग्लानि नहीं करता । अशुचि पदार्थ भी दिखे तो जान लिया साधारण रूप से कि यह अशुचि चीज है पर अन्य लोगों की भांति नाक भौंह नहीं सिकोड़ता । मात्र उसका ज्ञाता भर रहता है । तो इसकी दृष्टि में कि शरीर तो अपवित्र ही है सबका मगर वह मनुष्य पवित्र है । जिसका आत्मा रत्नत्रय से युक्त है, उसमें उसकी प्रीति जगती है और किसी प्रकार की ग्लानि नहीं होती । कभी कोई कर्म का तीव्र उदय आये और उसका खोटा फल मिले, जिसमें कष्ट माना जाय जो वहाँ यह सोचता है कि जो मैंने कर्म किया सो वे भोगने में आ रहे है । सो यह तो भला हो रहा है कि वे खोटे कर्म मुझ से अब निकल रहे हैं । ज्ञाता जीव किसी भी स्थिति में ग्लान-म्लान नहीं बनता । यह सम्यग्दृष्टि की पहिचान चल रही है । अब सम्यग्दृष्टि की चौथी पहिचान है अमूढ़दृष्टि उसका वर्णन करते है ।

श्लोक 14

कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेऽप्यसंमतिः ।
अंसपृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढ़ा दृष्टिरुच्यते ।।१४।।

ज्ञानी की कापथ और कापथस्थों में असम्मति—ज्ञानी पुरुष खोटे मार्ग में सम्पर्क नहीं बनाता । वह दुःखों का मार्ग है । और खोटे मार्ग में चलने वाले चाहे वे सन्यासी के रूप में भी हों उनकी संगति नहीं करता और इतना ही नहीं सम्बंध नहीं बनाता और उनकी प्रशंसा भी नहीं करता यह कहलाता है अमूढ़दृष्टि अंग। भीतर जान लिया कि यह मैं पवित्र ज्ञानमात्र आत्मा हूं, इसके सुख का मार्ग यही है कि अपने आत्मस्वरूप को निरखूं। इसी में ही संतोष है। जगत का कोई दूसरा पदार्थ मेरे संतोष के लायक नहीं । मुझ को सत्य संतोष मिलेगा तो मेरे आत्माराम में ही मिलेगा । सो मेरे दुःखों से छुटकारा का उपाय सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र है । जो लोग इस मार्ग से विरुद्ध चल रहे हैं वे खोटे मार्ग में है । मिथ्यात्व के उदय के कारण रागीद्वेषी जीवों को लोग देव मान लेते है उनकी पूजा प्रभावना करते हैं पर उसे देखकर चित्त में प्रशंसा का भाव न जगे किन्तु यही ध्यान में रहे कि ये सब संसार में रुलने की ही करतूत हैं । देव शास्त्र गुरु जो सत्य है उसमें ही उनकी श्रद्धा रहे । अन्य रागीद्वेषी जीवों में देवरूप से श्रद्धा न रहे । कितने ही लोग मंत्रवादी अपने मंत्र का कोई प्रभाव डालते हैं लेकिन वे ख्याल बनाकर उसमें अपना बड़प्पन मानते हैं तो ऐसे लोगों को देखकर भी यह ही सब कुछ है यह ही आदर्श हैं ऐसा नहीं मानता । किन्तु जो सम्यग्दृष्टि है ज्ञानी है संयमी है वह ही भले मार्ग पर चलने वाला है यही सुनिर्णय है ।

देखो भैया कितनी तरह की बातें दुनिया में चलती है मिथ्यात्व में । कुवां पूजते हैं बावड़ी पूजते हैं और उसमें धर्म मानते है । भले ही इन कुवां बावड़ी आदि से उपकार की कई बातें मिलती है पर संसार से छूटने का जो मार्ग है । सो इनमें नहीं है । लौकिक लोगों के उपकार की बात हैं । सो गृहस्थजन करते भी है ऐसा । मगर यह धर्म का काम है इसमें मेरा उद्धार हो जायगा यह श्रद्धा नहीं होती ज्ञानी की । वह तो जानता है कि मेरा सहज आत्मस्वरूप ज्ञानमय है । इसकी दृष्टि और इसकी अवस्था में ही हमारा कल्याण निहित है । तो जो अन्य प्रकार के देवी देवताओं को मानते हैं उनको देखकर मन में उनके प्रति प्रशंसा और उत्साह भाव न हो ।

देहोपकारक वस्तुवों में देवत्व की श्रद्धा से लोकमूढ़ता का विस्तार—भैया कितनी ही बातें लोकमूढ़ता की होती है—जैसे बड़ के पेड़ में धर्मबुद्धि से थोड़ा कलसा से पानी सींचना । और उस पेड़ के चारों तरफ धागा बांधना, इसे लोग कहते हैं कि धर्म कर रहे है । बड़ पेड़ क्या है? एकेन्द्रिय जीव और जो पूजने वाला कौन है? पंचेन्द्रिय जीव । कैसा मिथ्याभाव छाया है कि जिसमें कोई देवतापन की बात नहीं फिर भी लोग उसे बढ़ा-चढ़ाकर देवता कहते है । ये देवता कैसे कहलाने लगे, इसकी बात सुनो—कोई पहले ऐसा जमाना था कि इन मनुष्यों के काम में जो चीज अधिक आये उसको देवतारूप मान लेते थे । जैसे—अग्नि देवता, अब आग बिना तो सब काम बन्द रहेगा । न रसोई का काम बन सकेगा, न अन्य कोई जलाने पकाने आदि के काम । तो बड़ा उपकार हो रहा है अग्नि से जिससे अपना जीवन अच्छी तरह चले उसको लोगों ने देवता मान लिया, पर देव तो वास्तव में वह आत्मा है जिसमें रागद्वेष रंच नहीं ज्ञान और आनन्द अनन्त प्रकट हुआ है और उसे छोड़कर अन्य कैसे-कैसे देव माने जाते हैं । गाय, देवता, गाय बड़ा उपकारी जानवर है, उसके दूध से बच्चे पुष्ट होते है, बैल बनते है, खेती की जाती है जिससे लोगों का पोषण होता हैं । तो जिससे अपने प्राणों को पोषण मिलता उसे देव मान लेने की बात मन में थी, क्योंकि आत्मा परमात्मा के बोध वाला जमाना न था । अब बड़ के पेड़ को देवता क्यों मानते सो सुनो—बड़ का पेड़ इतना बड़ा छायादार होता कि उसके नीचे बारात पड जाय, सेना ठहर जाय, मुसाफिरों को ग्रीष्मकाल में शीतल छाया मिले, वर्षाकाल में भीगने से बचे, यों बड़ा उपकार मिलता है बड़ के पेड़ से इसी से लोगों ने उसे देवता रूप में माना । अब पीपल के पेड़ को देवता क्यों मानते सो सुनो—आयुर्वेद के अनुसार बताया है कि पीपल के पत्तों से स्पर्श की हुई हवा प्रकृत्या ही निरोगताबर्द्धक है इसी कारण बहुत उपकारी होने से उसे देवता माना जाने लगा । अब यहाँ मन में एक ख्याल आता है कि लोगों ने नीम के पेड़ को क्यों छोड़ दिया देवता मानने से? नीम का पेड़ तो बड़ा ही उपकारी होता है, कितने ही रोग उसके द्वारा दूर किये जाते है । तो शायद नीम के कड़वा होने का अवगुण होने के कारण उसे छोड़ दिया होगा । खैर कुछ भी बात हो । पर बात यहाँ यह समझना कि जिसे लोगों ने अपना माना उसमें देवतापने की मान्यता बनाया । सूर्य देवता—सूर्य को भी लोग देवता मानते । अगर सूर्य न निकले दो चार दिन तो लोगों को पता पड़ जाय कि बिना सूर्य के निकले कितना कष्ट होता है, मगर सूर्य को बड़ा उपकारी मानकर लोग सूर्य देवता कहने लगे । पर वहाँ वास्तविकता यह हैं कि सूर्य तो, एक पृथ्वीकायिक विमान है, उसमें रहने वाला इन्द्र है वह भी देवगति का जीव है । उसमें पूज्यता की क्या बात? ऐसी ही बात चंद्र देवता के विषय में समझना । इनमें पूज्यता की कोई बात नहीं, पर उपकारी जानकर लोगों ने इन्हें देवता मानकर पूजा । लोग तो चक्की उखली को भी देवता

मानकर पूजते अनेक चिथड़ों के पुतले बनाकर देवता मानकर पूजते, पर ये सब मिथ्यात्व भरी बातें हैं।

सम्यग्दृष्टि की समीचीन देव शास्त्र गुरु में आस्था—वास्तव में देव वह है जिसको ज्ञान परिपूर्ण हो गया हो और रागद्वेषादि विकार जिनके रंच भी न हो । वही स्वरूप तो मेरा भी है । तो अपने स्वरूप की याद के लिए प्रभु की भक्ति बहुत काम देती है । तो ऐसे किसी भी प्रकार के लोगों द्वारा माने हुए गुरु हो, देव हो, शास्त्र हो, जिनमें वीतरागता की बात नहीं है उनकी प्रशंसा न करना, उसका प्रभाव न होना यह कहलाता है अमूढ़दृष्टि अंग, अर्थात अन्य तत्त्व में मुग्ध न हो ऐसी दृष्टि मिली है । सच्चा मार्ग तो एक दिगम्बर मार्ग है, मायने जिसको कुछ न चाहिए मुक्ति ही चाहिए वह किसी भी अन्य वस्तु का सम्पर्क न रखेगा । तो जो आडम्बर रखता है, मूल्यवान वस्त्र पहिनता है, नाना प्रकार के भेष धारण करता है उसके प्रति श्रद्धा से सिर झुका देना मिथ्यात्व है । तो जो वीतराग सर्वज्ञ है वह तो हमारा देव और जिसमें तत्त्वस्वरूप की बात कही गई है, वीतरागता की बात बतायी गई है वह है शास्त्र और जो उस मार्ग में चल रहे वे कहलाते हैं गुरु । इन्हें छोड़कर अन्य प्रकार के देव, शास्त्र, गुरु में मोक्षमार्ग की श्रद्धा न होना अमूढ़दृष्टि अंग कहलाता है ।

श्लोक 15

स्वयंशुद्धस्य मार्गस्थ बालाशक्तजनाश्रयां ।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनं ।।१५।।

उपगूहन अङ्ग के पालक ज्ञानी की आन्तरिकता—मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रक एकत्व है । अर्थात अपने सहज आत्मस्वरूप को यह मैं हूँ, इस रूप से श्रद्धा करना और सहज अन्तस्वरूप का ज्ञान रहना और इस दिशा ही में रमण करना यह एकत्व मोक्ष का मार्ग है। संसार में सर्वत्र ही संकट हैं, इस कारण संसार से छुटकारा पाने में ही अपना कल्याण हैं । दूसरी बात चित्त में न रहनी चाहिए । जो कुछ इस भव में संयोग वियोग चल रहा है और आजीविका के प्रकरण में जो कुछ भी लाभ-अलाभ चल रहा है । वह सब पर पदार्थों की परिणति है । पर पदार्थों के विषय में हठ न होना चाहिए कि मुझ को तो इतना ही वैभव चाहिए । मुझे इतना ही कमाकर रहना है, तब ही मेरे को सुख होगा यह हठ न करना, किन्तु यहाँ यह कला प्रकट करना है कि पुण्योदयवश जैसा जो कुछ हमारे साधारण परिश्रम से लाभ हो, हम में वह कला चाहिए कि उस ही परिस्थिति में हम गुजारा प्रसन्नता से कर सकें। बाह्य पदार्थों पर हमारा अधिकार क्या, कुछ अधिकार नहीं किन्तु अपने आपको अपने ही सामर्थ्य से उसही में गुजारा कर लेने की कला का अधिकार है । क्योंकि यह मैं स्वयं हूँ । मैं अपने आपको समझा सकता हूं। मेरा स्वयं पर अधिकार है। अत: मैं अपनी ज्ञानकला का आलम्बन लूंगा । किसी पर पदार्थ की हठ न करूंगा यह निर्णय अन्तरंग में रहना चाहिए तब ही यह जीव सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र के मार्ग में लग सकता है।

उपगूहन अङ्ग की प्रयोजकता—यह रत्नत्रयभाव संसार से छुटकारा पाने का मार्ग है । यह मार्ग प्रशस्त रहे निर्दोष रहे जगत के जीव समझें कि मार्ग तो बस यही है । उत्थान का उपाय यही है । ऐसी जैनशासन की निर्दोषता चले इसके लिए उपगूहन अंग का पालन होता है । मार्ग तो स्वयं सिद्ध है मार्ग में स्वयं में दोष नहीं

है, किन्तु इस मार्ग में लगे हुए कोई बालक या असमर्थ पुरुषों के द्वारा कोई दोष का काम हो जाय तो उस दोष को दूर करना अर्थात् इस जैनशासन में दोष है, ऐसा लोगों की दृष्टि में न आये, ऐसा उपाय करने का काम उपगूहन अंग है । वह उपाय क्या है? तत्काल तो यह है कि बालक असमर्थ मनुष्य द्वारा कोई दोष हुआ है तो उस दोष का आच्छादन करना, ढाकना, प्रकट न होने देना, जैसे कि यह प्रसिद्ध है कि किसी धर्मात्मा पुरुष से कदाचित कोई अपराध हो जाय तो उसे ढाकना, उसका अर्थ यह नहीं है कि उस पुरुष को दोष करने के लिए बढ़ावा देना । प्रयोजन यह है कि लोग यह न जानें कि वाह यह जैन धर्म या यह शासन तो ऐसा ही चल रहा है, इसमें ऐसे ही दोष रहा करते हैं । यह धर्म लोगों की दृष्टि में शुद्ध बना रहे इसके लिए यह उपगूहन अंग है । तो इस ज्ञानी पुरुष ने उस दोष करने वाले से प्रेम नहीं किया किन्तु उसमें जैन शासन पर प्रीति करके दोष करने वाले के दोषों को ढाका । कहीं लोगों में यह न प्रसिद्ध हो कि यह जैन शासन तो ऐसा ही दोषमय हुआ करता है । इसके लिए असमर्थ जीव के आश्रय होने वाली वाच्यता को, निन्द्यता को शुद्ध करने का काम उपगूहन अंग है । इसके साथ ही यह भी कर्तव्य है कि जिससे दोष हो उसे चेतावनी दे देना चाहिए समझाना चाहिये । भय न करना चाहिए कि मैं कैसे इसको कहूँ । यह बड़ा भारी प्रेम है कि दोष होने पर उसके दोषों को उस ही से एकान्त में बताया जाय कि इसमें आपका कल्याण है और वह दोषों से दूर हो सके ऐसी विधि बनावें, इसे कहते हैं उपगूहन अंग इसका दूसरा नाम है उपवृंहण अंग, अर्थात गुणों से बढ़ना सो उपवृंहण कहलाता है । उस उपवृंहण अंग से यह लाभ है कि जगत में भविष्य में भी संसार संकटों से मुक्ति पाने के मार्ग की परम्परा चलती रहेगी । ऐसा यह मोक्ष का पथिक पुरुष मोक्षमार्ग को निर्दोष निरखना चाहता है।

धर्मात्माजनों से कदाचित् दोष होने पर उसके सम्बंध में एक चिन्तवन—किन्हीं धर्मात्माजनों के दोषों को देखकर यह विचार करना चाहिए कि कर्म का उदय बड़ा विचित्र है । यह जीव भी तो अपना आनन्द चाहता है । मेरे आत्मा को वास्तविक आत्मीय आनन्द मिले, शान्ति मिले, मोक्ष मिले, लेकिन करोड़ों भवों में पहले के बद्ध कर्म भी आज उदय में आते हैं और उस उदय में कैसी बुद्धि कैसी शारीरिक दशा होती है ऐसे ही मुझ पर भी आ सकती है । मुझ पर भी आयी है, ऐसा निरखकर उस दोष करने वाले के आत्मा से ग्लानि न उत्पन्न होने देना । किन्तु उसके उद्धार के लिए उन दोषों को उपस्थित करना । बताना कि ऐसे दोष न होवे तो आपका कल्याण है और जैन शासन की प्रभावना है । यह कर्मदशा क्या चीज है? पूर्वबद्ध कर्म जब आत्मा से निकलते हैं तो जो कुछ प्रकृति का कोई पुरुष हो तो वह निकलते समय अपनी दुष्टता का अधिक से अधिक प्रयोग करके जाया करता है तो अनुभाग बंध जिन कर्मों का विचित्र था तब यह आत्मा से निकल रहा था तो बड़े तेज विकट फल ये अपने में प्रकट करते है । जैसे चूने का डला—जब उसकी म्याद पूरी होती है अथवा कोई उस पर पानी डाल दे उदीर्णा कर दे, तो जैसे वह डला फूलकर एक विचित्र रूप रख लेता है, ऐसे ही ये कर्म उन विपाकों को भुलाकर ऐसी विचित्र रूप रखते हैं कि जिसका अक्स आत्मा पर पड़ता ही है । प्रतिफलन होता है तो उससे आक्रान्त होकर यह आत्मा अपने स्वरूप की सुध छोड़कर विकल्प में लग जाता है ।

अपना आन्तरिक ज्ञान व यथार्थ परिचय के लाभ में प्रगति की मुद्रा—ध्यान तो यहाँ ही देना है वास्तविक,

इसे भेद विज्ञान कहते है । यह मैं आत्मा हूँ ज्ञानमात्र । केवल जाननस्वरूप निराला । केवल जाननस्वरूप में कोई विकार नहीं हुआ करता । पर कर्म फिल्म का यह प्रतिफलन, यह विकार मुझ पर छाता है । और मैं उसे अपनाता हूँ और अपने को दुःखी कर लेता हूँ । यह स्थिति ज्ञान होने पर भी कुछ चलती है । तो उसे भेद विज्ञान से दूर करना और दूसरे के दोषों को भी भेदविज्ञान से दूर कराने का यत्न यह ज्ञानी पुरुष करता है । जब तक विकार से, विकार के आश्रय से उपेक्षा न होगी तब तक मार्ग निर्दोष न चल पायगा । वह उपेक्षा कैसे हो? तो देखिये जितने भी विकार हुआ करते हैं उन विकारों के दो प्रकार हैं । व्यक्त विकार ओर अव्यक्त विकार । जैसे हम मन्दिर में बैठे हैं, पूजा कर रहें हैं स्वाध्याय सुन रहे हैं काम अच्छा कर रहे और चित्त लगाकर कर रहे फिर भी पाप कर्म का उदय भी निरन्तर अभी चल रहा है । चारित्र मोहनीय का उदय अभी भी चल रहा है । लेकिन उपयोग हैं प्रभु के गुणों में । उपयोग है तत्त्व के श्रवण में, तो उदित हुये वे पापकर्म फल दिखाकर तो चले जाते है किन्तु वह फल अव्यक्त रहता है । हमारी बुद्धि में नहीं आ पाता इसे कहते है अबुद्धिपूर्वक । तो आप यह देखें कि शुभोपयोग की प्रक्रिया में कितनी सुविधा मिलती है । जिसने शुद्ध अंतस्तत्त्व का परिचय किया है और उस ही लक्ष्य में रहना हुआ शुभोपयोग में परिणत हो रहा है तो उदय में आने वाले पापकर्म अव्यक्त फल देकर निकल जाते हैं । एक लाभ दूसरे लाभ में शुभोपयोग से अपने आत्मा को ऐसा बचाया, उन पाप विकारों से दूर किया इतनी पात्रता जगी कि यहाँ चाहे एक क्षण दृष्टि दें अपने कारण समयसार की ओर तो हम इसको प्राप्त कर सकते हैं । पात्रता बने यह दूसरा उसका लाभ है । तीसरा लाभ—उस शुभोपयोग की प्रकर्षता में जैसे प्रभु के गुणों में हमारा चित्त बढ़ता जाता है तो गुणों की समानता के कारण कभी वहाँ भी विकल्प को छोड़कर निर्विकल्प अन्तस्तत्त्व को पा सकते हैं फिर ज्ञानी जीव शुभोपयोग को उपादेय नहीं मानता अत्यन्त उपादेय नहीं मानता । चल रहा है उस विधि में, अगर शुभोपयोग कथञ्चित उपादेय न हो तो वह चले कैसे । फिर भी वह मानता है कि यद्यपि इस परिस्थिति में शुभोपयोग को उपादेय बताया है तथापि शुद्ध तत्त्व के पाने पर वह स्वयमेव छूटता है । ऐसे निर्दोष मार्ग को बताने वाले शासन में लोग कलंक न ला सकें इसके लिए ज्ञानीजीव उपगूहन अंग का पालन करते हैं ।

श्लोक 16

दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः ।

प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितीकरणमुच्यते ।।१६।।

सम्यक्त्व और चारित्र से चलित हो रहे स्व पर को सम्यक्त्व व चारित्र में स्थित करने की ज्ञानी की वृत्ति—ज्ञानी पुरुष स्व और पर के अन्तः स्वरूप को जान चुका । मैं हूँ यह ज्ञानमात्र अपने स्वरूपास्तित्त्व से परिपूर्ण और अन्य द्रव्य अनन्तानन्त शेष जीव, अनन्तानन्त सभी पुद्गल एक धर्मद्रव्य एक अधर्मद्रव्य एक आकाशद्रव्य और असंख्यात कालद्रव्य, ये सब पर द्रव्य हैं । एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में प्रवेश कभी नहीं होता । निमित्त नैमित्तिक व्यवस्था तो ठीक है परन्तु एकद्रव्य का सत्त्व दूसरे में विलीन हो गया हो, यह कभी नहीं हुआ अथवा एक पदार्थ का दूसरा कुछ लग गया हो स्वामी हो गया हो यह कभी नहीं हो सकता । मैं अपने आप में अपने आपको करता हूँ । अपने द्वारा करता हूँ । अपने लिए करता हूँ । अपने में करता हूँ । यही हमारा वास्तविक

व्यवसाय है । ऐसे ही सब द्रव्यों का अपना व्यवसाय है । तो। ऐसा परिचय हो जाना शान्ति का आधार है । सो इस ज्ञानी का अपने आप में यह निर्णय बना है कि हम को अपने दर्शन ज्ञान चारित्र से स्खलित न होना चाहिए क्योंकि अपने स्वरूप की दृष्टि से अलग होकर किसी बाह्य पदार्थ में उपयोग रखेंगे, उसी को अपना सर्वस्व मानेंगे तो उसमें सिवाय आकुलता के और कुछ नहीं है । यह बात प्रसिद्ध है । ऐसा निर्णय करने वाला जीव भी इसी धर्म से सम्बन्धित अन्य समारोह में, प्रबन्ध में, व्यवस्था में लगता है पर ध्येय उन सब व्यवस्थावों का यही है कि मेरा रत्नत्रय स्वरूप मेरे को प्रकट हो । तो अपने आपकी इस रत्नत्रय से स्खलित न करना चाहिए और दूसरे सम्यग्दृष्टि ज्ञानीजीव किसी कारण से यदि वे अपने धर्म से चलित हो रहे हों तो हर उपायों से उन्हें धर्म में स्थिर करना यह कहलाता है स्थितिकरण अंग ।

धर्मवत्सलता हुए बिना यथार्थ स्थितिकरणाडग की अनुत्पत्ति—यह स्थितिकरण तब तक नहीं हो पाता जब तक कि धर्मवत्सलता प्रकट न हो । वह रत्नत्रय धर्म जिसको प्रिय है वही दूसरे आत्मावों से प्रेम कर सकता है । जैसे कि सिनेमा देखने जाने वाले लोग अन्य देखने जाने वाले लोगों से अपनी मित्रता बना लेते हैं और एक दूसरे के कन्धे पर हाथ रखकर सिनेमा देखने जाते है, ऐसे ही मोक्ष मार्ग में जाने वाले ज्ञानी पुरुष दूसरे साधर्मी बंधुवों से अपनी मित्रता बनाकर चलते हैं वे सब परस्पर में एक दूसरे का कल्याण चाहते हैं । ज्ञानी जीव ने अपूर्व वैभव पाया है अपने सहज आत्मस्वरूप का दर्शन । सहज आत्मस्वरूप का ज्ञान । सहज आत्मस्वरूप में रमण । यही कला उसको इस संसार समुद्र से पार करने वाली है । तब इस ज्ञानी जीव को अन्य सब बाह्य चीजें अनुपादेय लगती हैं जैसे कहते है कि काक बीटसम गिनत है सम्यग्दृष्टि लोग । यहाँ यह न समझना कि पुण्यभाव को काकबीट कहा, वह काकबीट समान नहीं है किन्तु वह कथञ्चित उपादेय है और उसी के सिलसिले में पुण्यभाव छूटकर धर्मभाव आता है । आचार्यों ने बतलाया है कि अशुभोपयोग अत्यन्त हेय है । शुभोपयोग हेय नहीं है और शुभोपयोग अत्यन्त उपादेय है । इन तीन शब्दों में क्या बात आयी कि अत्यन्त हेय है अशुभोपयोग, शुभोपयोग अत्यन्त हेय नहीं । किन्तु शुभोपयोग की परिस्थिति में जब शुद्धोपयोग की योग्यता बने तब शुभोपयोग हेय है । जैसे कि प्रवचनसार में व्रत धारण करते समय भक्त क्या कहता है: कि हे समिति हे व्रत, हे तप, मैं कब तक तुम को ग्रहण करता हूँ जब तक कि तुम्हारे प्रसाद से मैं शुद्धोपयोग को न प्राप्त होऊं । कोई-कोई लोग तो प्रभु की भक्ति करते समय यह कहते हैं कि हे प्रभो, मैं भव-भव में तुम्हारा दास रहूं । मगर विवेकी पुरुष की यह आवाज निकलती कि हे प्रभो, तुब पद मेरे हिय में ममहिय तुब पुनीत चरनन में । तब लौ लीन रहे जब लौ प्राप्ति न मुक्ति पद की होय कहीं ऐसा सोचने से भक्ति में हीनता न समझिये किन्तु वस्तुस्वरूप की यथार्थ पकड़ समझिये ।

भक्ति और भक्ति का प्रभाव—भक्ति दो प्रकार की है । भक्त भी दो प्रकार के मिलते हैं एक तो प्रभु से डर मानकर प्रभु से आशा मानकर भक्ति करना । ऐसे भक्त मिलेंगे ईश्वर सृष्टिकर्तावादी, जो मानते हैं कि हम को ईश्वर स्वर्ग में ले जाता, नरक में पटकता, तो वे डर मानकर ईश्वर की भक्ति करते । कहीं यह ईश्वर मुझे नरक में न पटक दे सुख से हटाकर दुःख में न डाल दे, इस कारण ईश्वर की भक्ति करते । तो एक तो इस तरह के भक्त हुए । दूसरे वे भक्त होते जो प्रभु के गुणों से अपने गुणों का परस्पर में मिलान करके भक्ति करते

। गुण के मायने प्रकट दशा न लेना किन्तु शक्ति लेना । शक्ति याने प्रभु का जो स्वरूप है उस शक्ति को और अपनी स्वरूप शक्ति को एक समान मानते हैं । जब एक समान जानना और अन्तर रहा पर्याय का—मैं वह हूँ जो हैं भगवान जो मैं हूँ, वह हैं भगवान । अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान । यह ऊपरी अन्तर है कि वे वीतराग हैं और यहाँ राग का फैलाव है । ऊपरी अन्तर क्यों कहा? अन्तर तो सब भीतरी है । परिणामों में अन्तर क्यों आया? पर स्वरूप में अन्तर नहीं है यह बात जताने के लिये ऊपर शब्द डाला है । कहीं स्वरूप में अन्तर न जानना । स्वरूप स्वभाव एक है । तो ऐसा एक स्वरूप देखकर जो भगवान के स्वरूप की ओर खिंचाव होता है वह विशुद्ध खिंचाव है, विशुद्ध भक्ति है, और जो किसी आशा और भय से भक्ति होती है उसमें भीतर का अभेदभाव नहीं है भक्ति में एक रसपना नहीं है । वह डर और आशा के कारण भक्ति है । एक रसपने की भक्ति तब ही हो सकती है जब द्रव्यत: गुणंत: समान पर्यायत: अन्तर यह बात समझ में आये तब प्रभु के गुणों में एक रसरूप से भक्ति बनेगी । तो प्रभु की भक्ति कहो या आत्मस्वरूप की भक्ति कहो, दोनों में अधिक अन्तर नहीं है । क्योंकि वह प्रभु स्वरूप क्या है? जो आत्मा का वास्तविक रूप है वही विकसित हुआ है । जैसे पत्थर की प्रतिमा बनाने में कोई बाहरी चीज ला-लाकर नहीं बनायी जाती किन्तु जिस पाषाण में से प्रतिमा बनाना है उस पाषाण के अन्दर वह प्रतिमा स्वयं विद्यमान है । किन्तु उसको ढाकने वाले, आवरण करने वाले पत्थरों को हटाने की जरूरत है । मूर्ति ज्यों की त्यों प्रकट हो जायगी, तो ऐसे ही सिद्ध स्वरूप होने के लिए हमें अपने आत्मा में बाहर की कोई चीज नही लगाना है किन्तु इस स्वरूप के बाधक जो विषय कषाय आदिक आवरण हैं उन्हें हटाना है उनके हटते ही वह स्वरूप स्वयं प्रकट हो जायगा । तो ऐसा अपने स्वरूप का परिचय पाये हुए ज्ञानी संत स्थितिकरण अंग का पालन करते हैं । वे दूसरों का स्थितिकरण कैसे करते सो सुनो—कोई पुरुष काफी आर्थिक संकट में पड़ा है । जिसका साधारण ढंग का भी गुजारा नहीं चल पाता उसको प्रकार से सहयोग देकर स्थिर कर देता है । किसी के चित्त में दुविधा आयी है तो उसे सत्यार्थ स्वरूप सुना सुनाकर उसके चित्त को बदलता है, स्थिर करता है । जो भी उपाय बने उन सब उपायों से ज्ञानी जीव दूसरों को धर्म में स्थिर करता है । यह है ज्ञानी पुरुष का स्थितिकरण अंग । और भीतर में स्वयं अपने लिए निरखता है कि मैं इस बाहरी स्वरूप से अलग हूँ, कितना मैं अपने धर्म से च्युत हुआ, कितना मैं अटपट क्रियावों मे लग गया हूँ । उसे निरखकर वहाँ से हटकर अपने आप में आने का वे पौरुष करते हैं ।

ज्ञानमात्र, ज्ञानधन च आनन्दमय के संचेतन के तीन आत्मक्रान्तिकारी कदम—जो अभी मंगल तन्त्र में आपने तीन विशेषण पढ़े थे—(१) मैं ज्ञानमात्र हूँ (२) मैं ज्ञानधन हूँ (३) मैं सहज आनन्दमय हूँ । तो यहाँ तीन विशेषण—ज्ञानमात्र, ज्ञानघन, और आनन्दमय इनका एक क्रम बन जाता है । अपने आप में रमने के लिए इस क्रम ने कितनी मदद की । जब यह आत्मा बाहर की चीजों में बहुत भटक गया । देश में, क्षेत्र में, काल में बहुत बाहर चला गया कल्पनाओं द्वारा कल्पनाओं से उन चीजों को अपना मानने लगा तो वह पुरुष एक ही झटके में मैं ज्ञानमात्र हूँ । ज्ञानस्वरूप के अतिरिक्त जितने भी परपदार्थों का समूह है उसको एक झिटके में झिटक देता है । जिसे कहेंगे आऊं । बाह्य पदार्थों में मैं बहुत भटक गया था । अब वहाँ से हटकर आऊं, रम लूं, ऐसा कहो, या ज्ञानमात्र, ज्ञानघन, आनन्दमय ऐसा कहो । सब पदार्थों से अलग होकर अपने स्वरूप तक

पंहुचने के लिए बहुत विशेषणों द्वारा उसने झिटक दिया-ज्ञानमात्र, और फिर अपने ही ज्ञान में संतुष्ट रहने के लिए ज्ञान से बाहर अब कभी न जाने के लिए उसने भीतर में अनुभव किया कि मैं ज्ञानघन हूँ । घन कहते हैं वही वहीं, ठोस परिपूर्ण । अधूरा जरा भी नहीं, अपनी पूरी सत्ता लिए हुए हूँ, और वह है सब ज्ञान ज्ञानरूप । तो इसी को कहते है उतरूं । मैं अपने इस ज्ञानस्वरूप में उतर जाऊं, इस ही में रहकर संतुष्ट होऊं, तो जब यहाँ तक आये तो अब इतना भी ख्याल छोड़ने की जरूरत है कि मैं ज्ञानरूप हूँ ज्ञानघन हूँ यह भी विकल्प छोड़ने की जरूरत है । तो वह तीसरी उपमा में यों अनुभव करता कि मैं आनन्दमय हूँ । यह सब ज्ञान निज का है, निज की ही चेष्टा है, इस निज की वृत्ति में निज की क्या दुविधा? जब ही एक दृष्टि की और एक अपना समग्र आत्मस्वरूप उसने दर्शन में लिया, इस काम को करने न आयेंगे । भगवान के गुणों का चिन्तन कर मैं अपने गुणों का पोषण कर रहा हूँ । तो भगवान निमित्त भर हुए और करना अपने को ही है ।

संसार में मोहवश विभ्रान्तियों के कारण विडम्बितपना—इस संसार में इस जीव ने अनन्तभव धारण करके अन्य तो सब कार्य किया विषय सम्बन्धित किन्तु अपने आत्मस्वरूप की उपासना का कार्य अब तक नहीं किया । इसका प्रमाण क्या है कि अब तक संसार में रुल रहा है । इससे अधिक और प्रमाण क्या? कोई पुरुष किसी शराब बेचने वाले की दुकान पर गया । दुकानदार से बोला कि मुझे शराब चाहिये, क्या आपके पास अच्छी शराब होगी? हां-हां अच्छी है । अजी नहीं बहुत अच्छी चाहिए । हां-हां बहुत ही अच्छी है, इसका प्रमाण क्या है सो चलकर साक्षात् देख लो । यह कहकर ले गया दुकान के पीछे और बताया कि देखो ये जो तुम्हारे चाचा बाबा नापदान में बेहोश होकर पड़े हैं । जिनके मुख पर कुत्ते भी मूत रहे हैं उन्हें देखकर अन्दाजा कर लो कि हमारे यहाँ की शराब अच्छी है या नहीं । तो ऐसे ही संसार में देख लो—इस जीव ने अब तक ज्ञानसुधारस का पान नहीं किया इसका प्रमाण साक्षात् यही है कि यह जीव अभी तक इस संसार में रुल रहा है । इस जीव ने अनादि से अब तक न जाने कितना दुःख सहा । बहुत गौर से देखिये—जिस क्षण खाने का आनन्द मान रहे है या अन्य विषयों का आनन्द समझ रहे हैं उस समय भी जरा भीतर में अनुभव करके तो बताओ कि उन विषयों का सुख भोगने में इस जीव को कितना क्षोभ होता, कितनी आकुलता मचानी पड़ती । इसलिये ये वैषयिक सुख दुःख रूप ही हैं । केवल कल्पना में लख मान रहा है । सुख के भोगने में भी क्षोभ है । दुःख पाने में क्षोभ है यह तो स्पष्ट ही बात है । तो यह जानकर कि मेरे आत्मस्वरूप के अतिरिक्त अन्य कुछ भी तत्त्व ऐसा नहीं हैं जिसमें मैं अपने मन को रमाऊँ और कृतार्थ होऊं ।

आत्मज्ञान बिना अपनी अव्यवस्थितता—जग में कुछ भी पदार्थ नहीं है ऐसा कि जिसमें मुझे रमना चाहिए । घर में सी पुत्र मित्रादिक जो भी रह रहे हैं उनसे राग करना पड़ता है । राग किये बिना घर में रह नहीं सकता, इसलिए राग किया जा रहा किन्तु अन्तः यह समझना चाहिए कि जैसे पड़ोस के या अन्य भव के जीव भिन्न है ठीक उसी तरह से घर में रहने वाले सभी जीव मेरे से अत्यन्त भिन्न हैं । इसमें रंच भी गल्ती नहीं हैं । ठीक उतना ही अन्तर है जितना भिन्न अन्य जीव हैं क्योंकि उनका परिणाम उनमें हैं । उनका अनुभव उनमें हैं, उनके कर्म उनमें हैं । उनका उदय उनके साथ है । मैं उनमें कुछ परिणति कर नहीं सकता, वे मुझ में कुछ परिणति कर नहीं सकते । केवल राग वश ही ऐसी बातें की जाती हैं कि तुम हम को बहुत प्रिय हो । तुम्हारे बिना तो

प्राण भी नहीं टिक सकते । तो यह तो ऐसी बात है कि उष्ट्रानां विवाहेषु गीत गायन्ति गर्दभा; परस्परं प्रशंसन्ति अहो रूपमहो ध्वनि: । कहीं ऊंटों का विवाह हो रहा था; उसमें गीत गाने के लिए गधे बुलाये गये थे । तो वहाँ गधे गीत गा रहे थे—अहो ऊंट तुम कितने सुन्दर हो । तुम्हारा रूप बड़ा सुन्दर है तो ऊंट कहते—अहो गधे—तुम्हारा बोल कितना सुन्दर है तुम बड़ा सुन्दर राग अलाप करते हो । अब देख लो न तो सुन्दर रूप ऊंटों का और न सुन्दर आवाज गधों की फिर भी दोनों एक दूसरे की प्रशंसा करके मौज मानते हैं ठीक ऐसी ही बात यहाँ समझिये । वास्तव में यहाँ कोई किसी से प्रीति नहीं करता, रागवश ही सब एक दूसरे से प्रीति का व्यवहार करते हैं । तो यह राग परिस्थितिवश करना पड़ता है । जैसे कोई रोगी औषधि से राग करता है औषधि पीना छूटने के लिए । वह नहीं चाहता कि मुझे यह औषधि जिन्दगी भर पीना पड़े किन्तु वह तो यह चाहता है कि कब मुझे औषधि पीने से छुट्टी मिले । औषधि पीने से छुट्टी मिले मायने मेरा रोग कब दूर हो इसके लिए वह औषधि से राग करता है और उसका पान करता है । उस रोगी को जैसे उस औषधि से मोह नहीं है ऐसे ही अपने आपके आत्मा को थोड़ा सम्हाल तो लीजिए अपने ज्ञानबल से और ज्ञान में ही अपने आत्मा को नियंत्रित रखिये और स्पष्ट भीतर प्रकाश पाइये कि मैं मात्र आत्मा हूँ, मेरा सर्वस्व मुझ में हैं, मेरे से बाहर मेरा कुछ नहीं है, ऐसा करने के बाद फिर घर की वे सब व्यवस्थायें करें । करनी पड़ेगी । तो उन व्यवस्थावों के करते हुए न तो आकुलता मचेगी और न व्यामोह होगा ।

आत्मसुध बिना अन्य समागम की विडम्बना—भैया, सर्वश्रेष्ठ धन है अपने आत्मा का ज्ञान । इसके बिना सब बेकार । एक घटना राँची की है । काफी दिन पहले जब हम वहाँ गये थे तो एक जगह क्या देखने में आया कि यहीं का कोई वैष्णव भाई जो कि बहुत बड़ी सम्पत्ति का मालिक था उसका बहुत दिनों से दिमाग खराब हो गया, उसको खाने के लिए एक होटल में इन्तजाम कर दिया गया, रही सारी सम्पत्ति उसके ही नाम से, मगर क्या रहा अब उसके लिए? वह सब सम्पत्ति उसके लिए बेकार । वह तो ज्यों का त्यों दरिद्र रहा । तो जिसका ज्ञान अपने में स्पष्ट नहीं है, व्यवस्थित नहीं है उसके लिए यहाँ का सब कुछ बेकार है और जिसका ज्ञान व्यवस्थित है । साथ ही आत्मज्ञान है तो फिर उसकी शान की कहना ही क्या? वह तो अपने में एक गौरव अनुभव करता है, निराकुलता अनुभव करता है और फिर घर की व्यवस्था भी वह बड़ी उत्तम बनाता है । मान लो परिवार में कोई बड़ा मोह करके रह रहा स्त्री पुत्रादिक परिजनों से तो उसका क्या हाल होगा, सो तो जानते ही हो । वह तो उनके पीछे निरन्तर दुःखी रहेगा और जो निर्मोही बनकर परिवार के बीच रहेगा उससे सब भय मानेंगे कि कहीं ऐसा न हो कि वह घर छोड़कर कब चल दे इसलिए घर के सब लोग उसकी आज्ञा में रहेंगे । तो घर की व्यवस्था के नाते भी आप देख लीजिए परिवार में निर्मोह बनकर रहने में घर की अच्छी व्यवस्था बनती है ।

आत्मज्ञान का माहात्म्य—आत्मज्ञान का बड़ा अद्भुत माहात्म्य है । उसके फल में इस भव में भी आनन्द पाये और परभव में भी पाये । यहाँ का पाया हुआ सारा समागम तो इस ही भव में छूट जायेगा, यहाँ का कुछ भी समागम साथ न देगा । यह मैं आत्मा अपने आप में अकेला ही हूँ, स्वतन्त्र हूँ । जो मुझ में मेरा स्वरूप है वह अनादि से है, अब भी है । कभी छूटेगा नहीं मुझ से । उसमें दुःख का क्या काम । जो सत् है वह कभी

नष्ट नहीं होता । सत् का कभी विनाश नहीं होता । मेरे में कोई अपूर्णता ही नहीं है फिर घबड़ाने की क्या बात मान लो वैभव मेरे घर में न रहा, अन्यत्र कहीं चला गया तो उससे मेरे आत्माराम का क्या बिगाड़ हो गया? अथवा परिवार का कोई गुजर गया तो उससे मेरे आत्माराम का क्या बिगाड़ हो गया । किसी भी पर पदार्थ के परिणमन से इस मुझ आत्मा का कुछ भी बिगाड़ अथवा सुधार नहीं होता । मैं ही उनके प्रति नाना प्रकार की कल्पनायें करके स्वयं दुःखी अथवा सुखी होता हूँ । पर पदार्थ के पीछे संकल्प विकल्प करने से तो निरन्तर आकुलता है कष्ट है अत: अपना कर्तव्य यह है कि अपने ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्व को सम्हालूँ उसको ही निरख निरखकर संतुष्ट रहूँ तो यह अभ्यास यह संस्कार जैसे-जैसे दृढ़ होता जावेगा वैसे ही वैसे इसका विकास होता चला जावेगा । तो जरूरत है इस बात की कि जिस काम को अभी तक नहीं किया वह काम कर लें । अन्य सभी काम तो कितने ही बार अब तक कर लिया होगा । न जाने कितने बार अब तक संसार में जन्ममरण करके चतुर्गतियों में परिभ्रमण किया होगा, वहाँ क्या-क्या काम नहीं किया । सब कुछ किया, सभी जीवों का समागम कितने कितने ही बार अब तक किया, चाहे किसी भी रूप में किया हो । पर वे सब बातें नि:सार रही, लाभ कुछ न मिला, उनसे इस जीव का कल्याण नहीं है । इन सबसे निराला जो अपना आत्मतत्त्व है उसको सम्हालिये और निर्मोह होने का साहस बनाइये, और वह है क्या साहस? भीतर ज्ञान से ज्ञान में सोचना भर हैं बाहरी श्रम करने की जरूरत नहीं । दूसरों से किसी प्रकार की आशा करने की जरूरत नहीं । अपने ज्ञान से अपने ज्ञान में अपने ज्ञानस्वरूप को निरखिये, यह मैं हूँ पूरा अविनाशी तत्त्व । ऐसा लखने वाला पुरुष रत्नत्रयभाव से चलित नहीं होता ।

श्लोक 17

स्वयूथ्यान् प्रति सद्यावसनाथापेकैतवा ।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते ।।१७।।

सम्यग्दृष्टि का वात्सल्य अङ्ग—वात्सल्य अङ्ग—रत्नत्रयधारियों के प्रति निष्कपट अनुराग जगना वात्सल्य कहलाता है। । इसमें यह निर्णय किया कि यह जगत बसने के काबिल नहीं है । इस संसार में चतुर्गतियों में निरन्तर अपवित्रता है और दुःख ही दुःख है । चाहे बड़े से बड़े वैभव का समागम हो लेकिन उसके आश्रय में शान्ति नहीं मिलती । किसी भी परतत्त्व के आश्रय में शान्ति नहीं मिलती । कहीं दुःख कम हो जाता है तो लोग उसे सुख कहने लगते हैं । जैसे तेज बुखार वाले का बुखार यदि हल्का हो जाय तो वह कहता है कि अब तो हम बड़े सुख में है । तो ऐसे ही जो कठिन दुःख है वह दुख न रहा, उपयोग बदल गया विषयों के उपभोग में तो वह ऐसा सोचता है कि मैं सुख पा रहा हूँ, पर भीतर जो विधि है जो मुद्रा बन रही है वह तो क्षोभ की है आकुलता की है । संसार में कहीं भी सुख नहीं है । यह जगत् रहने के योग्य नहीं । यहाँ का समागम पकड़े रहने के योग्य नहीं । जिसका यह निर्णय हुआ है उसे धर्मात्मा में और धर्मात्माजनों में प्रेम जगता है । संसार में, संसार के साधनों में प्रेम रहे और धर्म-धर्म धर्मात्मावों में भी प्रेम रहे ये दो बातें एक उपयोग में नहीं रहती । तो जिसने आनन्दमय ज्ञानस्वरूप सबसे निराले इस गुप्त अविकार अंतस्तत्त्व का परिचय पाया है वह अपने गुणों में अनुरक्त रहता है । यहाँ ही श्रद्धान रहता है और बार-बार इस ज्ञानमात्र अन्त: स्वरूप

का अनुभव करके प्रसन्नता पाता रहता है ।

स्वरूपपरिचयी पुरुष का स्वरूप में वात्सल्य और उसका प्रभाव—स्वरूपपरिचयी पुरुष को अपने साधर्मीजनों को निरखकर, मोक्षमार्ग में चलने वाले महान पुरुषों को देखकर बहुत प्रसन्नता उत्पन्न होती है । बहुमान होता है क्योंकि यह जान रहा कि यह भी सर्व की उपेक्षा करके एक मुक्ति के मार्ग में चल रहा है । तो जिस बात को हम चाहते थे वही बात जो कोई दूसरा चाहे तो वहाँ गाढ़ अनुराग हो ही जाता है । तो यहाँ निश्चय से तो है अपने आपके गुणों में वात्सल्य और व्यवहार से कहा जाता है । धर्मात्माजनों में वात्सल्य व्यवहार से कहा जाता, इसका यह अर्थ है कि मैं आत्मा जो कर सकता हूँ सो अपने प्रदेशों में ही कर सकता हूँ । बाहर कुछ नहीं कर सकता हूँ फिर भी बाहरी आश्रय लेकर विषय बनाकर जो अपने में परिणाम बनाता हूँ तो बाहर की बात कहना । वात्सल्य करते हैं ऐसा कहना यह व्यवहार से कहा जाता है । उसे प्रेम अपने आपके रत्नत्रय में और रत्नत्रय के स्वरूप में रत्नत्रयधारी में निश्छल हुआ करता है । इसके लिए उदाहरण दिया गया है गौवच्छ प्रीतिसम । जैसे गाय बछड़े के प्रति प्रीति रखती है क्योंकि गाय को बछड़े से रंच भी आशा नहीं रहती कि यह बछड़ा बड़ा होकर मेरी सेवा करेगा फिर भी उस बछड़े को देखकर गाय को इतना गाढ़ अनुराग होता कि कदाचित वह बछड़ा नदी में गिर जाय तो वह गाय उस बछड़े को बचाने के लिए नदी में कूद जाती है । इतना अधिक अनुराग होता गाय को अपने बछड़े से । तो निश्छल अनुराग की समानता से गाय बछड़े का उदाहरण दिया, कहीं सुनने बनाने के लिए नहीं । ऐसे ही अपने रत्नत्रयधारियों के प्रति यथायोग्य आदर और यथायोग्य वात्सल्य होता है ।

धर्मात्मा को सर्वत्र त्वरित धर्म का दर्शन—यह सम्यग्दृष्टि जीव अन्तरंग में तो अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूप में अनुराग रखता है और बाह्य में धर्म के आयतन में अनुराग रखता है तो अन्य मिथ्यादृष्टि जनों से द्वेष नहीं करता । कैसी समता है कि गुण और गुणी में अनुराग है किन्तु मिथ्यादृष्टि जनों के प्रति द्वेष न उत्पन्न होना चाहिए । वहाँ भी यही देखना है कि यह जीव भी सहज आत्मस्वरूप है । ज्ञानी जीव को सभी जीव एकदम प्रथम ही सहज आत्मस्वरूप के रूप से नजर आते है । पश्चात कर्मदशा के कारण हुए भेदों को निरखता है यह ज्ञानी जीव की एक परमार्थ कला है । कीड़ा मकोड़ा पशुपक्षी दरिद्र भिखारी किसी भी जीव को देखकर एकदम पहले यही ही निर्णय होता है कि यह भी सहज आत्मस्वरूप है पर कर्म का कैसा आक्रमण है कि यह ऐसी दुर्दशा को प्राप्त हो रहा है । जिसके चित्त में जो है वही बात उसको बाहर में सर्वत्र दिखती है । कोई पुरुष अगर रंज में है, घर का कोई इष्ट व्यक्ति गुजर गया है । उसके पीछे वह बड़े शोक में रहता है तो उसे सब जगह प्रथम शोक ही नजर आता है । कदाचित काई हंसने वाला व्यक्ति भी दिख जाय तो इसे यों लगता कि यह जबरदस्ती हंस रहा है । वहाँ उसे सुखी नहीं दिखता किन्तु जैसे सिनेमा के पर्दे पर अनेक चित्रण होते हैं ऐसे ही यह भी एक हंसने का पार्ट अदा कर रहा है । यों शोकमय ही उसे निरखता है, और जो सुख में हो उसे सब जगह सुख ही सुख नजर आता है । कोई रंज में बैठा हो तो उसके प्रति सुखी व्यक्ति को यों लगता कि यह बनावटी रंज कर रहा है यह सुखी । तो जिसके चित्त में जो बात बसी है उसको सर्वत्र वैसा ही दिखता है । तो जिसको अपने सहज आत्मस्वरूप का परिचय है । सहज आत्मा का स्वरूप, ज्ञानमात्र, ज्ञानघन, आनन्दमय जो स्वरूप

इसने अनुभव किया है उस सहज आत्मस्वरूप का सर्वत्र दर्शन होता है । मूल में तो सत् यह है, पर हो रहा है यह । तो सहज आत्मस्वरूप का परिचय करने वाले ज्ञानी संत दूसरों में इन ही गुणों को तकते है और इसी कारण वात्सल्य जगता है ।

धर्मिवत्सल पुरुष का धर्मविरुद्धजनों में समभाव—धर्मी वात्सल्य होने पर भी किसी भी समय अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जनों पर इसके द्वेषभाव कतई नहीं आता । ज्ञाता दृष्टा रहता है । यह भी सहज आत्मस्वरूप है । आज इसका ऐसा परिणमन हो रहा है । यह जीव अनन्तकाल से अनेक कुयोनियों में भ्रमण कर रहा मगर स्वरूप तो इसका अविकार ज्ञानमात्र है, इसमें मूल में दोष नहीं है । यह दोष प्राकृतिक आया । प्राकृतिक कहते किसे हैं । जैसे कोई शिमला पहाड़ पर पहुंच जाय और प्राकृतिक दृश्य देखे तो वह कहता है कि वाह यह तो प्राकृतिक दृश्य है, किसी का किया हुआ नहीं है । इसे कर कौन सकता है किन्तु तथ्य क्या है कि वे सब दृश्य किये हुए है स्वाभाविक नहीं है । किसके द्वारा किये हुए हैं? जो शुभ अशुभ प्रकृतियां है कर्म की उन जीवों के साथ जो फूल हैं, वृक्ष है इन जीवों के साथ जो शुभ अशुभ प्रकृतियां लगी हुई है उनके विपाक से यह दशा बनी है । यह कर्मकृत दशा है, प्राकृतिक दशा है, प्रकृति का नाम सब लोग लेते है, यह प्रकृति से हुआ है पर प्रकृति का अर्थ क्या है? जिसे लोग प्रकृति कहते है और कर्म स्वरूप का निर्णय नहीं कर पाते वे कर्म है क्या चीज? उन्हें कर्म कहो अथवा प्रकृति कहो, एक ही चीज है । जो कषायवश कर्म बंधे हैं जीव के उनमें एक प्रकृति जुड़ी हुई है आदत पड़ी हुई है कि यह कर्म ज्ञान को ढाकेगा, यह कर्म दर्शन को ढाकेगा, यह कर्म साता का कारण बनेगा, इस प्रकार की उनमें प्रकृति पड़ी है उस प्रकृति का उदय है जो हम और आपकी ऐसी दशायें चल रही हैं । इस तथ्य को निहारने वाले पुरुष सर्व जीवों में मैत्रीभाव रखते हैं। रत्नत्रयधारियों में विशेष प्रमोदभाव रखते हैं । पर मित्रता उनके सर्व जीवों के प्रति है । मित्रता हुआ करती है समान लोगों में, छोटे में नहीं, बड़े में नहीं, छोटे में अनुराग, कारुण्य, आशीष और बड़े में विनय आदर और मित्रता समान में चलती है । तो चूंकि इस ज्ञानी ने सर्व जीवों को सहज आत्मस्वरूप में देखा है, समझा है, इस समानता के कारण सर्व जीवों में उसकी मौलिक मित्रता रहती है । सर्व जीव अपने आनन्दमय स्वरूप को पायें, इन्हें दुःख न हों । दुःख क्या है? विकारभाव । अन्य और कुछ दुःख नहीं है । यह तो लोग मोह में कहते हैं कि मेरे को इतना घाटा पड गया, मैं बड़े कष्ट में हूँ । अरे घाटा पड़ने से कहीं कष्ट नहीं हुआ करता । मेरे अमुक का वियोग हो गया, मैं बड़े कष्ट में हूँ । किसी के मरण से, वियोग से कष्ट नहीं हुआ करता, किन्तु खुद ही परवस्तु के विषय में कल्पनायें बनाकर खेद किया करते हैं ।

ज्ञानी का आन्तरिक पौरुष—मैं परविषयक कल्पनाओं को हटाऊं और यह दृष्टि बनाऊं कि ज्ञान से ज्ञान में ज्ञान ही हो, मेरे ज्ञान में ये सामने के जीव अजीव पदार्थ नजर आ रहे हैं, उपयोग में चित्रित हो रहे हैं उनके बारे में कुछ विचार करता रहता हूँ सो ये न जानूं । इनको छोड़कर मैं ज्ञान के स्वरूप को ही जानूं कि ज्ञान क्या कहलाता है । ज्ञान का स्वरूप है ज्योतिमात्र, प्रतिभासमात्र । यह मैं अन्दर में सिर्फ प्रतिभास ही किया करता हूँ । वही तो स्वरूप है । तो उस प्रतिभास को ही, उस जानन को ही ज्ञान में लेवें काहे के द्वारा? इन्द्रिय के द्वारा नहीं किन्तु ज्ञान से । ज्ञान के ही द्वारा ज्ञान के स्वरूप को ज्ञान में लेवें यह स्थिति बनाना चाहिए ।

इस स्थिति से कल्पनाओं का एकदम विलय हो जायगा । कोई भी काम करें उसे विधि रूप से करना, इन्द्रियरूप काम अपने आप हो जायगा । जैसे लोग कहते हैं कि विषयों से हटो, पापों से हटो, इन कर्मों से हटो, तो इसके लिए क्या उपाय करना है कि इन सबसे हटा हुआ जिसका स्वरूप है ऐसे अविकार आत्मतत्त्व पर उपयोग रखना ये सब अपने आप हटेंगे । कहते हैं कि अष्ट कर्मों को जलाने के लिए मैं उद्यम करता हूँ । अरे अष्ट कर्म हम सामने रखे रहें अपने उपयोग में और फिर उनको जलाने का स्वप्न देखें कि मैं इन्हें जला दूंगा दूर करुंगा । अरे जब परपदार्थों का आश्रय ले रखा है तो उनके दूर होने की बात कहां रही? अष्ट कर्मों को दूर करना है तो अष्टकर्मो से रहित ज्ञायकस्वरूप निज आत्मभगवान को उपयोग में लेना होगा । इस विधि के प्रयोग से परभावों के निषेध का काम बन जायेगा । तो हमारी आदत दृष्टि ऐसी बन जाना चाहिये, कि मैं क्षण-क्षण में थोड़े ही प्रयास में एक ही झलक में अपने अविकार आत्मस्वरूप को उपयोग में ले सकूँ । यह है अपने आपके गुणों के प्रति सच्चा वात्सल्य । अपने आपके बारे में मनन करते जाइये कि यह मैं सर्व गतियों में रहा पर किसी गति रूप नहीं बना । मैं उनसे निराला ही रहा । मैं अनेक भवों में चल रहा, पर किसी भव रूप नहीं बना । मैं उन सबसे निराला ही रहा । क्या रहा? यह चैतन्यमात्र । ज्ञानमात्र सबसे निराला । सब बाह्य परिग्रहों के बीच भी पड़ा रहा मगर इनसे मैं निराला ही रहा । आज भी मैं इस देह से निराला । इन बीती हुई बातों से निराला । मन वचन काय की चेष्टावों से निराला । केवल ज्ञान में ही आ सकने वाला यह मैं चैतन्यमात्र हूँ । इसका किसी भी पर पदार्थ से रंच सम्बंध नहीं, सो सबकी उपेक्षा करके अपने आपमें अनुराग होना लीन होना यह है अपना वात्सल्य ।

धर्मिवात्सल्य में समता की मुद्रा की व्यक्ति—ऐसा निजवात्सल्य रखने वाले पुरुष दूसरे धर्मात्माजनों पर सच्चा अनुराग रख सकते है ऐसा बाहर में विचार करें तो जानें कि भावी बलवान है, कर्मों के उदय हैं विचित्र । इन लोगों से क्या द्वेष करना । इनमें तो समता रखना और रत्नत्रय के धारी संत पुरुषों में अनुराग करना, प्रमोद करना यह कोई पक्ष नहीं किया जा रहा कि अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जनों से उपेक्षा और ज्ञानी चारित्रधारी मोक्षमार्गी पुरुषों के प्रति अनुराग, यह भी समता का ही रूप है । अज्ञानीजनों में द्वेष नहीं किया और उनके सहज आत्मस्वरूप की भावना, की इस ढंग की समता वहाँ जगी । यहाँ गुणीजनों में उस समान स्वरूप को देखकर और उसकी दृष्टि करने से जो उनमें विकास होता है, उनके प्रति जो अनुराग जगा वहाँ समता का यह रूप आया । ज्ञानी जीव की समता के ही ये सारे रूप हैं । जैसा कि दूसरी भावना में बताया है—सब में मैत्री, गुणियों में प्रमोद, दुखियों में कारुण्य और विरोधियों में माध्यस्थ ये चारों समताभाव के रूप हैं । ऐसा समता का आदर करने वाले ज्ञानीजन अपने गुणों में प्रीति रखते हैं और रत्नत्रयधारी अन्य पुरुषों में प्रीति रखते हैं ।

श्लोक 18

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथं ।

जिनशासनमाहात्म्यप्रकाश: स्यात्प्रभावना ।।१८।।

सम्यग्ज्ञान की प्रभावना में वास्तविक प्रभावनाङ्ग का पालन—सम्यग्दर्शन के ८ अङ्ग होते है, जिनमें अन्तिम अङ्ग है प्रभावना । धर्म की प्रभावना करना प्रभावना अङ्ग है, उसका ही लक्षण यहाँ कहा जा रहा है । धर्म

मायने क्या है? ज्ञान । आत्मा का स्वरूप ज्ञान है और ज्ञान की दृष्टि करना, ज्ञान का ही प्रचार करना ज्ञान का प्रसार करना, सो प्रभावना अङ्ग है । आजकल प्रभावना के लिए जितनी बातें की जाती हैं रथ निकलना या समारोह करना आदि वे ज्ञान की प्रभावना में सहायक है तब तो प्रभावना कहलाता है, नहीं तो मन बहलाना उसका नाम है, प्रभावना नहीं । प्रभावना का लक्षण समंतभद्राचार्य कह रहे हैं । अज्ञानरूपी अंधकार के फैलाव को हटाकर यथा योग रीति से जैन शासन के माहात्म्य का प्रकाश करना प्रभावना कहलाता है । ये समग्र संसारी जीव अनादिकाल से ही अपने धर्म को नहीं जान रहें । ये सब आत्म ही तो हैं । इनके आत्मा का जो धर्म है सो ही इनका धर्म है । धर्म कहीं अलग-अलग नहीं होते । जैसे कि आजकल सम्प्रदाय में बँट गया है । यह इनका धर्म है वह उनका धर्म है । धर्म तो आत्मा का होता है । और वह धर्म है ज्ञान । ये संसारी जीव अनादिकाल से इस ज्ञानस्वभावरूप धर्म को न जानकर संसार में भटक रहे हैं । इनको इसका भी पता नहीं कि मैं कौन हूँ । मेरा क्या स्वरूप है, मैं कहां था कहां से आया कैसा हूँ कहां जाऊंगा, और जो जीवन चल रहा है इस जीवन में मेरे को करने का क्या काम था, क्या कर रहा हूँ यह कुछ पता नहीं है । बस जन्म लिया, पञ्चेन्द्रिय के विषयों के भोगने में लग गये विषयों के साधन जुटाने में लग गये और मरणकाल आ गया, मर गये, यहाँ का काम खत्म हुआ, अब अगले भव में जायेंगे, यही चक्की आगे चलेगी, ऐसे ही भव-भव में ये जन्म लेते फिरे । इन संसारी जीवों को अपने आत्मा का बोध नहीं हैं । इन्हें बोध मिले ऐसा उपाय बनाये, इसको कहेंगे प्रभावना । खाली धन वैभव, रथ सोना चांदी बड़े-बड़े ध्वजा पता का फहराना बड़े-बडे जुलूस निकालना इसमें प्रभावना नहीं कहलाती, जिससे लोगों को यह परिचय हो कि अपने आत्मा का कल्याण तो जिनेन्द्र देव ने बताया है जो जैन शासन में कहा है और मार्ग का सही यहाँ परिचय मिलता । जन समूह सराह उठे कि धन्य है यह जैन शासन जिसमें संसार के संकटों से छूटने का उपाय बताया है । यह बात दूसरों के चित्त में आ सके तब तो आपने प्रभावना की, नहीं तो प्रभावना तो दूर रही, उल्टी विपत्ति ही मोल ली । जब लोग देखेंगे कि इन जैनियों का ऐसा वैभव सोना, चांदी रथ के घोड़े । ऐसा जुलूस, ऐसी सामग्री तो लोग तो ईर्ष्या करेंगे, क्यों इनको ऐसा वैभव मिला, यह सोचकर वे उपद्रव ढायेंगे, तो यह कोई प्रभावना नहीं । हां ठीक यात्रा समारोह आदि भी है, मगर ज्ञान प्रभावना के साथ ही ठीक है । यदि लोगों को अपने ज्ञान की खबर मिले और उससे ही जैन शासन पर मुग्ध हो गये तो ये सब बाहरी समारोह उत्साह उसकी शोभा बढ़ा देंगे, पर ज्ञान की प्रभावना रंच भी न हो तो ये सब कार्य प्रभावना के न कहलायेंगे ।

अपने आचरण द्वारा अपने में व जनता में धर्मप्रभावना—अब जरा अपनी भी करनी देखिये—यदि स्वयं जैन लोग अच्छे आचरण से रहने लगे, जैसे अभक्ष्य न खाये, रात्रि भोजन न करें, झूठ कभी न बोले, दूसरे पुरुषों को न सताये, और-और भी जितने पापकार्य हैं उनसें बचे रहे, धन को दान में परोपकार में लगाते रहें तो इसमें भी प्रभावना बनती है और लोग सब कह उठेंगे कि धन्य है ये जैन शासन के भक्त लोग, जिनका ऐसा पवित्र आचरण हैं, ये कभी असत्य बोलते नहीं, दूसरों को सताते नहीं, पुण्योदय से परिग्रह जुड़ जाय, वैभव मिल जाय तो सबके उपकार में लगाते है । धन्य है यह जैन शासन । इसमें ऐसी ही शिक्षा बसी है कि लोग अच्छे कार्य करें । तो आप अपने आप अच्छे आचरण से रहें, यह भी प्रभावना अङ्ग है ।

धर्मप्रभावना के लिए अपने सदाचार की व ज्ञान के प्रसार की आवश्यकता—अब न तो खुद अच्छे आचरण से रहें और न जनता में ज्ञान का प्रचार करें, जहाँ ये दोनों ही कार्य नहीं हैं वहाँ प्रभावना नहीं है । यदि जैन शासन की प्रभावना करना है, कल्याण के मार्ग की प्रभावना करना है तो ज्ञान का प्रसार कीजिए और अपने आपको अच्छे आचरण में रखिये—यदि ये दो बातें हो सकें तो प्रभावना बनेगी । दोनों ही प्रभावना के उपायों में ज्ञान प्रकाश का मूल आधार जहाँ ज्ञान की बात मिले और समझ में आये उपदेश द्वारा, विद्यावों द्वारा ज्ञान का प्रचार होने पर जब समझ में आयगा जनता के कि अहो सत्य है, मैं देह से न्यारा ज्ञानमय आत्मा हूँ । मेरा मैं ही सर्वस्व हूं मैं खुद के ज्ञान स्वरूप को, अवस्थावों को करता रहता हूँ, और इस ही ज्ञान के फल को भोगता रहता हूँ । अन्य किसी पदार्थ पर मेरा अधिकार नहीं है । अहो इस प्रकाश ने मोह ही मिटाया और आत्मा को व्याकुलता से रहित कर दिया । यह बात जब ध्यान में आयगी तो वे जैन शासन की अनुमोदना करने लगेंगे । जैन शासन कोई सम्प्रदाय का नाम नहीं है । किन्तु जो आत्मा रागद्वेष को जीतकर जिन कहलाने लगे उसके द्वारा कहा गया जो मार्ग है उसका नाम जैन धर्म है । यों तो आप कोई भी शब्द रख लें उसी में लोग पक्ष मान लेंगे । जैसे मानों धर्म का निष्पक्ष धर्म कह दिया हो वह भी लोग सम्प्रदाय में घसीटने लगेंगे । ये निष्पक्ष धर्म के मानने वाले हैं । तो यों तो कोई भी नाम रखकर सम्प्रदाय बनाया जा सकता है, किन्तु भाव देखना चाहिए कि जैन धर्म का मूल अर्थ क्या है? रागद्वेष मोह पर विजय पाने वाले सर्वज्ञदेव के द्वारा कहा गया मार्ग जैन धर्म कहलाता है । सो ज्ञान के प्रसार में आत्मदृष्टि बनना मूल आधार है, उसी से ही प्रभावना बनती है और जो लोग शुद्ध आचरण से चलने लगें तो उससे भी आत्मस्वभाव की दृष्टि बनती है । जब जैनों का आदर्श चरित्र देखें कोई कि इनका बोल कितना हितमित प्रिय है, इनकी चेष्टा सर्व प्राणियों के लिए हितकारी है । इनकी दृष्टि कभी खोटी नहीं बनती है । ये व्रत, तप, नियम के बड़े सावधान है । जो व्रत, तप, नियम लिया अहिंसाव्रत आदिक तो प्राण जाने पर भी ये व्रत को छोड़ते नहीं है । और ऐसा है ही करीब-करीब कि जो व्रत नियम लेते है वह मरते समय भी इसका विकल्प नहीं करता और कह देता है वह रोगी कि रात्रि को मुझे कुछ न पिलाना, तो लोग जानते नहीं क्या कि जो व्रत नियम लेते है लोग वे पूरी शक्ति से निभाते हैं । तो इन सब आचरणों को देखकर उनका अनुमान न बनता होगा क्या कि कौनसा ज्ञानप्रकाश इन्होंने पाया जो अशुभ कर्म में नही लगते और शुभ बातों में ही चलते हैं । वह है आत्मज्ञान । इस आत्मज्ञान का प्रसार होना यह ही वास्तव में प्रभावना कहलाती है ।

रत्नत्रय धर्म व उसकी प्रारम्भिक आधारशिला—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन रूपों में आदर्श की बात है । श्रद्धान ऐसा दृढ़ होना चाहिए कि सर्वज्ञ वीतराग आत्मा ही देव हैं । जो अल्पज्ञ हो जो रागसहित हो वह तो संसारी जीव है, देव कैसे हो सकता? ऐसा दृढ़ श्रद्धा देखकर जनता कहने लगेगी कि इन जैनों का कितना दृढ़ श्रद्धान है । किसी भी मुसीबत में ये देव का श्रद्धान नहीं छोड़ते और यदि खुद ही श्रद्धान से डिगा रहे जीव तो वह अप्रभावना कर रहा है । जो वास्तविक जैन शासन का भक्त है उसका यह चिन्तन रहता है कि मेरे द्वारा कोई ऐसा अपकृत्य न हो जिससे जैन शासन की प्रभावना में आंच आये । श्रद्धान उनका दृढ़ होता । जो संवेग वैराग्य को बढ़ाये, जिनमें आत्मा का ज्ञान मिले, विषय कषायों से विरक्त करायें वे वचन,

वे ग्रन्थ शास्त्र है । ऐसे ही शास्त्रों को ये जैन लोग मानते है । जिनमें विषय कषायों की बात लिखी हो, पोषण करायी गई हो, भगवान का रूप दिखाया गया हो खूब जैसा चाहे खावो जैसा चाहे प्रेम करो, जैसा चाहे रागद्वेष करो, भगवान का चरित्र ही ऐसा दिखाया गया हो तो वहाँ वीतरागता की शिक्षा कहां से मिल सकती है । धन्य है यह जैन शासन जिसमें छोटे से लेकर बड़े-बड़े शास्त्र तक सर्व जगह एक इस वीतरागता की प्रेरणा दी है । गुरु वे जो विषयों की आशा न रखें, निर्ग्रन्थ हों, दिगम्बर हों, ज्ञानध्यान तप में लीन हो, ऐसे पवित्र आत्मा को पुरुष को ये जैन लोग गुरु मानते हैं । गाँजा भाँग पीने वाले और-और प्रकार के भेष रखने वाले, रागवृत्ति पोषने वाले पुरुषों को गुरु नहीं मानते । इनकी श्रद्धा अटल हैं ऐसे ही श्रद्धा की बात जानकर जनता जैन शासन की ही तो प्रशंसा करेगी । इससे अपना श्रद्धान पवित्र होना चाहिये । ज्ञान भी इस जैन शासन में इन जैनों का कितना विशुद्ध है । तत्त्वज्ञान में वस्तुस्वरूप मूल में बताया है कि प्रत्येक पदार्थ जो भी है वह अपने आप पूरा है । और जो है उसमें स्वयं यह सामर्थ्य है कि प्रति समय कोई न कोई अवस्था बनाये रहेंगे । भले ही अशुद्ध स्थिति में परद्रव्य का निमित्त पाकर उसकी दशा बनती है पर बनी तो खुद के परिणमन से । कैसा वस्तुस्वातंत्र्य बताया है जैन शासन में कि कोई किसी का मालिक नहीं, कोई किसी का कर्ता नहीं, कोई किसी का भोक्ता नहीं । सुख दु:ख दाता कोई न आन । मोह राग रुष दु:ख की खान । सो ऐसे दुखी से बचने का उपाय कैसा सत्यार्थ बताया है जैन शासन में कि निज को निज पर को पर जान । फिर दु:ख का नहिं लेश निदान । निज आत्मा को जान लो, यह मैं हूँ । बाकी जीवों को और समस्त पुद्गलादिक को जान लो कि ये सब पर हैं । पर से मेरा लेन देन? निज स्वयं परिपूर्ण है दु:ख का कहीं भी काम नहीं है । जहाँ ऐसा तत्त्वज्ञान जिन गुरु मुख से मिला करता हो उन गुरुवों द्वारा जैन धर्म की प्रभावना होती है और ऐसे गुरुवों की ही श्रद्धा है जैनों की, यह जानकर भी प्रभावना चलती है । तो प्रभावना का आधार है ज्ञान का प्रचार करना जिससे जीवों को आत्मा का ज्ञान मिले बस यह कहलाया प्रभावना।

श्लोक19

तावदञ्जनचौरोऽङ्गे ततोऽनंतमति स्मृता ।
उद्दायनस्तृतीयेऽपि तुरीये रेवती मता ।।१९।।

श्लोक 20

ततो जिनेन्द्रभक्तोऽन्यो वारिषेणस्तत: पर: ।
विष्णुश्च बज्रनामा च शेषयोर्लक्षतां गतौ ।।२०।।

सम्यक्त्व के आठ अङ्गों का पुन: स्मरण—सम्यक्त्व के जो ८ अङ्ग कहे गये हैं (१) नि:शंकित (२) नि:कांक्षित (३) निर्विचिकित्सा (४) अमूढ़दृष्टि (५) उपगूहन (६) स्थितिकरण (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना ये ८ अङ्ग है । ऐसा अपना व्यवहार नहीं बन पाता । इससे उल्टा व्यवहार चलता है तो समझिये कि उसके सम्यक्त्व नहीं है । जैसे शरीर में ८ अङ्ग हों तब ही वह शरीर सही कहलाता है ऐसे ही सम्यक्त्व के ८ अङ्ग हों तो वह सम्यक्त्व सही कहलाता है पूर्ण है । इन श्लोकों में वह उदाहरण बतलाया गया कि जो इन अङ्गों में प्रसिद्ध हुए हैं ।

नि:शंकित अङ्ग के पालन में अंजनचोर का उदाहरण—नि:शंकित अंग में अंजन चोर प्रसिद्ध हुआ है । एक अंजन नामक चोर था, उसमें कोई ऐसी कला थी कि वह आंख में आँज ले तो उसका शरीर दूसरों को न दिखे पर वह चोर वेश्या में आसक्त था । तो वेश्या एक हठ पर उतर गई कि तुम अगर रानी के गले का हार लावो तो हमारे घर आ सकोगे । तो उसने प्रयत्न किया और रानी का हार ले आया । हार लेकर जा रहा था अंजन चोर तो किसी को दिखे नहीं किन्तु हार तो नहीं छुप सकता था, उस पर तो अंजन न चलेगा । तो वह चमकता हुआ हार सबको नजर आये । पुलिस ने उसका पीछा किया, वह भगा और भागते-भागते आखिर जब थक गया तो एक जगह उसने देखा कि मुनि बैठा हुआ ध्यान कर रहे थे सो उन्हीं के आगे हार फेंककर वह आगे भग गया । अब उन मुनिराज का क्या हुआ यह तो आप प्रभावना अंग में जानेंगे । वह थे वज्रकुमार मुनि । उनकी बात प्रभावना अंग में बतायी जायेगी । अभी नि:शंकित अंग की बात देखिये—अब वह अंजन चोर अकेला रह गया, उसे पुलिस न पकड़ सकी वह आगे भाग गया । वन में एक जगह उसने क्या देखा कि कोई सेठ आकाशगामी विद्या सिद्ध कर रहा था । वृक्ष पर १०८ सूत का झूला डालकर उस पर बैठा हुआ था और नीचे तलवार, भाला, बल्लम आदि अनेक नुकेले अस्त्र खड़े थे । एक बार णमोकार मंत्र पढ़े और एक लर काटे दूसरी बार णमोकार मंत्र पढ़े फिर दूसरी लर काटे । यों १०८ बार णमोकार मंत्र पढ़कर कुल १०८ लरे काटने पर आकाशगामिनी विद्या सिद्ध होनी थी, सो यह क्रिया वह सेठ कर रहा था मगर नीचे रखे हुए नुकेले शस्त्रों की वजह से उसको उस रस्सी के फन्दे काटने की हिम्मत न पड़ती थी, सो कभी झूला पर बैठे कभी पेड़ की डाल पर बैठे । यह दृश्य देखकर उस अंजन चोर ने पूछा—भाई यह क्या कर रहे हो? तो उसने बताया कि हम आकाशगामिनी विद्या सिद्ध कर रहे हैं । तो अंजन चोर बोला—आप तो यह काम हमें दे दीजिए ।.... ठीक है ले लो । पर हमें कैसे-कैसे क्या-क्या करना पड़ेगा?.... एक मंत्र है णमोकारमंत्र उसकी उच्चारण करना होगा और प्रत्येक बार उच्चारण करके एक-एक काटना होगा । अन्तिम लर कटने पर वह विद्या सिद्ध हो जायगी ।.... अच्छा तो मंत्र कौन सा है?.... णमो अरिहंताणं, णमोसिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमोलोए सव्वसाहूणं ।.... अच्छा तो ठीक है इस मंत्र को पढ़कर हम वह विद्या सिद्ध करेंगे । आखिर मंत्र पर सच्ची श्रद्धा रखकर और नि:शंक होकर उस मंत्र की आराधना करना शुरू कर दिया । एक बार मंत्र पढ़े और एक लर काटे यही क्रिया चालू रही । थोड़ी ही देर में वह मंत्र तो सही-सही याद न रख सका पर श्रद्धा सही बनी रही, सो बोलने लगा—आणं ताणं कछू न जाण, सेठ वचन परमाणं । सो आणं ताणं बोलता जाय और रस्सी की एक-एक लर काटता जाय । जब सारी रस्सी कट गई सिर्फ एक लर रह गई, और वहाँ णमोकार मंत्र की आराधना किया तो अन्तिम लर के कटते ही आकाशगामी विद्या ने उसे झेल लिया और प्रकट होकर कहने लगी विद्या कि तुम जो चाहो सो आज्ञा करो हम करने को तैयार है? तो वहाँ उस अंजन चोर ने कहा कि हमें तो जिस मंत्र की वजह से यह विद्या सिद्ध हुई उसके शासन के आयतनों के दर्शन करावो । आखिर उस विद्या ने अंजन चोर को अकृत्रिम चैत्यालयों की वंदना कराया । अंजन चोर को आकाशगामिनी विद्या प्राप्त हुई । तो देखिये यह है नि:शंकित अंग का अनूठा उदाहरण । अंजन चोर को णमोकार मंत्र पर दृढ़ श्रद्धान था और उसे किसी प्रकार का रंच भी भय न था ।

निःकांक्षित व निर्विचिकित्सत अंग के पालन में प्रसिद्ध अनन्तमती व उद्यायनराजा का उदाहरण—इस णमोकार मंत्र का अचिन्त्य माहात्म्य है । इसकी श्रद्धा होने पर पाठ करने से और विशेष भी नहीं तो भूत प्रेतादिक का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता यह तो निश्चित ही है और-और भी कितनी ही बाधायें विनशती हैं । इस णमोकार मंत्र का चिन्तवन करने से कितने ही आधि व्याधि रोग नश जाया करते हैं । कितने ही पुराणपुरुष ऐसे हुए जो कि इस णमोकार मंत्र के दृढ़ श्रद्धान के बल पर तिर गए । अनन्तमती एक महापुरुष की पुत्री थी । उसने अनेकों वर्ष हरण आदि संकटों में भी अपने आपको शील व तपश्चरण में ही लगाया, उपसर्ग आने पर भी उसने अपने दृढ़ श्रद्धान को न छोड़ा, जिसका फल यह हुआ कि उसकी भव में देव रक्षा करते रहें । कितने ही लोगों ने उसे अनेक प्रकार के लालच दिये मगर उसे किसी तरह की विषयाकांक्षा नहीं उत्पन्न हुई । यह घटना सम्यक्त्व के निःकांक्षित नामक दूसरे अंग में बहुत प्रसिद्ध हुई । तीसरे अंग में उद्दायन राजा बहुत प्रसिद्ध हुए । तीसरा अंग है निर्विचिकित्सा अंग । मुनि, साधुवों की सेवा करते हुए में ग्लानि न करना निर्विचिकित्सा है । उद्दायन राजा साधु, मुनि तथा साधर्मीजनों का बड़ा सेवक था । उनकी सेवा करने में रंच भी घृणा न करता था । उसकी चर्चा स्वर्गों में देव भी किया करते थे । सो एक बार एक देव के मन में आया कि उद्दायन राजा की परीक्षा करना चाहिए कि जैसी बात प्रसिद्ध है वैसा है अथवा नहीं, सो एक मुनि का भेष धरकर चल दिया परीक्षा के लिए । राजा उद्दायन तथा उसकी रानी दोनों ने चर्या के समय उन्हें पड़गाह लिया और विधि पूर्वक आहार दिया । आहार हुए बाद उस मुनि ने कय कर दिया उसका सारा शरीर कय से सन गया वहाँ उद्दायन राजा तथा उसकी रानी इन दोनों ने बिना किसी प्रकार की घृणा किये उनका सारा शरीर पोंछ कय साफ किया । बस क्या था वह परीक्षा में सफल हुए । वह देव आखिर परीक्षा करने ही तो आया था, सो वह यही कहकर गया कि धन्य है तुम्हारे श्रद्धान को । हमने जैसी तुम्हारी प्रशंसा स्वर्गों में सुनी था । सचमुच वैसा ही देखने को मिला । आखिर वह देव राजा उद्दायन से क्षमा याचना करके स्वर्गों में पहुँचा और वहां सभा में पहुँचकर बीती हुई सारी घटना सुनायी और कहा कि सचमुच राजा उद्दायन साधुसंतों का परमभक्त है वह उनकी सेवा करते हुए में रंच भी ग्लानि नहीं करता । तो यह सम्यक्त्व का तीसरा अंग हुआ।

आत्मा के सहज स्व—अष्ट अंगों सहित जिनके सम्यग्दर्शन होता है उनका ही सम्यक्त्व प्रशंसनीय है और वह ही मोक्षमार्ग में आगे बढ़ सकता है । मोक्ष का मार्ग अर्थात् उपाय संसार के संकटों से छूटने के उपाय का मूल सम्यक्त्व है । किसे छटना है, क्यों छटना है, इस बात का जिनको परिचय नहीं उनका मोक्ष कहना केवल शब्द मात्र है। छूटना किसको है? यह जो मैं आत्मा अपने स्वरूपास्तित्व मात्र हूँ पर अनादि से कर्म सम्बंध और शरीर सम्बंध चले आ रहे हैं जिससे हमारी विभाव पर्यायें चल रही हैं । आकार की भी विभाव पर्याय और भावों की भी विभाव पर्याय और उस अवस्था में मैं दुःखी रहता हूँ । यह दुःख मेरा स्वरूप नहीं है । यह व्यर्थ ही लाद लिया गया है । इस दुःख से मुझे छूटना चाहिए । किसे छूटना चाहिए? जो अपना स्वरूपास्तित्व मात्र है अर्थात स्वरूपतः यह अन्य पदार्थ से मुफ्त ही है इसलिए यह पर्यायरूप में भी मुक्त हो सकता है अर्थात सांसारिक अवस्थावों से मुक्त बन सकता है ।

वस्तु के साधारण गुणों से वस्तु की व्यवस्थितता—प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूपास्तित्त्व को लिए हुए है अन्यथा सत् ही नहीं रह सकता । यदि कोई पदार्थ दूसरे से सत्त्व उधार ले तो वह सत् ही नहीं रह सकता । स्वयं सत् हैं सर्व पदार्थ । प्रत्येक जीव जो है वह पूरा है, स्वतन्त्र सत् है । प्रत्येक अणु अपने-अपने स्वरूपास्तित्त्व से सत् है । धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, प्रत्येक कालद्रव्य ये सभी अपने स्वरूपास्तित्त्व को लिए हैं । मेरा स्वरूप चेतन । मैं अस्तित्त्व से सम्पन्न हूँ और अपने ही साधारण गुणों से देख लो तो सारी व्यवस्था हैं मेरी मुझमें बनी हुई हैं। जैसे कि सर्व पदार्थों की व्यवस्था उनकी उसमें बनी हुई है। मैं हूं अपने स्वरूप से हूँ, पररूप से नहीं हूँ, यह वस्तुत्व गुण हैं कहीं मैं सर्वात्मक नहीं हो गया, किन्तु अपने ही स्वरूप से हूँ परस्वरूप से नहीं हूँ । यहाँ स्याद्वाद की भी परख करना । कुछ थोड़ा सूक्ष्मदृष्टि से सुनने की बात है। मैं स्वरूप से हूं, पररूप से नहीं हूं, यह कहलाता है स्याद्वाद मैं मैं हूँ पर नहीं हूँ यह स्याद्वाद का रूप नहीं है । फलित अर्थ है यह कि मैं मैं हूँ मैं पर नही हूँ पर स्याद्वाद का रूप यों ही नहीं हूँ । स्याद्वाद एक वस्तु में प्रतिपक्ष धर्म का अवगाह है, अस्तित्व है । नास्तित्व है। मैं ही हूं और मैं ही नहीं हूं, दोनों बातें आती है। मैं स्वरूप से हूँ पररूप से नहीं हूँ तो मुझ में अस्तित्व भी बसा है और नास्तित्व धर्म भी बसा हुआ है । उसकी अपेक्षा ये दोनों हैं । अब इस ही स्वरूप में निरखते जाइये यह है, अपने स्वरूप से है, पररूप से नहीं, पर इतने से अभी सत् न कहलायेगा । है तो सत् मगर उसका परिचय नहीं बन पाया । इतना ही नहीं है कि वह है वह निरन्तर परिणमता रहता है । ऐसा परिणमते रहने की बातें न निरखी जाय तो यही तो नित्यन्त एकान्त है । और सर्वथा नित्य कोई वस्तु हो ही नहीं सकती । जो है वह कोई न कोई अवस्था में रहेगा और अवस्थायें एक ही किसी की नहीं रहती, चाहे शुद्ध द्रव्य भी हो और शुद्ध अवस्था ही निरन्तर चल रही है सिद्ध में, धर्मादिक द्रव्यों में, तो भले ही सिद्ध अवस्था चल रही है पर प्रतिक्षण की शुद्ध अवस्था उस क्षण की शुद्ध अवस्था है । वह अवस्था अगले क्षण की नहीं है । तो यों सत्त्व का परिचय नहीं बना, परिणमता रहता है तो किसी रूप परिणमता रहे । जो चाहे जो कुछ बन जाय । फिर तो एक कुछ ईश्वरसा रह गया कि किसी रूप बना रहे। सो नहीं है सत्। अपने रूप में परिणमेगा, पररूप से न परिणमेगा, यह व्यवस्था अगुरुलघुत्व करता है। अपने आपमें निहारते जाइये मैं हूं, अपने स्वरूप से हूं, पररूप से नहीं हूं, निरन्तर परिणमता रहता हूं, अपने स्वरूप से परिणमता हूं, पररूप से परिणमता। इतना सब कुछ कहने सुनने बताने के बाद भी कुछ अभी एक वस्तु सो सामने नहीं आयी। कैसे आये? जब तक प्रदेशात्मक रूप से वस्तु को न समझ जाय तब तक सामने रहेगा क्या? यह तो फिर एक तरह की कल्पना भर रह जायगी। तो प्रदेशवत्व गुण से वस्तु का सीधा स्पष्ट परिचय हो जाता है। प्रदेशवान है सर्व पदार्थ। चाहे एक प्रदेश हो वह भी प्रदेशत्व सम्पन्न है, चाहे बहुप्रदेशी हो। इतने तक तो वस्तु का परिचय बना, लेकिन एक विशेषता यह बतायी जा रही है कि ज्ञेय सत् ही होता है, असत् नहीं होता। जो असत् है वह ज्ञेय कहां से हो? ज्ञान में ज्ञेयाकार कहां से होगा?

प्रमेयत्व गुण की सार्थकता के विषय में चर्चा—प्रमेयत्व गुण के विषय में लोग कभी शंका करते हैं कि वस्तु है जान गये, पर उस वस्तु में प्रमेयत्व गुण मानने की क्या आवश्यकता है? आवश्यकता क्या? यही तो धर्म है कि जो सत् है सो ही प्रमेय होता, असत् प्रमेय नहीं होता। जब कभी किसी असत् के बारे में बात करते हैं,

जैसे गधे के सींग, खरगोश के सींग, बंध्या का पुत्र, यों बात तो करते हैं ना, और हैं असत्—मगर वहाँ पर भी सर्वथा असत् की बात है ही नहीं। कुछ है। बंध्या है कि नहीं, पुत्र भी आदमियों के होते कि नहीं, अब उनका एक मेलजोल करके बात कही जा रही है। जो असत् है वह ज्ञेयाकार रूप में नहीं आ सकता। गधे के सींग नहीं होते पर गधे और सींग ये दोनों कहीं तो होते हैं। गधे भी होते हैं और सींग भी होते। अगर ये कहीं पाये न जाते तो ये शब्द कहां से निकलते? गधे भी होते, सींग भी होते तब ही तो उसकी बात करते हैं। पर गधे में सींग यह बात तो असत् रूप से कहीं जा रही है? शब्द जितने है उनका वाच्य है। भले ही कोई निषेध रूप से रहे। जैसे एक असत् शब्द ही लो यह असत् जब कुछ है ही नहीं तो यह शब्द कहां से आया? तो सत् तो है, उस सत् के निषेध रूप में कह रहे हैं। तो वस्तु में प्रमेयत्व गुण होता है इसके मायने है कि सत् ही प्रमेय होता है, असत् प्रमेय नहीं होता।

आत्मस्वरूप परिचय के सम्बन्ध में प्रथम साधारण ज्ञातव्य—अपने आपके स्वरूप के परिचय की बात कही जा रही है। ऐसा यह मैं प्रदेशवान अखण्ड अपने स्वरूपास्तित्त्वमय निरन्तर परिणमता रहने वाला एक चेतन पदार्थ हूं। इसका किसी भी अन्य सत् के साथ क्या सम्बंध है? भले प्रकार निरखिये अपने पर कृपा करते हुए, कल्याण बुद्धि रखते हुए अपने को संकटों से बचाने के उद्देश्य से सब मनन करते हुए निरखिये तो सही कि यह मैं जो स्वयं सत् हूं इस सत् का किसी अन्य सत् के साथ सम्बंध क्या कि वह मेरा कुछ कहलाने लगे। भले ही निमित्त नैमित्तिक योग से कर्म साथ लगे। शरीर साथ है तिस पर भी एक सत् का दूसरा सत् बन तो नहीं सकता। तो मेरा जगत के किसी भी पदार्थ के साथ स्वामित्व सम्बंध नहीं है, और मैं किसी को परिणमा दूं, ऐसा भी कर्तृत्व सम्बंध नहीं है। निमित्त नैमित्तिक योग से होता क्या है कि योग्य निमित्त के सान्निध्य में उपादान अपने में अपनी कला प्रकट कर लेता है। तो वस्तुत: वह प्रभाव उपादान का है, पर उपादान अपने इस प्रभाव को इस निमित्त सन्निधान के बिना प्रकट नहीं कर पाता, जैसा जो प्रभाव हो, तब उसके निमित्त का प्रभाव है यह ऐसा आरोप किया जाता है, पर यह भी नहीं है कि निमित्त सन्निधान के बिना उपादान में विकार होता है।

निमित्तनैमित्तिक भावप्रभाव में वस्तुस्वातन्त्र्य का स्पष्ट दर्शन—बात यह कही जा रही है कि प्रत्येक वस्तु अपने आप में अपना परिणमन करता चला जा रहा है । जैसे आप किसी सड़क से चले जा रहे हैं, सड़क पर कोई वृक्ष है उसके नीचे से भी जा रहे है तो आप छाया रूप बने । आपको कुछ शीतलता भी आयी; आगे बढ़े धूप मिली, गर्मी मिली, छाया मिली, यह सब बात आपकी आप में ही होतीं चली आ रही है मगर उस-उस निमित्त सन्निधान में आपका वह कै गर्मी आदिकरूप वहाँ परिणमन चलता जा रहा है । हां आपके शरीर के परिणमन को वृक्ष ने अपनी जगह से हटकर आप में लगकर नहीं किया । पर उस सन्निधान बिना भी बात नहीं बनी, पर परिणमन देखो सबका स्वरूप अपने-अपने में है परिणमन-परिणमन अपने-अपने में है, वृक्ष अपने में परिणम रहा, यह मनुष्य शरीर अपने में परिणम रहा और निमित्त नैमित्तिक योग भी चल रहा । जिसे कह सकते कि निमित्त नैमित्तिक योग और वस्तुस्वातंत्र्य में दोनों एक साथ रहें हैं । रहो फिर भी वस्तु के स्वरूप को देखो वह अपने द्वारा अपने में अपने लिए अपने से परिणम रहा है । किस योग में परिणम रहा, वह भी एक चर्चा है पर

केवल एक वस्तु को निरख करके तो देखिये उसका सर्व कुछ अपने आप में चल रहा है । जब मैं किसी परपदार्थ को कुछ परिणमाता भी नहीं, किसी का मैं कुछ करने वाला भी नहीं । भले ही आप अपने बच्चे की बहुत-बहुत सेवा करें और उसे देखकर अपना महत्त्व अनुभव करें, लेकिन वहाँ क्या है कि उस पुत्र का आप से अधिक पुण्य है । जिस पुण्य के निमित्त से आपको नौकर की तरह बनकर सेवा करनी पड़ती है पर करने वाला कौन किसका है? तो करने का भी सम्बंध नहीं है और परमार्थत: भोगने का भी सम्बंध नहीं है । यह जीव भोगता किसको है? अपने आपके परिणमन को भोगता है । परिणमन मुख्य है ज्ञान परिणमन । जैसा ज्ञान होता है वैसे ज्ञान को भोगता है और उस ही के अनुरूप दुःख सुख का अनुभव चलता है । किसी बाहरी पदार्थ से दुःख आता है क्या? आ ही नहीं सकता । बाहरी पदार्थ के बारे में कल्पनायें करते हैं उस ज्ञान की एक ऐसी दशा बनी है कि अपने आपके परिणमन में दुःख का अनुभव चल रहा है । किसी अन्य से मुझ में सुख आता क्या? सुख भी नहीं आता किन्तु अपने आपके ही ज्ञान को इस दिशा में बढ़ाया जा रहा कि दुष्ट बुद्धि की कल्पनायें बना बनाकर अपने को सुख का अनुभव करता है, किन्तु उस समय वे बाह्यपदार्थ, नोकर्म विषयभूत हैं इसलिए उनका नाम लदता है कि मैंने इसे भोगा, मैंने इसका सुख पाया ।

उपादान निमित्त व आश्रयभूत कारण के विषय में प्रकाश—बात यहाँ यों जानना कि जितने भी दुःख सुख आदि के परिणमन हो रहे हैं उनमें तीन प्रकार के कारणों की बात समझना है—(१) उपादान कारण (२) निमित्त कारण और (३) आश्रयभूत कारण । जैसे किसी को देखकर सुख हुआ तो उस सुख रूप कार्य का उस सुखानुभव का उपादान कौन? यह ही जीव, जो सुखरूप परिणमा । और निमित्त कारण क्या? साता वेदनीय का उदय आदिक । यहाँ इतनी सावधानी रखना कि जगत में ये जितने भी पदार्थ दिख रहे हैं स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, वैभव आदिक ये मेरी परिणति में निमित्त कारण नहीं कहलाते । निमित्त कारण तो केवल कर्म की दशा है । यह अन्तर डालें तो बहुत सी समस्यायें सुलझ जायेंगी । हमारी स्थिति में, दशा में केवल कर्म दशा निमित्त कारण होती है। जगत के ये बाह्य पदार्थ मेरी दशा में, अवस्था में निमित्त कारण नहीं होते, क्योंकि इसका कारण क्या है कि निमित्त कारण वे कहलाते हैं कि जिनके कार्य के साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बंध हो। होता तो है अत्यन्ताभाव वाला भिन्न पदार्थ । मगर जिसको जिस कार्य के साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बंध का अर्थ क्या? जिसके होने पर विकार हो जिसके न होने पर विकार न हो, यह नियम जहां बना हो उसे कहते हैं निमित्त कारण। ये जगत के बाहरी पदार्थ ये निमित्त कारण नहीं हैं, क्योंकि इनके होने पर विकार हों और न होने पर विकार न हो ऐसा निमित्त पाया जाता । घर गृहस्थी छोड़कर साधु हो गया कोई और कल्पनायें कर-करके विकार कर रहा, सुख हो रहा दुःख हो रहा । सामने चीज नहीं है पर चल रहा है । एक बात और समझें । जैसे एक दृष्टान्त दिया जाता है कि वेश्या मरी, तो उसको जलाने के लिए लोग श्मशान लिए जा रहे थे । उसको जब किसी साधु ने देखा तो उसके ये भाव हुए कि देखो इस बेचारी ने बड़ा दुर्लभ मानव जीवन पाकर व्यर्थ ही खो दिया, एक कामी पुरुष जो उसमें आसक्त था, देखा तो उसके ये भाव हुए कि यह वेश्या यदि कुछ दिन और जीवित रहती तो मुझे इससे और भी सुख मिलता, एक कुत्ते ने उस वेश्या के मृतक शरीर को देखा तो उसके ये भाव बने कि ये लोग इसे व्यर्थ ही जलाने के लिए ले जा रहे यदि इसे यों ही छोड़ देते तो हमारा

कुछ दिनों का भोजन बनता । अब देखिये अगर वह वेश्या शरीर विकारभाव का निमित्त होता तो सबके एक सा ही विकारभाव होना चाहिए था । यहाँ फर्क क्यों आया? फर्क यों आया कि मुनिराज का तो निमित्त कारण और तरह का था, कषायों का क्षयोपशम, ज्ञानावरण का क्षयोपशम जिसके कारण वैराग्यमय वातावरण बना । तो उनको निमित्त कारण कर्मों का क्षयोपशम रूप था इसलिए उसके ऐसे ही परिणाम हुए देखा वेश्या को और उसके आश्रयभूत कारण करके ही समझा गया मगर निमित्त कारण इसका और प्रकार का है । तो कामी पुरुष का निमित्त कारण और प्रकार का है । उसके है पुरुषवेद का उदय, और उसकी जो-जो भी चीजें, वे सब कर्म दशायें उसके लिए निमित्त कारण थीं तब उसके अनुरूप उसका भाव बना और कुत्ता आदिक का क्या निमित्त कारण था? असाता वेदनीय का उदय, क्षुधा वेदनीय का उदय । तो दशा थी कर्म की इसलिए उसके अनुरूप भाव बने और तीनों के लिए आश्रयभूत कारण वेश्या रही। तो ये जगत के जितने बाह्य पदार्थ हैं इनको भी हम रूढ़ि से निमित्त? बोलते हैं और शास्त्रों में भी निमित्त कहते हैं पर अर्थ यों समझना चाहिए कि यहाँ आश्रयभूत कारण तो निमित्त शब्द से कहा है या वास्तविक कारण को निमित्त रूप से कहा है?

आश्रयभूत कारण के सद्भाव असद्भाव आदि से सम्बन्धित कुछ तथ्यों का प्रकाश—अब आश्रयभूत कारण की बात देखिये—विकार होते है जीव में, उस प्रकार के मोहनीयकर्म के उदय का निमित्त पाकर । किन्तु यदि कोई विवेकी है और अपने उपयोग को आत्मा के अनुभव की ओर लिये जा रहा है या कोई जाप सामायिक आदिक धार्मिक कार्यों में चल रहा है तो उदय तो बराबर निरन्तर चल रहा है मगर आश्रयभूत कारण उसके लिए धन वैभव मित्रादिक नहीं बन रहे, क्योंकि उपयोग दूसरी ओर है । तो आश्रयभूत कारण न होने से विकार तो होंगे मगर वे अव्यक्त होंगे और आश्रयभूत कारण उपयोग में लिया जाय तो वह उपयोग व्यक्त हो जायगा । तो यहाँ यह बात जानना कि जो यह कहने की एक आदत है कि निमित्त कारण कुछ नहीं है उसकी आवश्यकता क्या? देखो बिना निमित्त के भी कार्य हो गया । तो वास्तविक दृष्टि से कथन करें तो यह बात नहीं कही जा सकती । होता क्या है कि निमित्त को तो झुठलाते हैं और उदाहरण देते हैं आश्रयभूत कारणों का । देखो वह वेश्या सामने आयी और मुनि महाराज के विकार न जगा तो निमित्त तो कुछ न रहा । और ये बाहरी समस्त पदार्थ आश्रयभूत कारण कहलाते हैं । ये निमित्त कारण नहीं कहलाते । इन्हें नोकर्म भी कहते हैं । इनका आश्रय करके इस द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को पाकर कर्म अपने में एक विशेष रूप से प्रतिफलित होते हैं ।

निमित्तनैमित्तिक योग के परिचय की प्रयोजकता—यह बात चल रही है एक आत्मस्वरूप की इस निमित्तनैमित्तिक की चर्चा से आपको आध्यात्मिक लाभ क्या होता है? ये जो विकार जगे ये मेरे स्वभाव से नही जगे । ये निमित्त पाकर जगे, और निमित्त पाना भी किस तरह का होता इस विकार के प्रसंग में कि उन कर्म प्रकृतियों में स्वयं अनुभाग पड़ा हुआ है । कब से पड़ा पडा है? जब से बंधा हुआ था । बंध के काल में प्रकृति, स्थिति, प्रदेश, अनुभाग हुआ है । सो जब कर्मोदयवश या उदीरणा वश आत्मा से निकलते है तो जैसे किसी दुष्ट को घर में बसा लिया जाय तो जब तक वह घर में रहेगा तब तक आप पर उपद्रव न करेगा और जब वह मौका पायेगा घर से बाहर निकलने का तो वह कुछ भी दुष्टता का व्यवहार कर सकता है । यह करीब-करीब ऐसी बात है, ऐसे ही ये कर्म जब तक एक सत्त्व में पड़े है तब तक इनका फल नहीं भोगने में आता,

ये कर्म न निकलते और सत्ता में पड़े रहते तब तो अच्छी बात होती । हम को दुःख ही न होता । पड़े रहेंगे सत्ता में पर ऐसा होता कहां है? जो आ रहा सो जायगा । तो जब वे कर्म विदा होते हैं तो उनका अनुभाग प्रस्फुटित होता है, फूटता है याने उनमें विकृति जो अनुभाग है वह एकदम फूल जाता है, बिगाड़ हो जाता । और उसका प्रतिफलन चूंकि चेतना है आत्मा, इस उपयोग भूमि में आता है, आक्रान्त हो गया यह और उस समय यह विचक गया, स्वभाव से हट गया, उपयोग बदल गया, पर की ओर चला गया, यों दुःखी होता है । तो जब यह ज्ञान में आयगा कि यह तो प्रतिफलन है तो यह कर्म के उदय का प्रतिफलन है । मेरे स्वभाव में कष्ट नहीं मेरे स्वभाव में विकार नहीं । मैं तो अपने स्वरूपास्तित्त्व से अपने चैतन्यस्वरूप मात्र हूँ । इसका जिस ज्ञानी संत ने परिचय पाया उसको जगत से विविक्तता आयी ।

अन्तस्तत्त्व की रुचि का प्रभाव—मैं मैं हूँ । ज्ञानमात्र हूँ । मेरे स्वरूप में किसी अन्य का प्रवेश नहीं है । कोई मुझ में परिणमन करता नहीं है । निमित्त नैमित्तिक योग है । वही तो संसार है, वही तो सारी व्यवस्थायें चल रही हैं । निमित्त नैमित्तिक योग समझने से भी लाभ तो मिला, तथ्य समझे तो सही । यह मेरा स्वभाव नहीं है । मैं अपने स्वभावरूप रहूंगा, मैं इन प्रतिफलनों में उपयुक्त न होऊंगा । ऐसा जानने वाला अंतस्तत्त्व का रुचिया संत अपनी ओर आता है । आऊं, उतरूं, रमलूं । ये इसमें स्थितियां बनती है । कहां से आऊं? जहाँ भटक गये वहाँ से लौटकर आऊं । कहां भटक गये थे? जगत के इन सर्व बाह्य पदार्थों में वहाँ से लौटकर आऊं । उतरूं जो मेरा स्वरूप है, ज्ञानभाव है, मैं अपने ज्ञानस्वरूप में उतरूं । ज्ञानस्वरूप को जानूं, रमलूं और इस ही ज्ञानस्वरूप में मैं रम जाऊं । ये तीन बातें—ज्ञानमात्र, ज्ञानघन और आनन्दमय इन तीन विशेषणों के मनन से सम्बंध रखती हैं । मैं ज्ञानमात्र हूँ इन-इन रूप नहीं हूँ । मात्र केवल ज्ञान हूँ इन बाहरी पदार्थोंरूप नहीं । ज्ञानमात्र विशेषण द्वारा समस्त बाह्य पदार्थो से हटकर मैं अपनी ओर आऊं और फिर करने क्या लगा? ज्ञानघन विशेषण के मानने से इस अपने आपके स्वरूप में उतरा मायने उस ज्ञानस्वरूप को ही जानने लगा, जानता रहा, इसी में बर्तता रहा और आनन्दमय वह दशा कहलाती है जहाँ ज्ञानघन का भी विचार नहीं, मनन नहीं । भान होकर उस विकल्प से हट गया, वहाँ आनन्द प्रकट होता है वही रमण होता है । तो आनन्दमय इस विशेषण के मनन के साथ यह निर्विकल्प होकर अपने में रमता है, ऐसी अपने आप में अपनी क्रीड़ा करता हुआ, रमण करता हुआ यह ज्ञानी संत प्रसन्न रहा करता है । उस ही सम्यक्त्व की बात यहाँ चल रही है । उस सम्यक्त्व के ८ अंग बताये जा रहे हैं उसमें किस अंग में कौन प्रसिद्ध हुआ उनके सम्बंध में यह श्लोक चल रहा है ।

स्वभावविमुख व परभावोन्मुख मोही जीवों के जीवन की व्यर्थता—जीवन में रत्नत्रय नहीं पाया तो यह जीवन भी बीते हुए अनन्त भवों की तरह व्यर्थ है । मानो लोक के वैभव कितने भी मिल गए, बड़े राजपाट मिल गए, बहुत बडे धनी हो गए, किन्तु एक अपने आपका पता न पा सके, फिर यह किंकर्तव्यविमूढ़ होकर अपने आपका कुछ भी भाना करके दुःखी रहा करता हैं । मैं कौन हूँ इसका परिचय होना बहुत जरूरी है । मैं हूँ स्वयं हूँ और चैतन्यस्वरूप हूँ । मैं जो कुछ अपने आप में हूँ सो केवल प्रतिभास मात्र हूँ उसमें विकार का काम नहीं । स्वभाव अविकार है स्वभाव केवल जानने का है कोई कष्ट नहीं । मेरा स्वभाव परिपूर्ण है—अधूरा नहीं हूँ मैं जो

कि कुछ करने को पड़ा हो अपने में जिससे कि मैं पूरा बनूं, ऐसा कुछ करने की आवश्यकता नहीं है । स्वरूप से पूरा हूँ और जब स्वयं मात्र जाननहार हूँ ऐसा मेरा निज का स्वरूप है, पर अनादिकाल से कर्मबंधन के कारण कर्म का विपाक आक्रमण करता है उससे दब जाने के कारण मैं अपने को न जान सकूं और बाहर में लगा रहूं तो यह तो अपने जीवन को खोना है । संसार का सुख केवल कल्पना का सुख है, वास्तविक सुख नहीं है, तब ही तो संसार का सुख भोगकर भी यह जीव तृप्त नहीं हो पाता, बल्कि बाद में पछताता है यदि संसार में वास्तविक आनन्द होता तो यह तृप्त रहता और सदा रहता, कभी व्याकुल न होता । तो संसार के ऐसे उतार चढ़ाव हैं कि कभी सुख कभी दु:ख, कभी लोगों की इष्टि में बड़ा ऊँचा, कभी अत्यन्त गिरा हुआ ये सब नटखट चलते हैं । तो इन बाहरी पदार्थों के लगाव से लाभ क्या है? लाभ है अपने आपकी समझ में । मर गये, इस भव से गये यह अकेला गया, इसके साथ कुछ जाता है क्या । फिर क्यों इन बाहरी पदार्थों में इतनी आसक्ति बनाते मेरा मैं हूँ, मेरा मैं शरण हूँ, मेरा मैं महान हूँ । किसकी छाया में मैं जाऊं? भगवान की भक्ति की छाया में जाने का अर्थ है अपने आपके स्वरूप की छाया में जाना, पर दुनिया के लोगों की छाया में जाने का क्या अर्थ निकल सकेगा? वह सब विडम्बना है । तो एक बार हिम्मत करके जिसे कहते कि एक झटका देकर इन सबसे निराला ज्ञानघन यह मैं आत्मा हूँ इसकी दृष्टि एक बार तो पाले । आपके पड़ोसी के लिए आपके बच्चे पर है । और कदाचित मान लो आप इस भव में न होते, किसी और जगह होते तो ये आपके कुछ लगते थे क्या? कल्पना में भी कुछ न थे । तो यह सब व्यर्थ की माया है । ये व्यर्थ के झुकाव व्यर्थ के लगाव खुद को परेशान कर डालते है । इन सुखों से तो दु:ख अच्छा है जिसमें एक फैसला बना हुआ है पर इस सांसारिक सुख में तो धोखा है । क्षोभ है, पाप का ही बंध है । तो इससे उपेक्षा करके कुछ अपने आत्मा के ज्ञान के अभिमुख होना चाहिए ।

सम्यग्दृष्टि की नि:शंकता नि:कांक्षितता व निर्विचिकित्सता का स्मरण—जिनको आत्मस्वरूप का अनुभव हुआ उन्हें कहते हैं सम्यग्दृष्टि जीव । सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक होता है । क्या होगा मेरा? यह उसको शंका नहीं रहती । सब मालूम है उसे कि मेरा क्या होगा । मैं ज्ञानस्वरूप हूँ और ज्ञान का परिणमन करता रहूंगा । यह मेरा होगा । पूरा तो पता है ज्ञानी को वह घबड़ायगा क्यों? वह बाहरी चीजों को तो अपनी कुछ समझता ही नहीं है । वह जानता है कि ये तो सब बाहर के परिणमन हैं । ज्ञानी को पूरा पता है कि मेरा क्या होगा । मैं ज्ञानस्वरूप हूँ । ज्ञान का परिणमन होगा, बस यही चलता रहेगा । ज्ञानी को शंका नहीं रहती । ज्ञानी को किसी प्रकार का भय नहीं रहता । यह बात सब नि:शंकित अंग में कही गई है । और उसमें प्रसिद्ध हुआ अंजन चोर । उसकी भी बात आप सब जानते हैं । ज्ञानी जीव को बाह्य पदार्थो में इच्छा नहीं रहती, इसका नाम है निःकांक्षित गुण । धर्म धारण करके तो इच्छा रहती ही नहीं है किसी सांसारिक सुख पाने की । कभी अपने आप पर तीव्र पापकर्म का उदय आ जाय और बड़ी विपत्ति का सामना करना पड़े तो ज्ञानीजीव उस खोटी दशा के बीच भी अपने ज्ञान को, अपने मन को नहीं गिराता । वहाँ साहस बनाता । आत्मा की शक्ति घटाकर वह दु:खी नहीं होता । इसे कहते हैं सम्यग्दृष्टि का निर्विचिकित्सित अंग ।

सम्यक्त्व के अमूढ़दृष्टि अंग में प्रसिद्ध रेवती रानी की अमूढ़दृष्टि का दिग्दर्शन—चौथा अंग है अमूढ़दृष्टि अंग,

मुग्ध न होना । चाहे खोटे तापसी जैसा चाहे अपने आपको देव मानने वाले लोग कैसा ही अपना प्रभाव दिखायें किन्तु वह ज्ञानी जीव उस चमत्कार में मुग्ध नहीं हो जाता । ऐसी सम्यग्दृष्टि को शुद्ध श्रद्धा है । एक बार रेवती रानी की बड़ी प्रसिद्धि थी कि वह अपनी श्रद्धा पर अटल है वह यहाँ वहाँ की देखी सुनी बातों पर विश्वास नहीं करती किन्तु जो शास्त्रों में लिखा है उस पर उसकी श्रद्धा थी । यह बात किसी एक विद्यावान क्षुल्लक ने या किसी ने सुना तो उसने उस रेवती रानी की परीक्षा के लिए अपने विद्याबल से कई देवताओं के रूप रखा और उनका बड़ा चमत्कार दिखाया । लोगों की बड़ी भीड़ लगने लगी उनका वह चमत्कार देखकर, पर रेवती रानी उस चमत्कार से आकर्षित न हुई । ऐसी ही कई घटनायें विद्या के बल से दिखाया । एक बार तो ऐसी घटना दिखायी कि जहाँ समवशरण की रचना थी, वहाँ मानो कोई नया तीर्थकर उत्पन्न हुआ हो, ऐसा दृश्य दिखाया । तब वहाँ लोगों ने रेवती रानी से कहा कि अब तो तीर्थकर महाराज समवशरण में विराजे हैं, उनके दर्शन करने चलो, तो उसने कहा कि २४ तीर्थंकर तो हो चुके अब २५वां नया कोई तीर्थकर न होगा, यह तो किसी मायाजाल का रूपक है । वह नहीं गयी । तब उस भेषधारी ने अपना बनावटी रूप छोड़कर सही रूप प्रकट किया और रेवती रानी की भारी प्रशंसा की । अमूढ़दृष्टि अंग की मुख्यता है अपने आपके स्वरूप के बारे में बेहोश न होना और विशुद्ध किसी घटना को देखकर उसमें आकर्षित न होना । यह कला ज्ञानी में पायी जाती है क्योंकि उसे अपने बारे में परिचय मिल चुका है ।

सम्यक्त्व के उपगूहन अङ्ग में पालन में प्रसिद्ध जिनेन्द्रभक्त सेठ की जिनशासन भक्ति का दिग्दर्शन—ज्ञानी के सम्यक्त्व का ५ वां अङ्ग है उपगूहन अङ्ग । किसी धर्मात्मा से चाहे वह भेष वाला ही धर्मात्मा हो कोई बात दोष की बने तो उसको जगत में प्रकट न होने देना । आपके लिए सोचना होगा कि यह कोई बुद्धिमानी है क्या किसी से कोई दोष बन गया तो उसे दण्ड दिया जाय? हां यह भी एक न्याय है पर सम्यग्दृष्टि की मंसा है कि यह जैनशासन जो अनादि से चला आ रहा है, जिसका आलम्बन लेकर भव्य जीव संसार से तिरते हैं, लोगों की दृष्टि में यह न आये कि यह जैनशासन भी मलिन शासन है । उस शासन में कलंक न आये । क्या किसी पुरुष का नियम लेना आलम्बन से रहित हो जायगा, इसलिए वह उपगूहन अंग का आदर करता है । इस अंग में जिनेन्द्र भक्त नाम का सेठ प्रसिद्ध हुआ है । उसका चैत्यालय था, जिसमें बड़ा कीमती छत्र लगा था, बड़ी कीमती मणि चढ़ी थी । एक बार किसी चोर के मन में आया कि इस छत्र को चुराना चाहिए पर वहाँ बड़ी व्यवस्था थी, कैसे चुरा सके? तो उसने कोई ब्रह्मचारी या क्षुल्लक का रूप रख लिया और बड़े ही निरारम्भ, निष्परिग्रह रूप से उस चैत्यालय में रहने लगा । सेठ को भी उस पर क्षुल्लक पर बड़ा विश्वास हो गया । और विश्वास हो जाना सम्भव ही था क्योंकि धर्मात्मा का सच्चा रूप उसके अलावा और कौन हो सकता था? सो एक दिन वह सेठ कहीं बाहर जाने वाला था किसी व्यापार सम्बन्धी कार्य, से तो उसने उस क्षुल्लक से कहा कि मैं एक दिन के लिए बाहर जाऊंगा, आप इस चैत्यालय की देखरेख रखना । ठीक है वह तो चाहता ही था कि कब मौका मिले और मैं छत्र चुराऊं । आखिर वह सेठ तो चला गया । इधर क्या घटना घटी कि मौका पाकर वह क्षुल्लक मंदिर के अन्दर से छत्र चुराकर भगा । अब छत्र में मणि की चमक होने से उस नगर के रक्षक सिपाहियों ने उसे देख लिया और चोर समझकर उसका पीछा किया । वह चोर भगता हुआ चला जा रहा था

और सिपाही उसका पीछा किये थे । इसी बीच उधर से वह सेठ अपने घर के लिए वापिस हो रहा था । रास्ते में उसने देखा कि वह चोर उसके ही मंदिर का छत्र लिए हुए जा रहा था और सिपाहियों ने उसको पकड़ लिया था । यह दृश्य देखकर सेठ ने सारा रहस्य जान लिया पर इस दृष्टि से कि इससे तो हमारे धर्म की अप्रभावना होगी, यहाँ धर्म की रक्षा करना चाहिए । सो इस भावना से प्रेरित होकर सेठ बोला सिपाहियों से कि आप लोग इन्हें छोड़ दे यह छत्र मेरा है और मैंने ही इनसे मंगाया था । बस छोड़ दिया सिपाहियों ने । यह है उपगूहन अंग का सच्चा उदाहरण । यहाँ लोगों को एक शंका हो सकती कि यह तो सरासर झूठ बोलना हुआ । तो ठीक है यहाँ झूठ बोलकर उस चोर को बचाने का भाव न था बल्कि धर्म शासन को अप्रभावना से बचाने का भाव था, इसलिए वह झूठ बोलना भी उस ज्ञानी पुरुष के लिए उस स्थिति में गुण हो गया । यह भी एक सम्यग्दर्शन का अंग है । आज जैन शासन के मानने वालों का चरित्र ऊंचा न रहा इस कारण जैनधर्म की अप्रभावना चल रही है । ऐसी स्थिति में किसी के मुख से कैसे निकल सकेगा कि ये जैनी हैं, ये धर्मात्मा है, ये कभी झूठ नहीं बोलते, ये कभी चोरी नहीं करते, ये रात्रि भोजन नहीं करते, ये बड़े सदाचारी हैं, ऐसा अब लोग कैसे बोल सकते क्योंकि कुछ संख्या में इनका चारित्र स्वयं गिर रहा है । हां कभी एक ऐसा जमाना था कि लोग जैनियों को बड़ी अच्छी दृष्टि से देखते थे और जैन धर्म की भी बड़ी प्रशंसा करते थे । पर आज बात नहीं देखने में आती । तो इस जैन शासन को विशुद्ध रखना यह अपने आचरण पर निर्भर है ।

सम्यक्त्व के स्थितिकरण अङ्ग में प्रसिद्ध श्री वारिषेण मुनिराज का करुणा—सम्यग्दर्शन का छठा अंग है स्थितिकरण । किसी धर्मात्मा को धर्म से चिगते हुए में उसे स्थिर कर देना स्थितिकरण अंग है । इसमें वारिषेण नामक मुनि अधिक प्रसिद्ध हुए । वारिषेण महाराज जब पुष्पडाल के यहाँ से आहार लेकर जंगल की ओर चले तो पुष्पडाल उन्हें कुछ दूर पहुंचाने गए । जब कोई एक दो मील जगह तय कर गये तो पुष्पडाल ने सोचा कि हम कैसे इनसे कहें कि अब मुझे घर जाने की आज्ञा दे दीजिए, इस संकोच से न कहा, उधर वारिषेण महाराज ने भी पुष्पडाल को घर लौटने कि लिए न कहा । यद्यपि पुष्पडाल ने कई बातें ऐसी कहीं कि जिन में यह संकेत था कि अब मैं काफी दूर आ गया हूँ, घर वापस लौटने की आज्ञा दे दीजिए, पर वारिषेण ने नहीं कहा । क्या कहा था पुष्प-डाल ने महाराज यह वही तालाब है जहाँ हम तुम बचपन में नहाने आया करते थे यह नगर से कोई दो मील पड़ता है यह वही बगीचा है जहाँ हम आप घूमने आया करते थे, यह नगर से कोई तीन मील पड़ता है; वारिषेण महाराज ने कुछ न कहा । आखिर जंगल पंहुचे, पुष्पडाल के भाव भी कुछ विरक्ति की और बढ़े ओर वहीं मुनि हो गये । अब मुनि तो हो गये पर उन्हें अपनी स्त्री का याद बराबर बना रहा । यद्यपि उनकी श्रीमति जी थी कानी, पर राग उसके प्रति बराबर बना रहा । जब वारिषेण महाराज ने पुष्पडाल मुनि को विचलित होते हुए देखा तो क्या उपाय किया कि अपने घर माँ के पास खबर भेज दिया कि कल के दिन हम घर आ रहे हैं, आप सभी रानियों को सजाकर रखना । यद्यपि वारिषेण की माँ को बड़ा आश्चर्य हुआ अपने बेटे की उस करतूत पर, पर समझा कि इसमें कोई रहस्य छिपा होगा । खैर उस माता ने दो सिंहासन सजाये—एक तो स्वर्ण का और एक काठ का । सोचा कि अगर हमारा बेटा विचलित हो रहा होगा तो स्वर्ण के सिंहासन पर बैठेगा नहीं तो काठ के सिंहासन पर । खैर वारिषेण तथा पुष्पडाल जब घर पंहुचे तो क्या देखा

कि बड़ा ठाठ अनेक सुन्दर रानियां बड़ा वैभव । यह सब ठाठ देखकर पुष्पडाल का चित्त पलट गया सोचा ओह धिक्कार है मुझे जो एक कानी स्त्री का ध्यान नहीं छोड़ पाता, यहाँ तो इतनी-इतनी सुन्दर रानियों को तथा इतने विशाल वैभव को त्यागकर ये वारिषेण महाराज मुनि हुए । बस पुष्पडाल मुनि का मोह गल गया और अपने धर्म में स्थिर हो गये । यह है धर्म में स्थिर करने का सुन्दर उदाहरण ।

सम्यक्त्व के वात्सल्य अङ्ग में प्रसिद्ध श्री विष्णु मुनि की करुणा—सम्यक्त्व का ७वां अंग है वात्सल्य अंग । इस अंग की तो बड़ी कथा है । रक्षाबंधन पर्व जो आज चल रहा है उसकी कहानी आप सब जानते ही हैं । वात्सल्य के मायने है प्रेम । जब श्री अकम्पनाचार्य आदिक ७०० मुनियों पर विकट उपसर्ग हो रहा था बालि आदिक मन्त्रियों ने ७ दिन का राज्य पाकर उन मुनिराजों को घेरकर एक बाड़े के अन्दर बन्द कर दिया था और उसके अन्दर लकड़ियों में आग लगा दिया था । अब मुनियों के ऊपर आये हुए इस घोर उपसर्ग का निवारण कैसे हो यह किसी की समझ में न आ रहा था । आखिर यह घोर उपसर्ग देखकर श्रवण नक्षत्र कम्पित हुआ देखा कि किसी मुनि का हाय शब्द निकला, जान लिया सब वृतान्त । उनसे किसी विद्याधरी क्षुल्लक ने पूछा—महाराज क्या मामला है जो रात्रि को हाय शब्द निकला? तो वहाँ बताया कि इस समय हस्तिनापुर में ७०० मुनिराजों पर घोर उपसर्ग है । तो महाराज इसके निवारण करने का क्या उपाय है?... जावो, विष्णुकुमार मुनीश्वर अमुक जंगल में तप कर रहे हैं वहाँ जाकर घटना बतावो वे ऋद्धिबल से सब उपाय सोच लेंगे और संकट टाल सकेंगे । सो वह क्षुल्लक विष्णुकुमार मुनि के पास पहुंचे और सारी घटना बताया तो विष्णुकुमार मुनि ने पूछा—इस उपसर्ग के निवारण का क्या उपाय किया जा सकता है? तो क्षुल्लकजी ने बताया कि आपको विक्रिया ऋद्धि सिद्ध है, उसके बल पर आप उन मुनियों का संकट निवारण कर सकते हैं । यह बात सुनकर विष्णुकुमार मुनि को महान आश्चर्य हुआ कि हमें विक्रिया ऋद्धि कैसे सिद्ध है, हमें तो इसका कुछ पता ही नहीं आखिर इसका पता लगाने के लिए जो उन्होंने हाथ उठाया तो उनका हाथ लवणसमुद्र पर्यन्त बढ़ गया । अब तो उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया कि हमें विक्रिया ऋद्धि सिद्ध है । अब क्या था, विष्णुकुमार मुनि तुरन्त ही अपना मुनि पद छोड़कर एक ५२ अंगुल वाला बोनारूप रखकर वहाँ पंहुचे जहाँ कि मुनियों पर वह उपसर्ग आया हुआ था । वहाँ जाकर देखा कि बलिराजा उन मुनियों को जलते हुए देख-देखकर बड़ा खुश हो रहा था उस समय बड़े-बड़े पंडित बुलवाकर मंत्रेच्चारण करवाकर यज्ञ जैसा कर रहा था उसकी खुशी में सभी को मन चाहा दान दिया जा रहा था । आखिर ७ दिन को मांगा हुआ राज्य उसे मिल गया था वह उस समय मनमाने कार्य कर सकता था आखिर जब मुफ्त ही उसे मिला था तो उसमें कंजूसी की क्या जरूरत? सो वहाँ राजा बलि ने विष्णुकुमार से कहा कि आप भी कुछ मांगिये तो वहाँ विष्णुकुमार ने तीन पग भूमि मांगा । उस समय राजा बलि बड़े आश्चर्य में पड़ा कि एक तो यह वैसे भी कद का बौना और फिर तीन पग भूमि मांगता इतने से इसे क्या होगा सो कहो—अरे इतने से क्या होगा कोई बड़ी चीज मांग लो या भूमि ही मांगना है तो काफी सी मांग लो तो वहाँ विष्णुकुमार बोले राजन् मुझे इससे अधिक न चाहिए ।... अच्छा तो आप तीन पग भूमि जहाँ चाहे ले लीजिए दे दूंगा यह मैं संकल्प करता हूँ । तो वहाँ विष्णुकुमार मुनि ने अपना एक पग उठाया तो विक्रिया से वह पग इतना अधिक बढ़ गया कि एक पग से खड़े होकर दूसरे पग से सारा मनुष्यलोक घेर लिया

फिर दूसरा पग घुमाया तो मानुषोत्तर पर्वत घेर डाला । अब तीसरा पग रखने को जगह न मिली तो बलि से कहा—बताइये अब मैं तीसरे पग की भूमि कहां नापूं? तो उस समय वह राजा बलि अत्यन्त शर्मिन्दा हुआ और विष्णुकुमार के चरणों में लोटकर क्षमा याचना किया और विष्णुकुमार के कहे अनुसार मुनिराजों का वह घोर उपसर्ग दूर किया । सारे मुनिराजों को उस बाड़े से निकाला गया उस समय उनकी क्या हालत थी सो तो ध्यान दो । उन मुनिराजों के सारे अंग अग्नि से झुलस गये थे अग्नि के धूम से कंठ अवरुद्ध हो गये थे, उनका सारा शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया था मगर उपसर्ग दूर हो चुका था, अब उन्हें कैसे जीवित रखा जाय इसका उपाय क्या किया लोगों ने कि जब वे चर्या को निकले तौ उन्हें आहार में सिवइयां दिया था ताकि उनके कंठ में आहार लेते हुए में कष्ट न पहुंचे । तभी से रक्षाबंधन पर्व चला और उसमें सिवइयां बनने की प्रथा चली । वह प्रथा आज भी चली आ रही । तो विष्णु कुमार मुनि ने वात्सल्य अंग की पूर्ति की, पश्चात् फिर दीक्षा लेकर तपश्चरण करने लगे ।

सम्यक्त्व के प्रभावनाङ्ग के पालन का एक उदाहरण—सम्यक्त्व का ८ वां अंग है प्रभावना । इस अंग में प्रसिद्ध हुए हैं वज्रकुमार । इनके दो रानियां थी एक थी, वैष्णवमत के मानने वाली और एक थी जैन धर्म के मानने वाली । दोनों ने अपना-अपना रथ निकालने के लिए होड़ मचायी । एक ने कहा—पहले हम निकालेगी, दूसरी ने कहा हम पहले निकालेगी । इसी प्रसंग को लेकर दोनों रानियां अनशन करके बैठ गई तो वहाँ वज्रकुमार ने अपने चमत्कार बल से वैष्णवमत को मानने वाली रानी का विचार बदल दिया और जैनरथ पहले निकला, जैन धर्म की प्रभावना हुई । वास्तविक प्रभावना तो ज्ञान की प्रभावना को कहते है । बाहरी शो दिखा देना यह कोई प्रभावना नहीं है । जनता के मन में आ जाय कि ये लोग बड़े सम्पन्न है, अपने धर्म की प्रभावना के लिए बहुत कुछ धन लुटाने को तैयार है ।

इस प्रकार की बात मन में रखकर बाहरी आडम्बर का प्रदर्शन करके लोगों को दिखाना यह कोई वास्तविक प्रभावना नहीं है । प्रभावना कहते है ज्ञान का प्रचार प्रसार करने को । सो ऐसे ८ अंगों से युक्त सम्यक्त्व को जो प्राप्त करता है वह पुरुष धन्य हैं, जो संसार संकटो से सदा के लिए पार हो गए ।

श्लोक 21

नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्यसन्ततिं ।
न हि मंत्रोऽक्षरोन्यूनो निहन्ति विषवेदनां ।।२१।।

अङ्गहीन सम्यक्त्व की जन्मसंततिछेदनाशक्यता के कथन के प्रसंग में प्रथम चार अङ्गों के स्वरूप का पुनः स्मरण—अभी सम्यग्दर्शन के ८ अंग बताये गये थे । उनके सम्बंध में कह रहे हैं कि उन अंगों में से यदि कोई अंग कम है तो वह सम्यक्त्व जन्म संतति को छेदने में समर्थ नहीं है । जैसे कि कोई अक्षर कम हो किसी मंत्र में तो उस हीन अक्षर वाले मंत्र की आराधना से विष वेदना को नहीं दूर कर सकते, ऐसे ही अंगहीन सम्यक्त्व जन्म संतति को नष्ट नहीं कर सकता । जिसके ८ अंग बराबर हों उस सम्यक्त्व से संसार पार होगा । वे ८ अंग क्या है सो संक्षेप में सुनो—(१) अपने आत्मा के स्वरूप में शंका न करना, किसी प्रकार का मरण आदिक भय न रखना, जिनवाणी के वचनों में संदेह न करना । (२) विषयभोग के साधनों की इच्छा न करना

और कम से कम इतना तो अवश्य ही करना कि धर्मधारण करने के एवज में विषयों की आकांक्षा न करना । जैसे महावीरजी क्षेत्र पर जाकर कोई कामना करे कि मेरे को अमुक काम की सिद्धि हो या अन्य क्षेत्र पर चढ़ावा बोले या अपने ही नगर में धर्म पूजा करे उसके एवज में चाहें कि मेरा परिवार सुखी रहे या अमुक लाभ हो तो वे सब सम्यक्त्व से विपरीत बातें है । उल्टी चाल चलने से सिद्धि नहीं होती । निष्पक्ष धर्म का ख्याल करके धर्म करना चाहिए । जो लोग महावीर जी, पद्मप्रभु या तिजारा आदिक जगहों पर कामना नहीं करते, नहीं जाते ऐसे लोग क्या दुःख में रहते है? लोग धन की बात करते हैं । अन्य विदेशों में जो लोग कोइ देव नहीं मानते वे लोग भी तो करोड़पति, अरबपति आदिक बड़े सम्पन्न पाये जाते । तो बताओ प्रभु से माँगने से उन्हें धन मिला क्या? अरे यह तो सब पूर्वकृत क्रम की उदय से सब पुण्यसामग्री मिली है । आज की बात आज हैं । अब परिणाम बिगड़ेंगे तो आगे कष्ट है, अपने परिणाम ठीक रखेंगे तो आगे आराम है । जरा अपनी वर्तमान बात सोचिये-यह संसार यह जन्ममरण दुःख का जाल है । इससे बचना अभीष्ट है, इससे बचना है । उसका उपाय क्या है? अपने अकेले स्वरूप को जानें उस ही में श्रद्धान बनावें कि यह मैं हूँ और उस ही में रमण करें, अवश्य शान्ति मिलेगी । तो किसी प्रकार की आकांक्षा न करना, धर्म धारण करके तो आकांक्षा करना ही नहीं । यह नि:कांक्षित अंग है । कोई तीव्र कर्मोदय आयें और बड़े संकट सामने आ जाये तो उनसे घबड़ाना नहीं, चित्त की गिराना नहीं और सोचना कि क्या संकट है? ये बाहरी पदार्थ हैं, ये रहें न रहे, कैसे ही रहे, वे बाहर की बातें बाहर ही तो रही, उनसे मेरे में क्या संकट है? अपने अमूर्त, सुरक्षित ज्ञानस्वरूप को निहारकर उसमें ही तृप्त रहना चित्त को गिराना नहीं यह नि:शंकित अंग है । और साधुजनों की सेवा करते हुए में ग्लानि न रखना यह है तीसरा निर्विचिकित्सत अंग । (४) अमूढ़दृष्टि । खोटे मार्ग को देखकर खोटे मार्ग पर चलने वाले लोगों का चमत्कार देखकर उसमें मुग्ध न होना, बात यथार्थ ही जानना कि लोक में चमत्कार कितने ही दिखा लिए जाये पर उनसे पूरा न पड़ेगा । पूरा पड़ता है सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से ।

अङ्गहीनसम्यक्त्व की जन्मसंततिच्छेदाशक्यता के कथन के प्रसंग में अन्तिम चार अङ्गों के स्वरूप का पुन: स्मरण—५ वां है और उपगूहन । जैन शासन को उज्ज्वल बनाये रखने के लिए किसी धर्मात्मा के दोषों का प्रसार न करना, नहीं तो लोग धर्ममार्ग से हट जायेंगे, यह कहकर कि यह सब ढकोसला है, जैन शासन कुछ नहीं है, सो उसकी रक्षा करने के लिए निर्दोष बनाना उपगूहन अंग है । (६) स्थितिकरण—कोई धर्म से चिग रहा हो किसी आपत्ति से या उसकी चिन्ता से तो हर उपायों से उसको धर्म में स्थिर करना स्थितिकरण है । (७) वात्सल्य—निष्कपट प्रेम । क्योंकि खुद भोग के साधनों में अनादर रख रहा इसलिए उससे कोई कपट नहीं हो सकता । ये चूंकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के धारी है दूसरे पुरुष तो उनके गुणों में अनुराग जगता ही है । (८) आठवां है प्रभावना अंग—ज्ञान की प्रभावना करना प्रभावना है । धर्म ज्ञान ही है, अन्य चेष्टावों का नाम धर्म नहीं, । मंदिर में आकर पूजा करके हाथ जोड़कर, अनेक चेष्टायें करके यदि आपके इस ज्ञानस्वभाव में दृष्टि जगती है, इसका लक्ष्य बनता है । इस ज्ञानस्वभाव में रुचि जगती है तब तो आप समझिये कि धर्म कर रहे अन्यथा धर्म नहीं कर रहे । अब कोई पूछ सकता क्या इन मंदिरों का आना छोड़ दिया जाय? तो यहाँ छोड़ने की बात नहीं कर रहे, क्योंकि धर्म करने के ये साधन हैं । अगर इन साधनों में लगे रहेंगे तो

ज्ञान की वार्ता कभी मिलेगी और कभी अनुभव बनेगा तो आप धर्म करने लगेंगे, क्योंकि धर्म ही इस जीव का कल्याण कर सकने वाला है । दूसरा कोई मददगार नहीं । अब विशुद्ध ज्ञानस्वभावमय अपने को अनुभवना बस यही संकटों को दूर रखना है । तो यों आठ अंग होते है । उनमें यदि कोई अंग कम हो जाय तो वह सम्यक्त्व जन्म परम्परा को नष्ट नहीं कर सकता ।

श्लोक 22

आपगासागरस्नानमुच्च्यः सिकताश्मनां ।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढ़ं निगद्यते ।।२२।।

लोकमूढ़ता में नदी समुद्र में स्नान करने में धर्म की मान्यता—अब इस प्रसंग में उन मूढ़तावों का वर्णन करेंगे जिन परिणामों के रहते सम्यक्त्व होता नहीं । उन मूढ़तावों में यह प्रथम मूढ़ता है लोकमूढ़ता । इस शब्द से अर्थ निकलता है कि दुनिया के लोग जहाँ बह रहे है जिन-जिन अधर्म वृत्तियों में धर्म की मान्यता कर रहे उन्हीं के पीछे खुद लग जाना और खुद भी वैसा मान लेना यह लोकमूढ़ता कहलाती है । जैसे लौकिकजन नदी में स्नान करने से धर्म मानते ऐसे गंगा, यमुना, नर्मदा, सिंधु और-और भी ले लीजिए । ये सब बहुत दूर हों तो अपने ही गांव के पास का नाला ले लीजिए जहाँ कहीं भी स्नान करने में धर्म मानना यह लोकमूढ़ता है । भला सोचिये नहाया गया शरीर में धर्म मिलेगा क्या? जो शरीर खुद अपवित्र है । उसको कितना ही धोवो क्या वहाँ धर्म बन जायगा? क्या पवित्रता बन जायगी? जैसे मल से ही तो बनाया हुआ घड़ा हो और उसमें मल ही रखा हो और ऐसे घड़े को धोकर कोई पवित्रता लाना चाहे तो यह कितनी मूढ़ता भरी बात है । तो ऐसे ही देखिये—यह शरीर मल बीज है मल योनि है और झरते हुए मल का घर है । मल से ही तो शरीर बना । क्या सोना चांदी से शरीर बना? अरे माता पिता के रज वीर्य से, और-और भी ऐसे ही आहारादिक से ये सब शरीर की रचनायें हुई । तो पहले तो इनका कारण ही देखिये—गन्दा है, और फिर यह बनेगा क्या? यह मल ही बनेगा । मल की ही योनि है । मल का ही उत्पादक है, और निरन्तर मल ही झरता रहता है । इस शरीर में कोईसा भी हिस्सा ऐसा तो बताओ जो कुछ लोक में भी ठीक माना जाता हो । लोग चाम, खून, मांस, हड्डी, चर्बी और जो-जो कुछ भी अन्दर है वह सब अशुचि है । ऐसे अपवित्र देह को नदी में नहलवा कर जो तृप्त हो जाता कि मैने धर्म कर लिया, यह उसकी कितनी विपरीत बात है । जिसको अपने अमूर्त अविकार ज्ञानस्वरूप की तो खबर नहीं, देह में ही आपा मान रहे हैं और धर्म होगा, मोक्ष मिलेगा, इस आशा से नदियों में स्नान करने में धर्म मानते है तो भला बतलावो धर्म मार्ग से कितने विपरीत ख्याल है?

शरीर की अशुचिता का और चित्रण—यह शरीर तो इतना अपवित्र है कि जिस शरीर पर कोई चीज लेप दें तो वह चीज भी कुछ गंदी मानी जाती । जैसे फूलमाला पहिन ली और मालूम पड़ गया कि इसकी पहिनी हुई है तो फिर उस माला को कोई पहिनता नहीं है । शरीर पर तेल लगा लिया, अधिक लग गया तो अब वह अधिक लगा हुआ तैल पोंछकर कोई दूसरा व्यक्ति नहीं लगा सकता, किसी टप में कोई स्नान कर ले तो उस स्नान किये हुए जल से कोई दूसरा नहीं नहाना पसंद करता, शरीर पर किसी ने चंदन का लेप किया हो तो उसे पोंछ कर कोई दूसरा नहीं लगाना पसंद करता । तो ऐसा अपवित्र यह शरीर है । और भी देखिये इस

शरीर के मल । कान से निकला हुआ मल मायने कनेऊ यह इतना गन्दा है कि कोई इसे छूना नहीं चाहता । अब उसके नीचे चलो तो मिली आँख । आंख का कीचड़ कान के कनेऊ से भी अधिक गन्दा माना जाता । उसके नीचे है नाक । नाक की नाक उस आँख के कीचड़ से भी अधिक गंदी मानी जाती । और नीचे चलो तो मुख के कफ लार आदिक उससे भी गंदे माने जाते और नीचे चलो तो मलमूत्र और भी अधिक गंदे माने जाते । और फिर इस शरीर के भीतर देखते जाइये तो खून, मांस, मज्जा, आदिक सब गंदी ही चीजें मिलेंगी । ऐसे इस महा अपवित्र शरीर पुतले को नहलवा कर मानना कि मैं धर्म कर रहा तो वह उनका कितना गलत ख्याल है ।

देवादिविनय के लिए गृहस्थ को नहाकर पूजा विधान करने की आवश्यकता होने पर ज्ञानी की रत्नत्रयभाव में ही धर्मत्व की आस्था—गृहस्थी में रहकर सामान्यतया नहाना सो तो ठीक है, यह कर्तव्य माना जाता । क्योंकि बिना नहाये मंदिर आकर पूजा पाठ करने में चित्त नहीं लगता । उसका कारण यह है कि जहाँ अनेक गंदी बातें करते रहते हैं अनेक पाप के कार्य करते, भोग साधनों के पाप करते, रागद्वेष मोहादिक के कितने ही पाप करते तो समझिये कि जहाँ मन इतना अपवित्र हो गया है वहाँ बिना नहाये धोये पूजा पाठ आदि धार्मिक कार्यों में मन कैसे लग सकता है? इससे स्नान करना यह तो भगवान के विनय में शामिल है । अब कोई स्नान कर लेने को ही एक धर्म मान लें कि मैने धर्म कर लिया तो यह तो उचित नहीं है ख्याल, पर भगवान की पूजा पाठ आदि स्नान करके करना यह तो विनय में शामिल है इसलिए गृहस्थी में स्नान करना यह रोज का कर्त्तव्य है ताकि विनय पूर्वक और चित्त के समाधान पूर्वक धर्मसाधना कर सके, पर धर्म मानता तो आत्मा के श्रद्धान ज्ञान और कर सके पर धर्म मानना तो आत्मा के श्रद्धान ज्ञान और आचरण में हैं । दूसरा कोई धर्म नहीं है, मायने मोक्ष का मार्ग अन्य नहीं है । सो यह लोकमूढ़ता के प्रकरण में कह रहे है कि नदी में स्नान करके धर्म मानना और उसके पर्व बनाना उसका जलसा करना आदिक भीतर धर्म की कल्पना करना यह तो लोकमूढ़ता कहलाती है । अरे आत्मन् ! तू आत्मा है अमूर्त है, कर्म उपाधि के वश से तेरे में विकार जगा है, तू अपवित्र बन रहा है तो अपने अमूर्त स्वरूप का ध्यान धर । अविकार स्वरूप से रुचि कर तो ये तेरी बाह्य कल्पनायें, ये बाह्य विकार ये सब दूर हो जायेंगे । पर गन्दे शरीर को नहला कर धर्म मानने की बात बिल्कुल मूढ़ता की है । जैसे रिवाज चलाना कि जब धुला कपड़ा किसे दूसरे से छू गया तो वह कपड़ा अशुद्ध हो गया, उसे बदलकर दूसरा शुद्ध कपड़ा पहिनने पर शुद्धि बन पाती, ऐसा लोक व्यवहार में मानते । तो ऐसा अपवित्र है यह शरीर कि जिसके छू जाने पर कपड़े तक अशुद्ध माने जाते । तो इसके नहाने में धर्म मानना मूढ़ता है ।

शरीर की सजावट के अनुराग की मूढ़ता—साथ ही एक बात और ध्यान में रखें । इस शरीर से प्रेम करना भी मूढ़ता है । इस शरीर को अनेक प्रकार के वस्त्रों तथा आभूषणों से सजाना और बड़ा खुश होना मैं कैसा सज गया, मैं कैसा शृंगार में आ गया इससे मिथ्यात्व पुष्ट होता है । अरे यह शरीर सजाने के लिए नहीं मिला, किन्तु रत्नत्रय धर्म का पालन करने के लिए मिला, ऐसा अपने चित्त में निर्णय रखें । करना सब पड़ता हैं । बताओ कपड़े पहिनने पड़ते कि नहीं । कपड़े पहिनकर उनमें बड़ी छांट करना कि मेरी इस कटिंग की कमीज

हो, ऐसा कोट हो, ऐसे रंग का हो, नये फैशन का हो, उसको पहिनकर गौरव अनुभव करना कि मैं बहुत ठीक हूँ । यह सब मिथ्यात्व को पुष्ट करने वाली बात है । लग रहा होगा ठीकठीक मगर उसके लगाव राग में बड़े ऐब भरे हैं । हां शरीर को थोड़ा बहुत सजाकर रखना भी पड़ता बाल बढ़ गये तो कटाना भी पड़ता, कपड़े साफ स्वच्छ पहनने पड़ते शरीर की भी- सफाई व्यवहार में रखनी पड़ती, यों साधारण रूप से जितनी सफाई चाहिए वह तो ठीक है, पर इस शरीर को भारी सजाना इसे देखकर खुश होना यह तो मिथ्यात्व को पुष्ट करने वाली बात है । सात्विक ढंग से रहना और धर्मधारण के लिए अपना उपयोग लगाना यह कर्त्तव्य होना चाहिए । और धर्म क्या? ज्ञान ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्व का ज्ञान होना यह धर्म है । जहाँ आत्मज्ञान नहीं वहाँ धर्म की गंध नहीं । उसका परिचय कीजिए । धन मिले, धन जुड़े इस बात को तो आप उदय पर छोड़िये । थोड़ा बहुत उद्यम तो करना ही पड़ेगा मगर उद्यम से क्या लाभ नहीं होता यदि पुण्योदय नहीं है तो । सो अपने धर्म को सम्हालो उसके होते हुए पुण्य भी बनता है, उसके उदय में साधन भी जुटते हैं, किन्तु कोई धर्म की तो प्रभावना ही न करे और मात्र यह धन जोड़ लिया, इसको ऐसा कर दिया, इसी-इसी में ही अगर रात दिन चित्त उलझे तो समझो कि उसका जीवन व्यर्थ ही गया । जीवन उसका सत्य है जो रत्नत्रय धर्म का पालन बनाये पर उसके खिलाफ लोक रीतियों में फंसा रहे तो वह तो लोकमूढ़ता स्पष्ट है ।

व्यवहार में लौकिक शुद्धियां करने पर भी ज्ञानी का रत्नत्रयभाव से आत्मशुद्धि का लक्ष्य—देखिये लौकिक पवित्रता भी करनी पड़ती है मगर उसमें आत्मा का धर्म माना नहीं जा रहा । जब रह रहे है और अनेक अशुचि कार्य बन रहे हैं तो लौकिक शुचि चाहिए पर उस लौकिक शुचि से लोक व्यवहार में ही एक मन की समझावट बनती हैं और जब मन कुछ समाधान में है तो धर्म कर सकता । एक बार कोई विद्वान 'गंगा स्नान' नामक विषय पर व्याख्यान दे रहा था । उससे जब अनेक कुछ दलीलें देते न बनी तो अन्त में एक दलील यह पेश की कि गंगा स्नान करने से शरीर हल्का हो जाता है । शरीर के हल्के होने से जब कोई पुरुष ध्यान करने बैठेगा तो उसका मन ध्यान में लग जाता है । यों कितनी ही बातों की दलील पेश की जाय मगर यह समझो कि स्नान करना तो एक कर्त्तव्य में शामिल हो गया, उससे कहीं धर्म नहीं हो जाता । जहाँ मोह ममता के प्रसंगों के कारण बहुतसा बोझ लाद लिया तो उसका चित्त बदलने के लिए कौनसा कार्य है ऐसा कि जिससे मुड़ जाय? तो वह है स्नान आप देख लीजिए बैठे है विधान होना है, पूजन होना है तो उस समय यदि आप स्नान करके आयेंगे तो आपके भावों में बड़ी विशुद्धि रहेगी और यदि स्नान नहीं किया है तो भावों में विशुद्धि न आयगी । स्नान करके एक मन समझावट बनी ओर उसके बाद धर्ममार्ग में लगे । तो लौकिक दृष्टि से भी आवश्यकता तो है स्नान की पर उसको लोक में ही आवश्यक समझना बस इतना अर्थ है लौकिक शुद्धि में । लोकोत्तर शुद्धि, आत्मस्वरूप का ध्यान, मनन, स्मरण अनुभव ये लोकोत्तर शुद्धियां है । जहाँ जहां राग लगा, द्वेष लगा कषाय लगी है उन सबको दूर करना और अपने आपको विकाररहित अनुभव करना यह है लोकोत्तर शुद्धि ।

संसरणरीति को बदलकर मोक्षपद्धति के मार्ग पर लगने का संदेश—थोड़ा सोचिये तो सही—जिस रंग ढंग से संसार में चले आये हैं, आज मनुष्यजीवन में भी बनाये रहे जन्मे, बड़े हुए धन कमाने की कलायें सीखी, कमा

रहे घर में, मोह में मुग्ध हो रहे बस इतना ही तो लक्ष्य है, ख्याल है इससे आगे का ध्यान ही नहीं । जब कभी भगवान का नाम लेने लगते तो कहीं आत्मरुचि के कारण नहीं लेते किन्तु दुखों से ऊबकर भगवान का नाम लेते बस यदि यही रफ्तार चलती रही तो बताओ इस जीवन में कल्याण का क्या उपाय किया? अब कुछ कदम उठाना चाहिए मोक्ष मार्ग का, जिसका प्रथम उपाय है सम्यग्दर्शन लाभ । और उसके यत्न में स्वाध्याय अध्ययन सत्संग के तीन बातें चाहिए । सो कितनी ही उम्र हो जाय अपने की इस काम के लिए बालक समझिये । अब हम शुरू करते हैं मोक्षमार्ग की पढ़ाई । एक प्रेक्टिकल तो ऐसे तत्त्वज्ञान द्वारा अपने आप में ज्ञान की वृत्ति करना और उसमें ही तृप्त रहना, बाह्य प्रसंगों के लालच तृष्णा आदि से दूर हो जाना, यह लक्ष्य में बन जाय तो धर्म का मार्ग पा लेना कोई कठिन बात नहीं । वह तो अपनी चीज है । निज की निज में दुविधा ही क्या? कोई पर की चीज लेना चाहता हो तो उसमें कष्ट है । सो स्वाध्याय, सत्संग और अध्ययन द्वारा ज्ञानविकास कीजिए और उस ज्ञान में तृप्त रहने का लक्ष्य बनाइये ।

सम्यक्त्व और चारित्र से आत्मशुद्धि—इस ग्रन्थ में समीचीन धर्म कहने की प्रतिज्ञा की है । इसका नाम है रत्नकरण्ड । पूरा नाम इतना ही है, चूंकि इस रत्नकरण्ड में श्रावकाचार का अधिक वर्णन है इसलिए उस नाम के आगे श्रावकाचार और बोलने लगते हैं । पूर्ण नाम है रत्नकरण्ड, याने यह ग्रन्थ स्वयं रत्नों का पिटारा है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र यह ही धर्म है जिससे यह जीव संसार के दुखों छूटकर मोक्ष में पहुंचते है । सम्यग्दर्शन क्या? आत्मा का अपने आप अपने ही सत्त्व के कारण जो स्वयं सहजस्वरूप है उस रूप में अपना दर्शन करना अपना परिचय करना, अपने को मानना यह है सम्यग्दर्शन । मैं यह हूँ । अपने स्वरूपास्तित्व मात्र से जो अपने में बात है उस ही को स्वीकार करने वाला पुरुष स्वयं आत्म चरण की ओर बढ़ता है, विशुद्ध ज्ञान उसके बर्तता है और इस भीतरी प्रेरणा के कारण इसकी उस ओर ऐसी अभिमुखता होती है कि जो रूप लाद रखा है अनादि से जो परिग्रह संग समागम लाद रखा है, जो आरम्भ परिग्रह की समता करके बढ़ा रखा है उन सबमें हीनता, उनका त्याग, उनसे छुटकारा होता है । बस इस ही आरम्भ परिग्रह से छुटकारा होने का नाम है अणुव्रत, महाव्रत आदिक । सो उन परिस्थितियों में रहकर यह जीव अपने स्वभाव की आराधना में सफल होता है । जिसका व्यवहार धर्म ही गलत है, जो लोक मूढ़ता में रंगा हुआ है, जैसे नदी में स्नान करना । स्नान कराना किसे? इस अशुचि शरीर को और उसमें एक सुना सुनी धर्म मानते है । धर्म क्या है? उसे मानना है यह बात नहीं बनती इसका वक्तव्य नहीं बनता किन्तु सुना सुनी धर्म होता है यह मान लिया । यद्यपि लौकिक शुद्धियां ८ है और वे की जाती है गृहस्थदशा में न करें तो मन पवित्र या पात्र नहीं रहता कि वह धर्म मार्ग में चले । लेकिन लौकिक शुद्धि तो साक्षात् हैं आत्मा का दर्शन ज्ञान चारित्र यही है धर्म ।

किन्हीं की लौकिक शुद्धि आवश्यक होकर भी लोकोत्तर शुद्धि में ही धर्मत्व की मान्यता—लौकिक शुद्धियां ८ हैं—(१) कालशौच—समय गुजर गया तो अपने आप पवित्रता बन गई । जैसे किसी चटाई पर कोई महिला बैठी है, उस महिला के तुरन्त उठने के बाद उस समय चटाई पर कोई व्रती या मुनि बैठना पसंद नहीं करता और कुछ काल गुजरने पर फिर वही चटाई उनकी दृष्टि में पवित्र बन जाती । यह सब लोक व्यवहार । व्यवहार

रहते हुए व्यवहार के कार्य छोड़कर रहने में अनर्थ होगा । जितनी बाड़ बताया है ज्ञान की बाड़ इनमें बचें और प्रवृत्तियां इनमें रहे, इन्हें करें, ये सब आत्मा की पात्रता बनाते हैं । एक संस्कार बनाते है और उस बीच सुरक्षित रहकर फिर अपने ज्ञानस्वभाव की दृष्टि द्वारा अपने आप में रमने का पौरुष होना यह है वह तीक्ष्ण शस्त्र, जिसके बल से कर्मो का क्षय होता है । (२) दूसरी शुद्धि है अग्नि शौच । बर्तनों को आग से तपा लिया, बस मन ने मान लिया कि अब बर्तन शुद्ध हो गये वे व्रती साधुजनों के या शोध वाले के वे बर्तन काम आने लगे । तो यह अग्नि शौच शुद्धि करने से एक मन की ग्लानि मिट गई । तब देखिये और ढंग का संस्कार बन जाता है । अगर कोई इसी को ही धर्म मान ले ऐसी छुवाछूत ऐसी शुद्धि ऐसा फलाना वह एक व्यवहार में पवित्रता है उसके बिना भी गुजारा नहीं है कि हम आगे बढ़ सकें लेकिन वही है धर्म ऐसी मान्यता रखना गलत है, वह तो फिर वहीं अटक जायगा आगे न बढ़ सकेगा । तो लोक शुद्धि आवश्यक है जिनको उन्हें आवश्यक है, पर दृष्टि विशुद्ध होनी चाहिये कि धर्म क्या चीज है, कहां हमें जाना है, कहां हमें पहुंचना है और कहां हमें रमना है । (३) तीसरी शुद्धि भस्मशौच—राख से शुद्ध कर लेना । जैसे जूठे बर्तनों को राख से मल लिया गया तो भस्म शुद्धि हो गई । अब उसे कोई पानी से ही धो ले और उसमें ही खाने पीने लगे तो एक व्यवहार की बाड़ बन जाने से अन्य प्रकार की स्वच्छंदता बढ़ने लगेगी । और मन भी गवाही देता है कि उसको राख से मलकर शुद्ध कर लो । व्यवहार की बात उपयोगी है मगर यही करते रहना यही धर्म है, यही ठीक है, उस शुद्ध-शुद्ध में ही दृष्टि रहना और यह पता ही न रहना कि किसलिए हमें क्या करना था, तो वह आगे प्रगति नहीं कर सकता । लोकमूढ़ता की बात कही जा रही है जो इन अनेक बातों में धर्म मानकर व्यवहार शुद्धि करना लोकमूढ़ता नहीं है । तब प्रकरण पाकर बतला रहे हैं कि व्यवहार शुद्धि आवश्यक होकर भी उस ही को कोई लक्ष्य मान ले तो वह तो वहीं रुक गया और उसका कुछ ठिकाना न रहा । (४) चौथी लौकिक शुद्धि है मृत्तिका शौच । अब इसी के अन्दर देख लीजिए । कोई शौच हो आया, तो उसने हाथ को साबुन से धो लिया, दूसरे ने मिट्टी से धो लिया तीसरे ने यों ही खाली पानी से धो लिया, तो इनमें जिसने मिट्टी से हाथ धोया उसका मन पूरा मान जायगा कि हमारे हाथ शुद्ध हो गए बाकी में यह बात न बन पायगी । तो व्यवहार शुद्धि भी आवश्यक है करना चाहिए पर उसको कोई यह मान ले कि यही मेरा कर्त्तव्य है, यही मेरा धर्म है, इतने से ही वह संतुष्ट हो जाय तो यह आत्मकल्याण कराने वाली बात नहीं है ।

लौकिकशुद्धिगत गोमयशुद्धि का प्रयोजन एवं लौकिक शुद्धि की परिमत आवश्यकता— (५) एक शुद्धि है गोमयशुद्धि । मान लो किसी बच्चे ने कहीं टट्टी कर दिया तो उस जगह की शुद्धि लोग गोबर से करते हैं । अब देख लीजिए गोबर स्वयं पशु का विष्टा है और उससे लोग मनुष्य की विष्टा वाली जगह को शुद्ध करते हैं और ऐसा करते हुए में लोगों का मन राजी रहता है और एक तरह से उनकी वह शल्य भी मिट गई कि जो जगह खराब हो गई थी वह पवित्र हो गई । तो व्यवहार में यह एक आवश्यक कार्य हो गया वाह्य शुद्धि का रखना पर वास्तव में आत्म की शुद्धि तो आत्मदर्शन आत्मज्ञान ओर आत्मरमण से है । इस जीवन में अपनी भलाई का लक्ष्य होना चाहिए, दूसरे की भलाई हम कर नहीं सकते । वे परद्रव्य हैं, उनकी परिणति हम बना नहीं सकते, किन्तु जब तक राग है तब तक होगा सब कुछ उपदेश भी किया जायगा, बोलचाल भी होगा और

उसका आश्रय करके दूसरे लोग अपने कल्याण का काम भी बनायेंगे, यह सब कुछ होगा लेकिन अपने लिए तो कल्याणकारी दृढ़ भावना होना चाहिए । मुझे लोगों को कुछ बताना है, मुझे अमुक बात का प्रचार करके रहना ही है किसमें? इस माया जाल में और उस ही में रहे और अपने में मंदकषाय या आत्माभिमुखिता की बात न निभा सके तो यह जीवन काहे के लिए? आसानी से दूसरों का कुछ हो जाय वह बात अलग है मगर दूसरी के लिए कमर कसकर रहने का अर्थ है कि अपनी और से सिथिल हो गये । अपने लिए जो दृढ़ रहेगा उसके ही वातावरण ऐसा बनेगा कि इसका आश्रय कर लोग भी कल्याणमार्ग में लगेंगे । मुख्य बात तो अपनी-अपनी विचारो । मान लो कोई १०० आदमी यह निर्णय कर लें कि हमें विधान समारोह आदिक करके खूब धर्म का प्रचार करना है और वे उसी-उसी में जुटे रहें तो बतावो उससे वे खुद धर्मात्मा बन गये क्या? एक भी नहीं धर्मात्मा बना और उनमें से अगर कोई दो चार लोग ही ऐसे हो जाये कि जिनको आत्मदृष्टि, आत्मशान्ति, वही धुन, आत्मकल्याण की भावना चले तो कम से कम उन १०० में चार-पाँच लोग तो धर्मात्मा बने और उस बड़े बखेड़े में तो एक ही धर्मात्मा नहीं बन पाया । तो यह सोचना व्यर्थ है कि हम तो ढोल बाजों से धर्म का खूब प्रचार करेंगे । अगर यही बात सबके सब सोच लें और स्वयं कुछ धर्म न धारण करें, बाहर-बाहर के प्रचार में लगे रहें तब तो यह समझो कि धर्म की रीति हट गई, किन्तु सहज ज्ञानस्वरूप का माहात्म्य जीव को समझ में आये यह है धर्म प्रचार । जिस जैन शासन के आश्रय से संसार संकटों से छूट जाय वह बात लोगों के चित्त में आये तो परमार्थत: धर्मप्रचार वह है, पर जहाँ इतना पड़े हुए है, रह रहे है, फंसे है वहाँ व्यवहार की बातें भी सब करनी होती है तब जाकर वह पात्रता बनती है कि हम आगे भी बढ़ते हैं । तो व्यवहार में शुद्धि भी बतायी गई है पर वास्तव में आत्मशुद्धि तो आत्मस्मरण से, आत्मध्यान से होती है ।

भूमिकानुसार बाह्यशुद्धि से गुजरते हुए परमार्थशुद्धि में विवेकी का प्रवेश—जैसे कहते हैं ना पूजा में ''अपवित्र: पवित्रोवा सर्वावस्थां गतोपि वा, यः स्मरेत्परमात्मानं स बाह्याभ्यन्तरे शुचि:'' और अगर ऐसा करने लगें कि सोकर उठें, चलें मंदिर में ऐसे ही अभिषेक पूजन कर ले, तब तो प्रमाद है, वहाँ तो अपवित्र या पवित्र की बात निभ सकती है मगर जहाँ रातदिन के भोग साधनों में रह रहे गंदे वातावरण में रह रहे वहाँ यह अपवित्र या पवित्र की बात न चलेगी । वहाँ तो पवित्र होकर शुद्धि करके ही पूजन अभिषेक के लिए जाना चाहिए । जैसे स्नान करके शुद्ध हो गए, अब पहले के संस्कार छोड़ दिये, ऐसा मन में संकल्प आये, यह तो प्रभु की विनय है कि स्नान करके प्रभु की पूजा अभिषेक करने आये । तो यह बात सब लोगों के लिए अनिवार्य रूप से कही है, इसमें बेहोशी न रहनी चाहिए ।

जलशुद्धि व वायुशुद्धि की प्रयोग्यता—(६) एक जलशुद्धि भी है । कितनी ही चीजें जल से भी शुद्ध हो जाती हैं । जैसे कीचड़ लग गया तो उसे जल से धो दिया, शुद्ध हो गया, जल से नहा लिया शुद्ध हो गया । तो यह शरीर की शुद्धि भी किसी हद तक ठीक है । शरीर की शुद्धि हुए बिना मन में पवित्रता न आयगी, मगर इससे आगे बढ़कर विचारो कि स्नान कर लेने से कहीं खून, मांस, हड्डी आदि में तो कोई परिर्वतन नहीं हो गया, वे तो ज्यों के त्यों अपवित्र हैं, मगर धर्मभावना की उत्कृष्टता होने से इस शरीर की अशुचिता में भी परिवर्तन हो

जाता है । अरहंत प्रभु का शरीर स्फटिक मणि की तरह निर्दोष हो जाता है मगर इसही बाहरी विकल्प में रहकर कोई निर्णय बना ले कि हम शुद्ध हो गये तो वह शुद्ध नहीं है । शरीर अशुचि हैं । इस अशुचि शरीर को कितना ही नहलवाया जाय पर शुद्ध न होगा फिर भी धर्मायतन में शुद्धि आवश्यक बताया है । अब कोई इस वाह्य शुद्धि को ही धर्म समझ ले तो यह उसकी लोकमूढ़ता है । उस लोकमूढ़ता का आधार है परभाव मूढ़ता, सभी भावों का आधार है परभाव मूढ़ता, देव मूढ़ता या पाखंड मूढ़ता । सबका बीज है परभाव मूढ़ता । परपदार्थ में मुग्ध हो गए, और जिन पर का लगाव करके भाव बनाये गये उन भावों में मुग्ध हो गये यह बात तीन मूढ़तावों में पायी जाती है । (७) एक शुद्धि है वायुशुद्धि—कितनी ही चीजें वायु से शुद्ध हो जाती हैं । जैसे काठ का कमण्डल जो त्यागी लोग रखा करते, यद्यपि उसी से शौच जाते, स्नान करते, लोगों की दृष्टि से वह अपवित्र जैसा हो जाता फिर भी उसे राख से मलने अथवा अग्नि में तपाने की जरूरत नहीं रहती, वह वायु से ही शुद्ध हो जाता है ।

ज्ञानशुद्धि की विशेषता—कितनी ही शुद्धियां ज्ञान से, कल्पना से हो जाती हैं । तो ये सब शुद्धि है । अशुद्धता का संकल्प मिट गया ऐसी शुद्धि ये सब चलती हैं लेकिन इन बातों में और इससे बढ़कर नदी स्नान समुद्र स्नान, उनका पर्व मनाना, समारोह मनाना यह सब तो लोक मूढ़ता कहलाती है । सम्यग्दृष्टि जीव के लोकमूढ़ता नहीं पायी जाती । पहले यह ही ध्यान दें—बालूक ढेर लगाना और पर्वत से गिरकर मरण करके धर्म मानना और-और कितनी ही बातें, बच्चों को तकलीफ हुई तो चलो किसी देवता को मनाये, जिसमें व्यन्तरपने की मान्यता की उसे मनाये, कोई जंत्र मंत्र करवाये, ये सब बातें लोकमूढ़ता में शामिल हैं । ऐसा दृढ़ श्रद्धान हो कि मेरे को तो आत्मस्वरूप से प्रयोजन है और आत्मस्वरूप का जिसके विकास हो और आत्मस्वरूप के विकास का जिसमें उपाय लिखा और आत्मस्वरूप के विकास में जो प्रयत्न कर रहे हैं उनका प्रयोजन हैं, वे हुए देव, शास्त्र, गुरु और स्वयं हुआ अपना अंतस्तत्व । इसके अतिरिक्त मेरे को धार्मिक मामले में कोई दुःख नहीं है । हां दूकान में बैठकर कुछ कमायी करने से मतलब है, ग्राहकों से मतलब है, लिखा पढ़ी करनी पड़ेगी, इन सबके बिना गृहस्थी में रह कैसे सकेंगे वे जिन में इतनी हिम्मत नहीं हैं कि गृहस्थी त्यागकर निर्विकल्प होकर अपने रत्नत्रय धर्म की आराधना में सारे क्षण बितायें । जब गृहस्थी में रहना पड़ रहा है तो गृहस्थो चित्त कार्य करने ही पड़ेंगे मगर सम्यग्दृष्टि का चित्त सावधान हैं, वह जानता है कि मुझे वास्तव में करना क्या है ? मान लो यहाँ खूब धन कमाते चले गये, करोड़ों अरबों का वैभव जोड़ लिया, फिर भी आखिर होगा क्या उसका? वह सब छोड़कर जाना पड़ेगा । ये सब बाहरी बातें हैं मान लो परिजनों से खूब प्रीति की, आशक्ति की धार उनके मोह-मोह में ही सारी जिन्दगी गुजार दिया, पर अन्त में लाभ क्या मिलेगा इस जीव को सो तो बताओ? लाभ की तो बात दूर रही, जीवनभर जो मोहवासना बढ़ाया उससे बिकट पाप बंधेगा, जिसके फल में वह दुर्गतियों में जायगा । तो इस जगत में जो कुछ भी समागम मिले हैं उनमें आसक्त हो। से इस जीव को इस समय भी हाथ कुछ नहीं लगता और आगे भी उससे कुछ हाथ न लगेगा । ये बाह्य समागम सुख शान्ति के आधार नहीं बल्कि ये सब दुःखरूप है । सुख शान्ति तो मिलती है अपने ज्ञान से, किसी पर वस्तु से नहीं । ही परवस्तु आश्रय भूत है । किसको उपयोग में लेकर किस तरह का ज्ञान बनाये जिससे किस तरह का सुख

अथवा दुःख मिले, यह सब उसके ज्ञान पर निर्भर है ।

सांसारिक सुखों की क्षोभरूपता—संसार के सुखों मे तो वस्तुतः दुःख ही बसा हुआ है, सुख के साथ क्षोभ बराबर चल रहा है । क्षोभ राग से भी होता द्वेष में भी होता । द्वेष में क्षोभ का पता जल्दी पड़ जाता, राग में क्षोभ का स्पष्ट पता नहीं पड़ पाता मगर सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो सब पता पड़ जाता है । जैसे एक उदाहरण लो—मान लो कोई भोजन कर रहा है, तो उस समय वह सुख का अनुभव कर रहा है, पर बताओ उस सुख की स्थिति में उसे क्षोभ है कि नहीं? है, क्योंकि वह एक कौर मुख में रखे है, दूसरा हाथ से तोड़ रहा है और तीसरे कौर के लिए उसके विकल्प बन रहा कि इस कौर के बाद मुझे अमुक चीज खाना है । तो वहाँ आकुलता बिना खाने का सुख भी नहीं मिल रहा । तो ऐसे ही समझ लो कि संसार के सारे सुख क्षोभ से, आकुलता से, दुःख से भरे हुए है । अब यदि इन बाहरी पदार्थों को आश्रय बनाकर हम सुख मौज के लिए ही अपने जीवन का निर्णय बनायें तो यह कोई बुद्धिमानी की बात नहीं है । बाहरी पदार्थो को अपने मन के अनुकूल परिणमना, मनचाही व्यवस्था बनाना यह मेरे आत्मा के अधीन बात नहीं है । ये सब बातें पुण्य पाप के उदय के अनुसार चलती है । तो अपने आत्मस्वरूप की दृष्टि करना, उसकी धुन बनाना, उसका संस्कार बनाना उसे ही ध्यान में रखना, यह बात आपके अधीन है । यद्यपि यह बात कठिन लग रही है इस कारण पराधीनसा चल रहा यह काम, क्योंकि कर्म के उदय, कर्म के संस्कार ऐसे बसे है कि वह काम बडा कठिन जंच रहा किन्तु किस पदार्थ के अधीन है वह दृष्टि सो तो बताओ? कोई विषरूप अन्य पदार्थ के अधीन हो आत्मदृष्टि आत्मज्ञान आत्ममनन तो बताओ? केवल अपने को करना है अपने में अपने से होना है, भले ही आज वह मुश्किल है विषय वासनाओं का संस्कार होने से पर उसके छोड़ने का यत्न तो कीजिए । वह यत्न है ज्ञानदृष्टि । ज्ञान का सही स्वरूप क्या है वह अपने उपयोग में समाया रहना चाहिए । विकृत रूप की बात नहीं कह रहे, नैमित्तिक रूप की बात नहीं कह रहे, मगर अपनी दृष्टि कहां लगाना, किसका ध्यान करना इसको सोचना चाहिए ।

ज्ञानबल से निज स्वरूपास्तित्त्व के ग्रहण की संभवता—भले ही आज आत्मा प्रकट रूप से अकेला नहीं है, यह तीन प्रकार के पदार्थों का मेल है और उसी से यह पर्याय हुई है । इतना होने पर भी सत्त्व तो सबका न्यारा-न्यारा है । मिले हुए इस ढंग में भी हम ज्ञान द्वारा केवल अपने सत्त्व को जान नहीं सकते क्या? दूध में घी प्रकट नहीं है आँखों से नहीं दिख सकता, अंगुली से उठाकर नहीं बता सकते कि यह है घी, यहाँ है घी, मगर उसकी चिकनाई देखकर ज्ञान के बल से आप निशंक कह बैठते हैं कि इस किलो भर दूध में एक छटांक घी है । तो ज्ञान में वह कला है कि जो बात सामने प्रकट नहीं है उस बात को भी यह ज्ञान पकड़कर खींचकर निकाल लेता है । आज हम किस स्थिति में हैं इस ढंग की बात चल रही है । जो दशा आज हम आपकी चल रही वह तो चल ही रही, उसे मना तो नहीं किया जा सकता । विकार चल रहे, विभाव बन रहे, पर ज्ञान की ऐसी महिमा है कि इस विकृत अवस्था में भी हम स्वरूपास्तित्त्व को ज्ञान में लेकर ज्ञान द्वारा पर के स्वरूपास्तित्त्व से पृथक् हो सकते है । जो चैतन्य अस्तित्त्व से रचा है वह है जीव और जो पुद्गल के अस्तित्त्व से रचा है वह है पुद्गल । हम यहाँ भेद कर लेते हैं तो इस ही ज्ञानदृष्टि को और सूक्ष्म करके हम अपने

स्वरूपास्तित्त्व को समझें । अगर इस हालत में हम केवली को जान सकें और उस केवली की धुन बना सकें तो हम कभी केवल बन जायेंगे । पर इस हालत में करना सब है । क्या-क्या नहीं करना होता? चरणानुयोग शास्त्र में जो बताया है उसको किए बिना गुजारा नहीं है, कोई कर ही नहीं सकता गुजारा मगर ऐसे चरणानुयोग के अनुसार व्रत विधान के करने पर उनसे ही गुजारा होता । हम किसके बल पर आगे बढ़ रहे है वह है ज्ञानबल, ज्ञानदृष्टि । स्वरूपास्तित्त्व मात्र से जो बात है उसका चलना, उसकी धुन, उसे ही अपनाना यह मैं हूँ, इस प्रकार के भीतर के ज्ञान को बसाने का माहात्म्य है कि हम आगे बढ़ते है । तो यही एक अपना कर्त्तव्य है कि व्यवहारचारित्र चरणानुयोग की बातें, उनके अनुसार अपना जीवन गुजारते हुए भीतर में ज्ञान की मुख्यता रखें । अपना ज्ञान बढ़ायें अपने आत्मस्वरूप का दर्शन करें उसका ही बार-बार अनुभव करें तो ये सारे रागद्वेषादिक विकार मेरे से दूर हो जायेंगे ।

श्लोक 23

वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः ।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ।।२३।।

आत्मकल्याण का सम्यक्त्व से प्रारम्भ—इस जीव की भलाई का प्रारम्भ सम्यक्त्व से होता है । सम्यक्त्व में आत्मा के सहज स्वरूप का आत्मरूप से अनुभव होता है । मैं क्या हूँ इसका उत्तर सम्यग्दृष्टि के यह है कि मैं सहज चैतन्य स्वभावमात्र हूँ । त्रिकाल अविनाशी अमूर्त ऐसे सहज चैतन्यस्वभाव में यह मैं हूँ ऐसा अनुभव होना यह है सम्यग्दृष्टि का परिणाम और मिथ्यादृष्टि सहज आत्मस्वरूप के विपरीत परभाव में या एक पदार्थ में यह मैं हूँ, यह मेरा है, इस प्रकार का सम्वेदन करते हैं । यहाँ हम आप जितने लोग बैठे हैं ये सब प्रत्येक तीन चीजों के पिण्ड हैं, तीन का समुदाय है—(१) जीव (२) शरीर और (३) कर्म । शरीर को तो स्पष्ट जान ही रहे हैं जिसमें ये सब बाधायें आ रहीं । और जीव भी अपने आप जान रहे, और आपके भीतर जो अनुभव चलते हैं उन्हें भी आप समझते हैं, और जीव जब ज्ञानस्वरूप है तो उसमें विकार का काम क्यों होता है? और हो तो रहा, तो उससे सिद्ध है कि जीव के साथ कोई एक चीज और लगी है जिसका निमित्त पाकर जीव में रागद्वेष विकार चलते हैं । तो यह तीन चीजों का पिण्डोला है । अब कल्याण इसमें है कि यह तीन चीजों का पिण्डोला न रहे और केवल आत्मा ही आत्मा रहे! जीव, शरीर और कर्म ये तीनों पृथक्-पृथक् हो जायें । ऐसी स्थिति में कल्याण है और सिद्ध भगवान कहते भी उसे हैं कि जहाँ केवल वही-वही एक जीव अकेला रह जाय । तो एक बहुत मोटी सी बात यह है कि अपने को अकेला अनुभव करें । मिला हुआ या समागम वाला अनुभव करना ये तो सब धोखे की बातें हैं । अपने को अकेला अनुभव कीजिए अकेला निरखिये, अकेले में ही शान्त होइये । यह प्रकृति बनाइये और फिर परमार्थ अकेलापन भी निरखिये । मैं अमूर्त चैतन्यमात्र हूँ । यह इतना ही रहे, इसमें अन्य रागादिक विकार न आयें इसी को कहते हैं परमात्मस्वरूप का होना ।

केवल सहजस्वरूपमात्र की वृत्ति में परमात्मत्व—आत्मा परमात्मा होता है । परमात्मा होने के लिए आत्मा में कुछ चिपकाया नहीं जाता, किन्तु यह आत्मा केवल अकेला रह जाय बस इसी को कहते है परमात्मा हो जाना । कितना सुगम उपाय है भगवन्त होने का, कितना सुगम सरल उपाय है जो मैं हूँ, एक अकेला सो यह ही मैं

रह जाऊं, इसी को कहते हैं सिद्धभगवान होना । सो सिद्ध प्रभु होने के लिए नई चीज आत्मा में नहीं लगाना है किन्तु आत्मा स्वयं परमात्मस्वरूप वाला है, इसको ढाकने जो वाले विकार हैं, कर्म हैं इनको दूर करना है भगवान अपने आप प्रकट होगा, जैसे पाषाण की मूर्ति बनाना है । मानो बाहुबलि की मूर्ति बनवाया तो उसे मूर्ति को बनाने के लिए कोई नई चीज नहीं चिपकाना है उस पाषाण में किन्तु मूर्ति का आवरण करने वाले जो अगल-बगल के पत्थर हैं उनको छेनी हथौड़े से हटाना है ऐसा ही किया जाता है मूर्ति बनाने के लिए केवल हटाया-हटाया ही जाता है चिपकाया कुछ नहीं जाता और उस हटाने के साधन से हटते-हटते जब परभाव सब हट गये तो वह मूर्ति जो थी, जो वहाँ के अंग थे, जो वहाँ के पाषाण थे बस वे प्रकट हो गए । इसी तरह से आत्मा को परमात्मा होने के लिए कोई नई चीज आत्मा में नहीं चिपकानी है किन्तु इस आत्मा का आवरण करने वाले विषय कषाय कर्म आदिक इनको हटाने-हटाने का ही काम है । हट-हटाकर सब हट जायेंगे तो वह स्वरूप जो था वह सब प्रकट हो गया ।

स्वयं में स्वयं को निहारने का अनुरोध—भैया, अपनी दृष्टि कीजिए । मेरा मैं जिम्मेदार । मेरा मुझ से ही उत्थान, मैं ही अपने को पतन में ले जाता, इन सब बातों में निमित्त तो है, पर निमित्त परिणमाता नहीं है, पर उसके सान्निध्य में विकार रूप परिणमन हो जाता है, तो मतलब अपना खुद जिम्मेदार है यह जीव । इसका कोई दूसरा जिम्मेदार नहीं है । खुद के लिए खुद ही महान है यह जीव । खुद का उत्थान करने वाला खुद है यह जीव । सो अपने में ही अपना सब कुछ निहारें । व्यर्थ में परद्रव्यों में मोहभाव करके, लगाव करके, इस भव में भी अपने को दुःखी बना रहे है और आगे भी अपने को दुःखी बनायेंगे । मोह करना कितना बेकार है । इससे पहले भव में भी तो कुछ मिला होगा ना? वहाँ भी मोह किया था । पर क्या है वहाँ का आज साथ सो तो बताओ? जैसे पूर्वभव की कुछ भी चीज आज आपके पास नहीं है इसी तरह इस भव की भी बात संगति संग समागम आँखें मीच जाने पर क्या रहेगा साथ? कुछ नहीं । सब भिन्न द्रव्य हैं पर उनमें लगाव ममता कर करके अपने को कष्ट में डाला जा रहा है ।

मूढ़ता में स्वयं की सुध का अभाव—कभी राजा भोज का जमाना था वह कवीश्वरों को एक-एक काव्य पर लाखों का इनाम दे देता था । यह बात खूब फैल चुकी थी । तो एक बार चार देहातियों ने सोचा कि हम लोग भी कोई कविता बनाकर ले जायें और राजा से मनमाना इनाम पायें । अब वे पढ़े लिखे तो थे नहीं गंवार थे । वे कविता बनाना क्या जाने, पर इनाम के लालच में चल दिये राजा भोज के पास । रास्ते में जाते हुए चारों लोगों ने देखा कि एक जगह एक बुढ़िया रहटा में सूत कात रही थी और वह रहटा चनर-मनर की आवाज करता हुआ भन्ना रहा था । सो वह दृश्य देखकर एक देहाती बोला मेरी कविता तो बन गई ।... सुनावो । चनर-मनर रहटा भन्नाव ।... बहुत ठीक । कुछ आगे बढ़ने पर क्या देखा कि एक तेली का बैल खली भुस खा रहा था । तो उस दृश्य को देखकर दूसरा देहाती बोला—मेरी भी कविता बन गई । अच्छा सुनावो । तेली का बैल खली भुस खाय । बहुत ठीक । कुछ और आगे बढ़ने पर क्या देखा कि कोई धुनिया अपने कंधे पर एक पींजना रखे हुए चला आ रहा था । वह पींजना बिल्कुल धनुषबाण जैसा लग रहा था, सो उसे देखकर तीसरा

देहाती बोला—वहां से आ गये तरकस बंद । अब तीन की कविता तो बन गई, चौथे से न बन पायी । उससे भी कविता बनाने को कहा पर उससे बनी नहीं । तो तीन देहाती बोले—हम लोगो को जो इनाम मिलेगा उसे में तुम्हारा हिस्सा न लगेगा, हम तीनों बांट लेंगे । तो वह चौथा देहाती बोला—हम इस तरह से पहले से कविता न बनाकर रखेंगे । उसी मौके पर सहसा ही जो कविता बन जायगी उसी को सुना देंगे । ठीक है । अब चौथे देहातीने क्या कविता बनायी सो जो हम कविता का चौथा चरण बोलें उसे चौथे की कविता जानना । सो जब राजा भोज के दरबार में वे पहुंचे तो द्वारपाल से बोले जावो राजा को खबर कर दो कि आज चार महा कवीश्वर आये है अपनी-अपनी कवितायें सुनाने के लिए । द्वारपाल ने राजा को खबर दिया तो राजा ने आदर सहित उन्हें बुलवाया । और-और भी अनेक विद्वान कवि वहाँ आये । सभी ने अपनी-अपनी कवितायें सुनायी । जब उन चारों देहातियों का कविता सुनाने का नम्बर आया तो चारों खड़े हो गये और बारी-बारी से बोलने लगे, अब यहाँ ध्यान देना कि चौथे देहाती ने अपनी क्या कविता सुनायी थी । चनर-मनर रहटा भन्नाय । तेली का बैल खली भुस खाय । वहाँ से आ गए तरकस बंद । राजा भोज है मूसरचंद ।। अब इस कविता को सुनकर सभी लोग दंग रह गए । यह क्या कहा गया इस कविता में? कोई खास कविता भी नहीं जंची । खैर राजा भोज ने वहाँ बैठे कुछ पंडितों से कहा कि आप लोग इनकी कविता का अर्थ लगाये अब क्या अर्थ लगायें यह किसी की समझ में न आया । वहाँ कोई एक विद्वान वृद्ध पंडित बैठा था वह खड़ा होकर बोला—हम बताते है इस कविता का अर्थ । यह कविता बहुत ऊंची है । इसमें बड़ा मर्म भरा है । पहले महा कवीश्वर ने यह कहा था कि चनर-मनर रहटा भन्नाय मायने यह जीव हम आप रात-दिन अपने जीवन में चनर-मनर करने वाले रहटा की भांति भन्नाते रहते हैं, दूसरे कवीश्वर ने यह कहा कि तेली का बैल खली भुस खाय, इसका अर्थ है कि जैसे तेली का बैल रात दिन जुतता और रूखा-सूखा खली भुस खाकर अपना समय बिताता ऐसे ही हम आप रात-दिन दुनियावी कामों में जुतते रहते जहाँ खाने-पीने की भी फुरसत नहीं । आराम से बैठकर खा पी भी नहीं सकते । जल्दी-जल्दी में काम से आये और जो रूखा-सूखा मिल गया वह जल्दी से खाकर फिर काम में लग गए । तीसरे कवि ने यह कहा कि ''वहाँ से आ गए तरकस बंद'' इसके मायने है कि हम आपका सारा जीवन बीत गया बाहरी दंद फंद में अन्तिम समय में काल यमराज आ गया याने मृत्यु का समय निकट आ गया । अब चौथे कवि ने यह कहा कि राजा भोज है मूसरचंद, मायने दशा तो इस प्रकार की है फिर भी ये राजा भोज इतने मूर्ख हैं कि जरा भी कुछ खबर नहीं । व्यर्थ ही बाहरी-बाहरी बातों में पड़कर अपना जीवन गुजार रहे हैं । इस प्रकार के मार्मिक अर्थ को सुनकर सभी को भारी चेतावनी मिली । राजा भोज बड़ा प्रसन्न हुआ और उन चारों देहातियों को भारी पुरस्कार देकर सहर्ष विदा किया ।

संसरण व असंसरण की अमिलष्यता की छांट—अब आप विचारिये कि आपको इस संसार में जन्म मरण के चक्कर लगाते रहना पसंद है या इससे छुटकारा पाना पसंद है । खूब विचार लीजिए । यदि संसार में जन्म मरण के चक्कर लगाते रहाना ही पसंद है तो उसका उपाय यही है कि इस शरीर को आत्मारूप में समझते रहो, याने इस शरीर में ही आत्मीयता की बुद्धि बनाये रखो, जैसा कि अभी तक बनाते रहे, बस ये शरीर ये

जन्म मरण बराबर मिलते रहेंगे और यदि न चाहिये ये शरीर न चाहिए, संसार में जन्म मरण का चक्र तो उसका उपाय यही है कि इस शरीर में आत्मीयता की बुद्धि न रहे, अपनी ऐसी दृष्टि रहे कि इस शरीर से निराला अमूर्त ज्ञानमात्र मैं आत्मा हूँ । चैतन्यस्वरूप हूँ, यह शरीर रूप मैं नहीं हूँ इस प्रकार का बोध रहे, बस ये जनम मरण के संकट टल जायेंगे । सो अपनी जिन्दगी मानो आत्मकल्याण के लिए । खूब परिवार धन वैभव आदिक बाह्य समागमों का बढ़ाना यह जीवन कोई सारभूत जीवन नहीं है । ये सब चीजें तो भव-भव में प्राप्त हुई । यह जीवन इसलिए है कि अपने आत्मा का परिचय किया जाय । मैं वास्तव में क्या हूँ । यह मैं हूँ ज्ञानस्वरूप । मैं हूँ आनन्दमय, सो अपने इस आत्मस्वरूप में रमण करें, इसमें जीवन की सफलता है । विषय कषायों से जीवन की सफलता नहीं है । तो यह सम्यक्त्व जिनके प्रकट हुआ है उनकी ८ अंगरूप स्थिति बनती है । यह पहले बताया था इसी ग्रन्थ में ।

देवमूढ़ता में कल्याण की असंभवता—आज सम्यक्त्वांग के विरुद्ध यह बता रहे है कि लोकमूढ़ता, देव मूढ़ता गुरु मूढ़ता के भाव करने से सम्यक्त्व नहीं रहता । देव मूढ़ता की बात इस छंद में कही है । इष्ट पदार्थों की आशा से मुझे धन मिले मेरी मुकदमें में विजय हो या पुत्रादिक हो, ऐसी आशा करके रागद्वेष से मलिन देवतावों की उपासना करना देवमूढ़ता कहलाती है । इतना भीतर पक्का उत्साह रखें कि जब जो स्थिति आयगी उसी में गुजारा कर लेंगे । मैं कोई आशा नहीं करता कि, मेरे को ऐसी चीजों की प्राप्ति हो, क्योंकि सांसारिक चीजें जो मिलती है वे पुण्य पाप के उदय से मिलती है । संसार की बातों में पुरुषार्थ गौण है पुण्य की प्रधानता है और मोक्ष की बातों में पुरुषार्थ की प्रधानता है, अन्यथा बतलावो विदेशों में जो कितने ही लोग करोड़पति अरबपति मिलते वे कहां आज वर्तमान में कुछ दानपुण्य धर्म-कर्म कर रहे, पर उन्हें सारे सुख समागम मिल रहे है । वह सब उन्हें पूर्वकृत कर्म के उदय से मिल रहा, आज वर्तमान में जो करनी कर रहे उसका फल आगे मिलेगा । तो किसी बाह्य सुख समागम की आशा से भगवान की भक्ति न करें । भगवान की भक्ति करके उसके एवज में किसी भी बाहरी चीज की वाञ्छा न करें । यही भाव रखें कि हे प्रभो जिस उपाय को करके आप तिरे उसी उपाय को करके मैं भी तिर जाऊं, संसार के आवागमन से मुक्त हो जाऊं, बस यही मैं चाहता हूँ । इसके अतिरिक्त मुझे आप से कुछ नहीं चाहिए । चाहे भगवान की भक्ति करके या अन्य देवी देवताओं की भक्ति करके यदि सांसारिक सुख साधन के पाने की वाञ्छा की जा रही है तो वह देवमूढ़ता कहलायेगी । चाहे कितनी ही मिन्नतें कर ली जावें किसी देव से पर वह कुछ देने न आयगा । हाँ आपके ही पुण्य का उदय है तो वह चीज आपको थोड़े से ही प्रयास से प्राप्त हो जायगी । भगवान की भक्ति करके इन बाहरी बातों की ओर दृष्टि न रखें, दृष्टि रखें अपने आत्मस्वभाव की ओर । उसके फल में अवश्य ही कोई ऐसे बानक बनेंगे कि सभी सांसारिक चीजें स्वयमेव ही प्राप्त होती रहेंगी और निकट काल में ही मुक्ति प्राप्त होगी । अपना एक यह दृढ़ विश्वास रहे कि मैं आत्मा स्वयं आनन्दमय हूँ । मेरे में से ही वह आनन्द पर्याय प्रकट होती है मेरे ही ज्ञानगुण में से ज्ञानपरिणमन प्रकट होता है । मैं खुद ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ ऐसा जान कर इस निज तत्त्व में ही अपने आपको विश्राम, आराम में ले जाना, और वहाँ ही रमाना, यह काम है जीवन में करने का ।

देवमूढ़ता की अनर्थकारिता—न जाने कितने ही कार्य धर्मबुद्धि से लोग किया करते है । बड़े-बड़े व्रत, तप आदि करते, बड़े-बड़े कष्ट सहते, बड़े-बड़े यज्ञ समारोह आदिक धार्मिक क्रियाकाण्ड करते । न जाने क्या-क्या करते? घर के किसी बड़े के मर जाने पर लोग धर्म बुद्धि से श्राद्ध करते, बड़े-बड़े खर्च करते । अरे जब तक वह जीवित रहा तब तक तो उसकी एक बात न पूछा और उसके न रहने पर बड़े खर्च करते तो यह तो धर्म का ढोंग कहलाया । उसके जीते जी यदि उस खर्च किये जाने वाले धन का १०० वां हिस्सा भी उस मरने बाले के लिये खर्च कर देता तो वह भला था । मरने के बाद उसके पीछे कितना ही कुछ खर्च करना किस काम का? तो ऐसी कितनी ही देवमूढ़ता की बातें है । इन सबका आधार क्या? परभावमूढ़ता । परपदार्थों में मुग्ध हो रहे, आत्मा की महिमा नहीं जान पायी कि स्वयं भगवान आत्मा कैसा है? मेरा जो कुछ प्रकट होता है, वह मेरे में से प्रकट होता है, कहीं बाहर से प्रकट नहीं होता । कितने ही देवताओं की आराधना करले मगर मेरा हित उन देवताओं की आराधना से नहीं है । हम यहाँ अरहंत सिद्ध की आराधना क्यों करते हैं? वे भी तो परभाव है, उनकी आराधना इसलिए करते कि उनका स्वरूप और मेरा स्वरूप समान है और जो उपाय करके उन्होंने सुख पाया है, मोक्ष पाया है वह उपाय मैं भी बना सकता हूँ और मैं भी मोक्ष पा सकता हूँ, ऐसी समानता के कारण अरहंत सिद्ध भगवान की भक्ति की गई, पर देने वाला मुझ को कोई दूसरा नहीं है । तीन चीजें होती हैं—(१) धर्म (२) पुण्य और (३) पाप । इनमें पाप तो कहलाये हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदिक और पुण्य कहलाये दान, पुण्य, पूजा भक्ति आदिक और धर्म कहलाया रागद्वेष न करके केवल ज्ञातादृष्टा रहना । सो पाप तो अत्यन्त हेय है, उन्हें तो कभी करना ही न चाहिए, और उन पापों से बचने के लिए पुण्य बताया है । पुण्य भाव से योग्यता बनाने के बाद फिर धर्म में लीन होने के लिए पुण्य पाप अपने आप छूट जातें हैं । लक्ष्य होना चाहिए अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप का वह जिनको प्रकट हो गया वे कहलाते हैं देव, पर रागीद्वेषी आत्मा को देव मानना, उनकी आराधना करना यह सब देवमूढ़ता कहलाती है । सो सम्यग्दृष्टि जीव देवमूढ़ता से दूर रहता है ।

ज्ञानदृष्टि में आत्मप्रसन्नता—देखिये जीव को सबसे अधिक प्रिय चीज क्या है? लोग कहेंगे कि धन, वैभव, कुटुम्ब, परिजन, इज्जत प्रतिष्ठा आदिक पर ये कोई वास्तविक प्रिय नहीं हैं । इस जीव को प्रिय है अपने आत्मा का स्वरूप, आत्मा का ज्ञान । आत्मा को आत्मा ही प्यारा होता है । मान लो किसी पर कोई संकट आ गया तो यह खुद की जान बचायेगा और वही मान लो मुनि हो गया, सच्चा ज्ञान जग गया और उस स्थिति में कोई प्राण भी ले तो वह प्राणों की परवाह नहीं करता किन्तु अपने ज्ञान की सम्हाल करता है । तो इस जीव को सबसे अधिक प्रिय चीज है ज्ञान । इससे अपना एक निर्णय यही रहे कि हर स्थितियों में अपने ज्ञान की सम्हाल बनाये रहें । पर पदार्थों को असार समझकर उनसे उपेक्षा का भाव रखें ।

यहां कोई भी बाह्य पदार्थ सुख दुःख का देने वाला नहीं है । मेरे ही ज्ञान की सुखरूप अथवा दुःखरूप परिणति से सुख-दुख प्राप्त होते हैं । सो जब यह जान जायेंगे कि मैं तो केवल आत्मा हूँ और ये शरीरकर्म

आदिक सब जड़ पुद्गल हैं । ये सब बाहर में दिखने वाले समागम जड़ हैं, पर पदार्थ है किसी भी पर पदार्थ से मेरे में कुछ न आयगा । मैं पर पदार्थों में कुछ नहीं करता, केवल ख्याल ही ख्याल करके विकल्प किया करते, तो उन पर पदार्थों में करने धरने की बुद्धि त्यागकर अपने को ज्ञानरूप अनुभव करें अन्य कुछ न चाहिए । एक अकबर बीरबल का चुटकुला है कि एक दिन अकबर बादशाह ने बीरबल को नीचा दिखाने के लिए कहा कि मंत्रीवर, आज मैंने रात्रि को ऐसा स्वन देखा कि हम तुम दोनों कहीं घूमने जा रहे थे, रास्ते में दो गड्ढ़े मिले, एक गड्ढ़े में भरा था गोबर विष्टा और एक में भरी थी शक्कर सो तुम तो उस गोबर विष्टा वाले गड्ढ़े में गिर गए और मैं गिर गया शक्कर वाले गड्ढ़े में तो उसकी बात काटकर बीरबल बोला—महाराज मैंने भी ठीक ऐसा ही स्वप्न देखा जैसा कि आपने देखा, पर इससे अधिक एक बात और देखा कि आप हम को चाट रहे थे और हम आपको । अब बताओ—बीरबल ने क्या चाटा? शक्कर और अकबर बादशाह को क्या चटाया? गोबर विष्टा । तो ऐसे ही समझलो कि यह गृहस्थी का निवास गोबर विष्टा में रहने जैसा जीवन है मगर अपनी दृष्टि ज्ञानस्वभाव पर रहे तो स्वाद आयगा आत्मानुभव का। मान लो कोई घर गृहस्थी छोड़कर निर्ग्रन्थ हो जाय और चित्त में गृहस्थी बसाये रहे तो उसे तो स्वाद आयगा गोबर विष्टा का याने गृहस्थी का, निर्ग्रन्थता के पद का स्वाद आयगा। इसलिए अपनी दृष्टि निर्मल रखें, ज्ञानस्वभाव को अपने लक्ष्य में रखें कि यही मैं हूं, यही मेरा सर्वस्व है, अन्य इस संसार में मेरा कुछ नहीं हैं। जो जीव अपने सही स्वरूप को निरखता है, उसी को दृष्टि में रखता है उसकी प्रतीति से रहता है उसके पवित्रता है और वह व्याकुल नहीं होता। व्याकुलता तो मोह में हुआ करती है। जहां किसी परपदार्थ में यह मैं हूं, यह मेरा हैं इसको मैं यों कर सकता हूं, यह मुझे यों सुख देगा आदिक कल्पनाएं जगती हैं उन कल्पनाओं में कष्ट होता है। आत्मा सीधा का सीधा जैसा का तैसा केवल जाननहार रहे तो उसमें कष्ट का क्या काम? पर नहीं रहता इससे कष्ट आते हैं।

कष्टों से बचने के लिए देवीदेवताओं से याचना की व्यर्थता—मिथ्यात्व के उदय में उन कष्टों से बचने के लिए ये संज्ञी जीव नाना देवीदेवताओं की मनौती करते हैं—मेरा कष्ट ये बचाते हैं, पर जैसे यहाँ मनुष्यों में किसी के पुण्य का उदय है तो पड़ोसी लोग भी उसके मददगार बन जाते हैं। मुख्य तो पुण्योदय है। ऐसे ही कदाचित पुण्योदय में कोई देव भी मददगार बन जाय तो उसमें मुख्य तो पुण्योदय है। भले ही ऐसी अनेक घटनायें हुई हैं। उनमें एक सीताजी का ही दृष्टान्त ले लो। जब सीताजी को अग्निकुण्ड में प्रवेश करने का विधान हो रहा था उस समय देव कहीं तीर्थंकर के समवशरण में जा रहे थे। रास्ते में उन्हें यह कौतूहल दिखा तो उनके मन में आया कि कहां तो ऐसी शीलवती धर्मात्मा सीता और कहां यह भीषण अग्निकुण्ड, इससे सीता का जल पाना ठीक नहीं, यह विचार कर वहाँ थोड़ी देर को रुक गए और जब सीता ने अग्नि में प्रवेश किया तो उन देवों ने अपनी माया से जल का तालाब सा बना दिया और वहाँ कमल खिल गये तो यह घटना हो गई मगर इस घटना से कहीं यह नियम तो नहीं बना कि शील की परीक्षा के लिए आप यों कहने लगें कि धरो आग पर हाथ। तो ऐसा नियम नहीं है कि जितने शीलवान हैं उन सबकी देवताओं ने सहायता की हो। सुकुमाल, सुकौशल, पांडव आदि अनेक शीलवान पुरुष हुए, पर किसने उनकी रक्षा की? जब वे अग्नि में

जलाये गए, या गीदड़ी ने उनका भक्षण किया तब कहां गये थे देव लोग? क्या ये देव उस समय न थे? तो वह तो अपने-अपने पुण्य के आधीन बात है। जब खुद के पुण्य का उदय होता है तो कोई न कोई बालक ऐसा बन जाता कि उसका वह संकट टल जाता, नहीं तो कोई यह नियम नहीं कि यह संकट टले ही टले। पंजाब की एक घटना सुना है कि किसी पुरुष को अपनी महिला पर कुछ शंका हुई सो कहा कि हमको तुम्हारे चरित्र पर शंका है। तुम तो हमें परीक्षा देकर दिखाओ तब हमको तुम्हारे चरित्र पर विश्वास होगा। तो वह महिला बोली—कर लो परीक्षा जो करना चाहो। सो पुरुष बोला—हम कुछ लोगों को इकट्ठा करेंगे और उनके बीच तुम्हारे शील की परीक्षा ली जायगी। कडुवा तेल एक कड़ाही में खूब अग्नि से तपाया जायगा। उस खौलते हुये तेल में तुम्हें अपना हाथ डालना होगा। यदि वह हाथ न जलेगा तो समझ लेंगे कि तुम्हारा चरित्र ठीक है। तो वह महिला बोली—हां-हां ठीक है ले लो परीक्षा। आखिर उस पुरुष ने काफी लोगों को इकट्ठा किया, कडुवा तेल एक कड़ाही में खूब खौलाया। वहाँ दर्शकों की अपार भीड़ लग गई। इधर उस महिला ने क्या किया कि पहले से ही नीम की दो छोटी-छोटी टहनियां ले लिया और जब परीक्षा के समय उससे तेल में हाथ डालने को कहा गया तो झट उसने उस खौलते हुए तेल में दोनों टहनियां डाला और दोनों हाथों में स्वस्थ टहनी लेकर वहाँ उपस्थित लोगों के ऊपर तेल छिड़कना शुरु कर किया । जब तेल के छींटे से लोग जलने लगे तो लोगो ने वहाँ से भागना शुरु कर दिया । किसीने कहा उस महिला से—अरे यह क्या कर रही हो? तो महिला बोली हम भी तुम सबके शील की परीक्षा कर रही हैं । पहले तुम्हारे शील की परीक्षा करले बाद में अपने शील की परीक्षा दें । तो भाई यह कोई नियम तो नहीं है कि संकट के समय किसी दूसरे से रक्षा हो ही हो । हां जब खुद के पुण्य का उदय होता है तो उस समय दूसरे भी उसके रक्षक बन जाते हैं ।

पुण्यविपाक में सुख साधनों का लाभ—यहां जो-जो भी सुख समागम प्राप्त होते हैं वे सब पुण्य के उदय । से प्राप्त होते हैं उनका संचय करने के लिए लोग तो बड़े-बड़े छल कपट के काम करते हैं, पर छल कपट करने से उनका लाभ हो, हो यह कोई नियम नहीं । आखिर कर्म सब के साथ लगे है । खोटे कार्य करके कोई लाभ चाहे तो यह हो कैसे सकता? कदाचित खोटे कार्य करते हुए भी लाभ की बात दिख रही हो तो यह समझो कि वह सब पूर्वकृत पुण्य के उदय से मिल रहा, कहीं छल कपट करने से नहीं मिल रहा । तो यह सब निर्णय जानकर किसी देवी देवता से कोई याचना न करना और यहाँ तक कि धर्म करते हुए सुदेव से भी कोई याचना न करना । केवल यही अभिलाषा रखें कि हे प्रभो जैसे आपने ज्ञान पाकर संसार संकटों से मुक्ति प्राप्त की ऐसे ही हम भी अपना विशुद्ध ज्ञानप्रकाश पाकर इस ही ज्ञान में रमकर संसार के संकटों से मुक्त होवे । यही भावना रखें प्रभु के दर्शन, पूजन, वंदन आदि में यदि देवी देवता कोई भी किसी का दुःख हर सकते होते तो आप बतलावो ऋषभदेव जिस समय मुनि हुए उस समय ६ माह तक तो उन्होंने उपवास किया और फिर ६ मोह तक अन्तराय हुए, उन्हें भोजन न मिला तो वहाँ देव कहां चले गये थे? अरे वे देव तो अवधिज्ञानी होते वे देव तो भगवान के गर्भ कल्याण में आये, जन्म कल्याणक में आये, अब उस समय वे देव कहां चले गए थे? तो ये सब पुण्याधीन बातें है । यहाँ कोई देवी देवता के प्रति यह भाव न रखें कि ये हमारा इस प्रकार का काम कर

देंगे । अरे करें या न करें ये सब बाहरी बातें है । धन वैभव हो तो हो, न हो तो न हो, आत्मा का परिचय आत्मा की इष्टि रहे तो समझो कि मेरे पास सारा वैभव है । सो प्राय: करके लोग मिथ्यादृष्टि देवों में मनौती अधिक करते हैं, देवी दहाड़ी, शीतला, न जाने क्या-क्या? तो जो स्वयं दुखी है, अज्ञानी है उनसे किसी इष्ट की याचना करना, इसे कौन बुद्धिमान स्वीकार करेगा? सो ऐसे अनेक प्रकार के चाहे भगवान के सेवक कह कर भी देव देवताओं की मनौती करे लेकिन वह देव नहीं । बस देव है तो एक वीतराग सर्वज्ञ प्रभु हैं ।

देव और कुदेव के लक्षण व देवमूढ़ता का हेयपना—देव की पहचान यह है कि जिसमें गुण तो पूरे हों और दोष जरा भी न हों बस वही भगवान है । एक कुञ्जी है । यह आत्मा में गुण क्या? ज्ञान और आनन्द । ये जिसके पूर्ण विकसित हुए हों । और दोष क्या? ये क्षुधा आदिक दोष जिसके रंच भी न हों । जिनकी भक्ति के प्रसाद से हमारे आत्मा के स्वरूप की खबर होती है । हम अपने समाधिभाव को प्राप्त हो सकते हैं । यह प्रभु की भक्ति का उपकार है । सो एक वीतराग सर्वज्ञदेव को छोड़कर नाना प्रकार के रूपों में देवी देवता मानकर पूजना देवमूढ़ता है । अब देखिये—हनुमानजी मोक्ष गए, और हनुमानजी कामदेव थे, उन जैसा सुन्दर रूप उस जमाने में किसी का न था और सर्व परिग्रह त्यागकर समाधिस्थ होकर मुक्त हो गए । सो हनुमानजी का पूजना बुरा तो नहीं है, ठीक है पूजे, मगर जिस रूप में हुए है जिससे वीतराग और सर्वज्ञता होती उस रूप में माने । पर लोगों ने क्या किया कि उनकी बंदर जैसी शक्ल बना दी रागीद्वेषी बना दिया । जिसमें रागद्वेष हो वह देव नहीं । इसी तरह से श्रीराम मर्यादा पुरुषोत्तम हुए पद्मपुराण में उनके नाम से स्वतंत्र ग्रंथ भी बना और उनकी महिमा भी देखो तो श्रीराम भगवान बलभद्र हुए, वे जिनेन्द्र हुए, उनका पूजना तो भला है मगर जिस रूप में रागद्वेष नहीं और सर्वज्ञता हो उस मार्ग की दृष्टि से निरखकर पूजिये । अब यह तो ठीक नही कि श्रीराम की मूर्ति बनाकर उन्हें वस्त्रादिक से अलंकृत कर दिया, मुकुट बांध दिया, हाथ में धनुषबाण पकड़ा दिया, और भी रागद्वेष की बातें गढ़ दिया तो इस में पूजना तो ठीक नहीं । वहाँ देवत्व की बात कहां है । देवत्व तो वहाँ माना जाता जहाँ वीतरागता और सर्वज्ञता हो । अब कोई लोग तो वृक्षों में भी देवता की कल्पना करके पूजते, कोई धज्जियां, डोरा, कपड़े की चिट आदि बांधकर पीते, कहीं कुछ पत्थर पड़े हों तो वहाँ कंकड़ पत्थर डालकर उसमें देवत्व पाने की बुद्धि मानकर पूजते । एक सन्यासी था । वह कहीं से भिक्षा मांगते हुए में एक लड्डू पा गया । लड्डू हाथ में लिए हुए जा रहा था । रास्ते में उसके हाथ से लड्डू छूटकर ऐसी जगह पर गिर गया जहाँ कुछ गोबर विष्टा पड़ा था, पर लालचवश उसे उठाकर पोंछकर खा लिया । अब खा तो लिया पर यह शंका बनी रही कि कहीं किसीने हमारी यह करतूत देख न लिया हो सो पोल ढाकने के लिए उस विष्टा के ऊपर कुछ फूल डाल दिया । अब वहाँ से आने-जाने वाले अनेक लोगों ने भी वहाँ पर फूल चढ़ाना शुरू कर दिया यह जानकर कि यहाँ तो कोई देव है । आखिर फूलों का बड़ा भारी ढेर थोड़ी ही देर में लग गया । जब तो फुल्लादेवी कह कर उसे सभी लोग पूजने लगे । किसी विवेकी पुरुष के मन में आया कि इन फूलों को उठाकर देखना चाहिए कि आखिर वह देवी किस प्रकार की है । सो जब सारे फूल उठाये गए तो वहाँ मिला वही मैला । तो कितनी ही बातें ऐसी बन जाया करती है पर यह कोई देव का स्वरूप नहीं । देव वही है

जिसमें वीतरागता और सर्वज्ञता हो । ये नदी स्नान, वृक्ष पूजने कंकड़ पूजन आदि के काम सब देवमूढ़ता से सम्बंधित हैं । वास्तविक देव पूजन नहीं ।

श्लोक 24

सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्तवर्तिनां ।

पाखण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखण्डिमोहनम् ।।२४।।

ज्ञानी को पाखण्डीमूढ़तारहितता—सम्यग्दृष्टि जीव जिन दोषों से रहित होता है उन दोषों में ये तीन महादोष—(१) लोकमूढ़ता (२) देवमूढ़ता और (३) पाखण्ड मूढ़ता सो इस छन्द में पाखण्ड मूढ़ता का स्वरूप बताया जा रहा है । जो श्रद्धान और ज्ञान से रहित पुरुष है और वह चाहता है कि मेरी लोक में मान्यता हो सो नाना प्रकार के भेष धारणकर लोक में अपने को ऊँचा जताकर लोगों से अपनी पूजा, वंदना, सत्कार चाहता है । परिग्रह रखता, आरम्भ रखता, हिंसा के कार्यों में प्रवृति करता, इन्द्रिय के विषयों का अनुरागी है । खूब गप्पसप्प में अपना समय बिताता है अभिमानी भी है और अपने को पूज्य धर्मात्मा कहने का इच्छुक है वह कहलाता है पाखण्डी जीव । उसकी सेवा करना उसकी भक्ति में रहना और अपने की धर्मात्मा मानना यह पाखण्ड मूढ़ता है ।

गुरु का लक्षण—गुरु का लक्षण क्या है? जो इन्द्रिय के पञ्चेन्द्रिय के विषयों के अधीन न हो, हिंसा आदिक आरम्भों से रहित हो, कोई परिग्रह न रखता हो और जिसका काम ज्ञान ध्यान तपश्चरण में रत रहना हो ऐसी धुन रखने वाला गुरु कहलाता है और इसके विपरीत जितने भेषधारी है वे सब कुगुरु या पाखण्डी कहलाते हैं । देखिये आत्मा की साधना किसी बाहरी पदार्थ के द्वारा नहीं होती है । अपने ही ज्ञान द्वारा अपने आत्मा की साधना होती है । बाहरी चीजें रखने की कोई जरूरत नहीं । फिर किसलिए गटर माला रखना, किसलिए कमर में रस्सी बांधना, किसलिए त्रिशूल, डमरु, लट्ठ आदि रखना, किसलिए देह में भस्म रमाना ये सब पाखण्डमूढ़ता की बातें है । आत्मा की साधना के लिए बाहरी कुछ चीजों की जरूरत नहीं और रखे तो उसमें परिग्रह का दोष है । हां जैन शासन में पिछी कमण्डल का रखना जो बताया गया है वह एक विवशता में बताया है । इनका रखना आवश्यक हो मुनि को सो बात नहीं । कोई स्व जगह खड़े होकर ध्यानस्थ रहे, बाहुबलि की तरह तो वहाँ पिछी कमण्डल की कोई जरूरत नहीं । कोई कहे कि यदि जमीन को खूब देखभाल कर चले तो वहाँ पिछी की क्या जरूरत? सो देखकर चले सो तो ठीक है मगर रास्ते में कहीं धूप पड़ती, कहीं छाया पड़ती तो छाया में मुनि चल रहा हो और धूप आ गई हो पास तो वह शरीर को पोंछकर धूप में जायगा, क्योंकि ऐसा करने पर छाया में रहने वाले जीवों को धूप में कष्ट होगा, अथवा धूप में जा रहे हो, अब छाया में चलना है तो शरीर को वहाँ पोंछकर चलेंगे क्योंकि धूप में रहने वाले कीड़ों को छाया की जगह में पंहुचने पर बाधा होगी । तो कोई चर्या करे, चले तो वहाँ पिछी की जरूरत पड़ती है । और आहार चर्या के लिए जायगा तो उसे शौच कार्य भी करना पड़ेगा । अब शौच क्रिया के लिए कमण्डल भी रखना जरूरी हो गया । एक दो शास्त्र भी स्वाध्याय के लिए रखने पड़ते है क्योंकि ज्ञान साधनों में वे भी सहायक है । तो ये पीछी कमण्डल और शास्त्र

रखने पड़ते है मुनि को । हां इन्हें शौक से या इनको अपना मानकर वे इन्हें अपने पास नहीं रखते । तो आत्मा की साधना करने के लिए किसी अन्य चीज की जरूरत नहीं । वहाँ तो ज्ञान की जरूरत है । अपने स्वरूप को सोचिये कि मैं ज्ञानमात्र हूँ अमूर्त हूँ । ज्ञान ज्ञानस्वरूप, अन्य कुछ नहीं, ऐसा अपने आपका चिन्तन करें । आत्मसाधना हुई ।

हिंसारम्भादि दोषवानपुरुषों की गुरुत्वबुद्धि से सेवा विनय में पाखण्डीमूढ़ता—बाहरी जो चीजें भेष में बनायी जाती है उनका प्रयोजन शायद यह ही होता कि लोगों पर हमारी छाप पड़े, पर एक
निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा है ऐसी जो कोई भेष साधु का नहीं माना गया । त्याग कर जो मुद्रा हुई वह है दिगम्बर मुद्रा । इसमें दोष नहीं और अन्य भेष में रहने वाले हिंसा आदिक आरम्भ करने वाले परिग्रही हिंसारम्भादि दोषवान हैं, उनकी मान्यता उनका पूजना यह सब पाखण्ड मूढ़ता है । लोग कुछ इस कारण से अन्य जनों के आकर्षण में रहते हैं कि ये तंत्र करते है, टोटका करते है, मंत्र करते है, तावीज देते हैं देखो अगर दिल में पूर्ण शुद्धि रखना है तो एक ही निर्णय करना होगा कि मुझे किसी भी नाम, तावीज या जंत्रमंत्र वगैरह की जरूरत नहीं, ये सब केवल मन के ख्याल है । न तो अन्य लोगों से लेना, न जैन साधुसंतों से लेना । आत्मा का आभूषण तो ज्ञान है, रत्नत्रय है उसमें लग जाये, वही शोभा है । वही अपना उद्धार करने वाला है । दूसरा कौन क्या करेगा? किसी भी आशा से पाखण्डीजनों, का देवो का वैयावृत्ति, सत्कार ये ही मेरे सहायक है इनसे ही मुझे मुक्ति मिलेगी ऐसा भाव न रखे । यदि ऐसा भाव रखेंगे तो इसे कहेंगे पाखण्डमूढ़ता ।

पाखण्डी मूढ़ता का एक उदाहरण—एक कथानक है कि कोई एक वेश्या थी, वह बहुत दिनों से खोटा काम कर के ऊब गई थी । उसकी कुछ विरक्ति सी आयी सो सोचा कि मैने जो ऐसे खोटे आचरण में रहकर यह लाख दो लाख का धन कमाया है उसे किसी भले काम के लिए दान कर देना चाहिए । सो उसकी यह बात सुन लिया एक भांड ने कि वेश्या ने अपना सारा धन दान करना विचारा है सो वह पहले से ही संन्यासी का रूप बनाकर गंगा नदी के घाट पर जाकर बैठ गया साथ में एक चेला रख लिया । वहाँ पर बहुत से संन्यासी और भी बैठे थे, वहीं अपना आसन जमाया । जब देखा कि वह वेश्या आ रही है तो झट बड़ी शान्त मुद्रा में ध्यान करता हुआ खूब तनकर बैठ गया । अब वेश्या बारी-बारी से अनेक संन्यासियों को देखती गई कि कौनसा सन्यासी पहुंचा हुआ है जो पहुंचा हुआ संन्यासी मिलेगा उसी को ही अपना लाख दो लाख का धन जो कि सोना चांदी आदिक के रूप में है, वह दान कर दिया जायगा, ऐसा विचारकर वह सभी संन्यासियों को देखती गई, पर उसे कोई संन्यासी भला न जंचा, कारण कि सभी गप्प सप्प वाले अथवा गांजा चरस आदि हांकने वाले दिखे । एक जगह उस संन्यासी को भी ध्यानस्थ मुद्रा में बैठा हुआ देखा जो कि भांड ने अपना संन्यासी का रूप बना रखा था । उस सन्यासी को देखकर वेश्या ने समझा कि पहुंचे हुए तो ये संन्यासी जी हैं । देखो कैसा ध्यानस्थ बैठे हुए है वहाँ वेश्या कुछ ठहर गई । अब उस वेश्या को सामने आता हुआ देखकर उस संन्यासी ने और भी अपना रूप पहुंचे हुए तपस्वी का बनाया । उसे देखकर वह वेश्या अत्यन्त प्रभावित हुई और निकट जाकर बोली—महाराज महाराज हमारी विनती सुनो। अब महाराज कुछ बोलते ही नहीं, और भी अधिक तनकर ध्यानस्थ मुद्रा में बैठ गए । जब वेश्या ने कई बार निवेदन किया फिर भी उस संन्यासी की

आंखें न खुलीं । बहुत-बहुत निवेदन करने पर जब सन्यासी ने धीरे से आंखें खोली तो वेश्या बोली—महाराज आज हम आपके दर्शन करके कृतार्थ हो गए । हमारा एक निवेदन स्वीकार कीजिए ।... क्या है निवेदन?... यही कि मेरे पास यह जो लाख दो लाख का धन है उसे आप स्वीकार कीजिए, मैं इसे आपको दान करना चाहती हूँ क्योंकि मैने इसे बड़े खोटे आचरण से कमाया । अब मेरे मन में ग्लानि आयी है अपनी करतूत से सो मैं इस धन को आपके लिए दान करती हूँ । महाराज स्वीकार कीजिए ।... नहीं-नहीं मुझे न चाहिए ।... नहीं-नहीं यह तो आपको स्वीकार ही करना होगा । अच्छा तो रख दो । अब उस धन को अपने चेले के द्वारा इस सन्यासी ने अपने घर को भिजवा दिया । अब वह वेश्या बोली—महाराज हमारे ऊपर एक कृपा करें । यही कि मैं खीर बनाऊं और मेरे हाथ से वह खीर खाकर मेरे जीवन को आप कृतार्थ कर दें । बाद में मुझे कुछ आशीर्वाद दे दें ताकि मेरा कल्याण हो जावे ।... ठीक है । अब वेश्या ने खीर बनाया और संन्यासी ने खायी। खीर को खाने के बाद वह संन्यासी बोला—गंगाजी के घाट पर खाई खीर अरु खांड । पाप का धन पापहि गया, तुम वेश्या हम भांड ।

पाखण्डीमूढ़ता त्यागकर शुद्धात्माराधना का कर्तव्य—यहां पाखण्डमूढ़ता की बात चल रही थी कि कोई गटर माला पहने, हाथ में त्रिशूल ले, लाठी ले, शरीर में भभूत रमाये, अपना डरावनारूप बनाये, कई तरह के शस्त्र धारण करे तो यह कोई साधुता का रूप नहीं । साधु तो निर्भय, निशंक, निष्परिग्रह होता है, निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा सबको विश्वास उत्पन्न कराने वाली है । जो हथियार रखे उसमें समझो कि खुद में कुछ कमजोरी है, भय है तब हथियार उसने रखा, या फिर किसी को भय दिखाने का उसका भाव रहता है, नहीं तो बताओ हथियार रखने की क्या जरूरत? और फिर जो आरम्भ परिग्रह रखते उनमें और-और भी व्यसन आ जाते हैं जैसे जुवा खेलना, मद्य पीना, मांस खाना आदिक । भाँग, गांजा, चरस, बीड़ी, सिगरेट आदिक खाने पीने की बातें तो साधारण रूप से उनमें चलने लगती है । अनेक जगह ऐसा भी देखने में आया कि जटाधारी सन्यासी जनों के बहुत बड़े भक्त होने से गंगा आदिक नदियों में बाल फटकारकर नहाने व उनका जूरा बांध देने में छोटी-छोटी मछलियां भी बालों में फंसकर मर जाती हैं । तो ऐसे पाखण्डी भेषधारी सन्यासियों के प्रति सम्यग्दृष्टि जीव को आस्था नहीं होती । उसके तो वीतराग सर्वज्ञदेव के प्रति आस्था होती, आत्मा की कथनी करने वाले शास्त्रों के प्रति श्रद्धा होती और जो सर्व कुछ त्यागकर आत्मा की धुन रखने वाले गुरु हैं उनके प्रति आस्था होती । वह जानता है कि मोक्ष का मार्ग तो एक यही है, अन्य रूप इसका मार्ग नहीं है । तो ज्ञानी पुरुष न तो लोक प्रसिद्ध घटनाओं में मोहित होता है कि यह धर्म है और न वह कुदेव में मोहित होता है कि यहाँ धर्म मिलेगा और न वह कुगुरुवों में मोहित होता है कि हम को यहाँ धर्म मिलेगा । ज्ञानी जीव तीनों तरह की मूढ़तावों से दूर होकर अपने आप में बसे हुए सहज परमात्मस्वरूप की आराधना में रहता है ।

श्लोक 25

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलबुद्धिं तपो वपुः ।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ।।२५।।

सम्यग्दृष्टि के ज्ञानमद का अभाव—जिसने अपने सहज चैतन्यस्वरूपमात्र अंतस्तत्त्व का अनुभव किया है और

ऐसे अनुभव पूर्वक सम्यग्दर्शन हुआ है उसकी प्रतीति निरन्तर विशुद्ध रहती है, इसी कारण उसके मद नहीं होता ऐसे मदरहित बड़े गणधर आचार्यदेव ने बताया है । मद आठ प्रकार के विषय को लेकर होता है, पहला मद है ज्ञानमद । यह बड़ा कठिन मद है, कोई भी पुरुष अपने आपको ज्ञान के रूप से हल्का अनुभव नहीं करता कि मेरे को कम ज्ञान है । कभी कह भी दें मुख से तो भी भीतर से ऐसा संस्कार रहता है कि मेरा जैसा बुद्धिमान कौन है? सो ज्ञान की बात देखिये—जब यह जीव निगोद अवस्था में रहा । कुछ रहा, हम रहे आप रहे और अवस्था पाया हो या न पाया हो उसका कोई खास निर्णय नहीं हैं क्योंकि कुछ जीव निगोद से एकदम निकलकर मनुष्य भी हो जाते अथवा अन्य पर्याय ले लेते, तो हम आपने अन्य पर्यायें कितनी मलिन पा ली इस विषय में कुछ नहीं कह सकते मगर यह जरूर कह सकते कि हम निगोद पर्याय में अवश्य थे । तो उस निगोद दशा में अक्षर का अनन्तवां भाग ज्ञान बताया है । कैसी-कैसी हीन दशायें हुई, एकेन्द्रिय जीव बने, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय आदिक भी हुए तो भी एकेन्द्रिय की अपेक्षा तो कुछ ज्ञान का विकास हुआ, पर हित अहित का विवेक करने वाला ज्ञान नहीं बढ़ा असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक यही दशा रही । संज्ञी पञ्चेन्द्रिय हुए तो अन्य संज्ञियों को देखो तो न कुछ जैसा ज्ञान, और मनुष्यों को देखो तो कितना ज्ञान है, कैसा ज्ञान है । प्रथम तो एक ज्ञान के सामने सब ज्ञान अत्यन्त छोटे, है फिर अपने ही पूज्य आचार्यों को देखो जिन्होंने बड़ी-बड़ी रचनायें की, तर्कशास्त्र करणानुयोग द्वादशांग वाणी का भी जिसमें अंश हो, गणधरों को देख लो उनके ज्ञान के आगे हम आपका ज्ञान क्या है किन्तु जिनको आत्मज्ञान नहीं है उनको अपने पाये हुए ज्ञान पर घमण्ड होता । जिसके ज्ञानमद है उसके सम्यक्त्व कहां से है? वह तो एक बहुत बड़ा आवरण है ।

वर्तमान परोक्ष ज्ञान की निकृष्टता—अच्छा जो भी आपने ज्ञान पाया उसकी निकृष्टता देखिये—पहले तो यह ज्ञान इन्द्रिय से उत्पन्न हुआ । यह एक साधन की अपेक्षा कह रहे है । ज्ञानपर्याय तो अन्तरङ्ग हेतुरूप ज्ञान गुण से ही प्रकट होती है मगर हम आपके यों हो क्यों नहीं गया? यदि आँखे खराब है तो रूप देखने का ज्ञान क्यों नहीं हो रहा? बुखार होने से रसना इन्द्रिय बदल गई । गन्ने का रस भी कड़वा लगता है । तो इन्द्रिय ठीक हों तो हम आप लोगों को ज्ञान बने, ऐसा तो पराधीन ज्ञान है और उस ज्ञान पर गर्व करते । दूसरी बात ज्ञानावरण कर्म जो लगे हुए है उनके क्षयोपशम के अनुरूप यह ज्ञान प्रकट होता है । जितना क्षयोपशम है उतना है ज्ञान । ज्ञानावरण कर्म जितना हटे उतना ज्ञान होता है । जिस ज्ञान पर लोग गर्व करते है उस ज्ञान की बात बतायी जा रही है कि गर्व करने लायक नहीं है स्थिति, पर जिसको आत्मज्ञान नहीं है वह उस ही ज्ञान पर घमंड करता है । फिर कुछ ज्ञान भी हुआ जैसा क्षयोपशम इन्द्रियजन्य होता हो पर उसका भी भरोसा तो नहीं । शरीर में कोई रोग हो जाता कि यह ज्ञान भी इसी भव में नहीं रह पाता । बुद्धि बिगड़ गई, वात, पित्त, कफ की अधिकता हो गई अटपट बकने लगे । जो ज्ञान पाया उस ज्ञान का भरोसा भी तो नहीं कि वह टिकेगा भी । इन्द्रियां नष्ट हो जाये तो ज्ञान भी नष्ट हो जाता, और इन्द्रियजन्य जो ज्ञानपर्याय बनी वह भी मिटेगी । ऐसे इस ज्ञान पर क्या गर्व करना ।

कलहों का मुख्य कारण ज्ञानमद—देखिये समाज में धर्म के नाम पर जितनी भी लड़ाइयां होता है । उनका मूल आधार है ज्ञान का मद । आप खूब खोज कर विचार लो कि जैसा चाहा वैसा कोई नहीं प्रबंध किया ।

यह काम ऐसा क्यों नहीं हुआ कुछ भी कहा जाय बस वह बात न मानी जाय तो वहाँ विवाद खड़ा हो जाता है । और उसकी तो बात जाने दो, रास्ते में चले जा रहे है और किसी जगह से दो रास्ते फूटे हों और इन दोनों को थोड़ी दूर जाने का फिर एकं जगह वही रास्ता मिल जायगा, मगर जहाँ से फूटा है, अपना साथी कहता है कि इस रास्ते से चलो और खुद चले किसी दूसरे रास्ते से तो उसमें मन खराब हो जाता । इसने मेरी बात नहीं माना अरे ५ मिनट बाद तो उसी रास्ते से आयेंगे । क्यों जरा-जरासी बातों में मद करते? इसने मेरी बात न मानी, मेरे कहे अनुसार क्यों न चला, अरे यह मद इस जीव को बरबाद करता है । अच्छा इस ज्ञान की भी दुर्दशा देखिये जो पाया है । कितने ही लोग दूसरे के फंसाने के जाल बनाते, दूसरे के मारने के अनेक साधन बनाते । उसमें अपनी कला मानते कि मैं कलाकार हूँ । मैं इस-इस तरह से जाल रच लेता हूँ शस्त्र बना लेता हूँ । उसे अपने उसी ज्ञान पर गर्व है, कितने ही लोग कुछ कविता बना लेते, कवि सम्मेलनों में भाग लेते तो उन्हें देखा होगा कि हरएक कवि ऐसा सोचता कि मैं सबसे अधिक बुद्धिमान हूँ । यों ज्ञान के मद की एक होड़ लग गई है, पर ऐसा ज्ञानमद इस जीव के लिए भला करने वाला नहीं है । अगर शुद्ध ज्ञान पाया है, कुछ आत्मा के स्वरूप का परिचय मिला है तो वह तो इतना नम्र होगा कि उसका उपयोग उसकी बुद्धि अपने आत्मा के ही अभिमुख हो जायगी । जैसे समुद्र से ही तो पानी निकला जो कि बादलों के रूप में बना, गर्मी में भाप बनी, बादल बने, बहुत दिन तक वह कड़ा-कड़ा रहा । समय पाकर वह पानी बरसा और बरस कर नीचे रास्ते से चल-चलकर आखिर वह पानी समुद्र में ही मिलता है, तो इसी तरह यह ज्ञान समुद्र में से उस मिथ्यात्व आदिक आपतन के कारण यह कुछ ज्ञानजल यहाँ से उठा और यह बाहर में ज्ञान घूमने लगा, गर्व करने लगा जगह-जगह भटकने लगा, अनेकों चीजों की टक्कर खाने लगा और कोई अच्छी लब्धि पाकर इसकी बुद्धि ठिकाने आये तो यह ही ज्ञान बरसा कर आत्मा को छूकर नीचे के रास्ते से चलकर अर्थात नम्रता सै रहकर ज्ञान सरोवर में ही मिल जायगा । कठोरता बुरी चीज है ।

मद में हठ होने के कारण अपमानादि अनेक आपदायें—किसी बात पर अड़ जाना यह खुद के लिए हानिकारक है । मद में यही तो होता है । एक दम्पति था उसका दूसरा विवाह हुआ तो वह दूसरी स्त्री को बहुत चाहता था और स्त्री को भी गर्व हो गया कि मेरा पति मुझे बहुत चाहता है, पर सोचा कि मुझे परीक्षा लेना चाहिए कि मेरा पति मुझे वास्तव में चाहता है या नहीं । तो परीक्षा लेने के लिए वह पेट दर्द या सिर दर्द का बहाना करके लेट गई । देखिये ये दो बहाने पेट दर्द या सिर दर्द के ऐसे हैं कि कोई कितना ही सही-सही जानना चाहे तो वह जान न पायगा । बुखार हो तो वहाँ बहाना कहां से चलेगा । लोग थर्मामीटर लगा कर देख लेंगे पर सिर दर्द या पेट दर्द का सही-सही पता कोई नहीं पा सकता । तो वह स्त्री पेटदर्द का बहाना करके पड़ गई । पति आया, उसे उदास देखकर पूछा कहो क्या बात है?... भारी पेट दर्द है ।... कैसे ठीक होगा? अभी-अभी स्वप्न में मुझे एक देव ने बताया कि जो तुम से भारी प्रेम करता हो वह अपनी मूंछ मुड़ाकर सवेरा होते ही होते दर्शन दे तब तो प्राण बच सकते नहीं तो प्राण न बचेंगे । तो उस पुरुष ने सोचा यह क्या कठिन बात है सो झट से मूंछ मुड़वा डाला और सवेरा होते ही होते दर्शन दे दिया, लो स्त्री चंगी हो गई । अब वह सबेरे चक्की पीसते समय रोज-रोज वही गीत गाये—'अपनी टेक चलाई पति के मूंछ मुड़ाई' उस स्त्री का रोज-रोज

यही गीत सुनकर वह पुरुष बड़ा हैरान हुआ और समझ लिया कि इसको पेट दर्द न था, मुझ को छकाने के लिए वह उसका बहाना था । खैर पुरुष के मन में आया कि मुझे भी इसको किसी बहाने से छकाना चाहिए । आखिर छकाने का उपाय मिल गया । क्या किया कि अपनी ससुराल को एक चिट्ठी लिखा कि तुम्हारी लड़की सख्त बीमार है उसके बचने की कोई आशा नहीं है । हां एक उपाय है उसके बचने का । किसी देव ने स्वप्न में बताया है कि इसके माता-पिता, चाचा-चाची, भाई-बहिन आदि जो-जो भी इससे प्यार करते हों वे शीघ्र ही अपने मूंछ-दाढ़ी, सिर के बाल बनवाकर सवेरा होते ही इसको दर्शन दें तो प्राण बचेंगे अन्यथा नहीं । अब क्या था । उस पत्र के मिलते ही उस स्त्री के परिवार के सभी लोगों ने उसके प्राणों की रक्षा के लिए अपने-अपने सिर के बाल, मूंछ-दाढ़ी, आदि बनवाकर चल दिये और सवेरा होते-होते उसके घर आकर खड़े हो गए । उस समय वह स्त्री अपना वही गीत गा रही थी—'अपनी टेक चलाई पति की मूंछ मुड़ाई ।' सो वहाँ उस पुरुष ने कहा—'पीछे देख लुगाई मुंडन की पल्टन आई ।' सो ज्यों उसने पीछे की ओर देखा तो मारे शरम के गड़ गई । तो हठ कभी किसी के लिए अच्छी नहीं होती । यह हठ बनता है ज्ञान का मद आने पर । जिसको ज्ञान का मद है उसका सारा उपयोग भ्रान्त बन जाता है। उसे आत्मा के स्वरूप की सुध लेने का अवसर नहीं मिल पाता । ज्ञान का मद होने पर आत्मतत्त्व की बात नहीं बैठ पाती ।

ज्ञानी के पूजामद का अभाव—मुनियों की मुद्रा चर्या देख लो, वहाँ मद का कोई काम नहीं रहता । जमीन ही जिनका आसन है, जमीन ही जिनका शैया है, जिनके शरीर में कोई साज श्रृंगार नहीं । मद का कोई अवसर नहीं, फिर भी यदि मद कर सकता तो ज्ञान का मद करेगा, पूज्यपने का मद करेगा । सो वहाँ अज्ञान है । यदि उसे आत्मज्ञान होता है तो उसे यह मद कभी न हो सकता था । मद किस बात का? आज अगर पूज्य बने तो कल को रंक और निंद्य नहीं बन सकते क्या? अरे न जाने क्या से क्या स्थिति बन सकती? यहाँ काहे का मद करना? मद का परिणाम पाप का बंध करता है और नम्र रहने का परिणाम पुण्य का बंध करता है और आत्मा को शान्ति का कारण है, और एक लौकिक दृष्टि से भी विचार करें, लोग तो यह चाहते कि अन्य लोग हमारा आदर करें पर यह बात तब तक न बनेगी जब तक खुद भी दूसरों को आदर न देंगे । तो पूज्यपना भी चाहिए तो उसका भी आधार नम्रता है । अगर लोगों को, भक्तों को यह बात चित्त में आ जाय कि यह तो इस प्रकार का अभिमानी है तो उनके चित्त में फिर पूज्यता नहीं रह सकती, और फिर यह ऐश्वर्य जिसके कारण पूज्यता बनी है वह भी विध्वंस शील है । आज है कल को रहे न रहे । फिर कहां पूज्यता रही? कल को जो प्रधान मन्त्री था आज उसे कोई पूछ नहीं रहा सो तो आप लोग आँखों देख ही रहे है । तो लो पूज्यपने का क्या अर्थ है? और वास्तविक पूज्य जो हो जाता है उसके कोई विकल्प नहीं रहता । प्रभु परमात्मा पूज्य है, उनके कुछ विकल्प ही नहीं हैं । लोग बड़ा मानें तो न मानें तो, उनको क्या गर्ज पड़ी हैं । वे तो सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानन्द रस लीन । समस्त ज्ञेयों को जानने वाले है तिस पर भी अपने आनन्द रस में लीन है- । तो जो वास्तविक पूज्य है उनके घमंड नहीं, जो पूज्यता का विचार कर घमंड करते हैं उनके वास्तविक पूज्यता नहीं ।

ज्ञानी के कुलमद का अभाव—तीसरा मद है कुलमद ज्ञानी जीव को कुल का मद नहीं होता । देखिये लोक

में अच्छा कुल मिला है श्रावककुल मिला जैनशासन के रहस्यों का जहाँ ज्ञान बना, ऐसी स्थिति में उत्पन्न हुए, मगर ज्ञानी पुरुष जानता है कि आत्मा के साथ इस कुल का सम्बंध नहीं है । आत्मा का कुल तो चैतन्य है लोग सोचते है कि हमारा घर कोई कुल चलाने वाला नहीं है सामने पति नहीं है और पुत्र का भी यही अर्थ है—वंश पुनातिइति पुत्र: । जो वंश को पवित्र करता है उसका नाम है पुत्र । पर यह तो सोचो कि आपका वंश क्या है? क्या अग्रवाल, जायसवाल, खंडेलवाल, लमैचू, गोलालार, गोलसिंगारे आदि ये सब आपके कुल है क्या? अरे आपके आत्मा का कुल है चैतन्य । चैतन्यकुल पवित्र होना चाहिए । उसको पवित्र करने वाला कौन? यह मेरा खुद का आत्मा । तो यह मैं आत्मा निर्मल परिणामों से रहूं तो मेरा चेतन कुल पवित्र होगा, शुद्ध होगा ओर यथार्थ अवस्था में हो जायगा । पर यह गोत्रनाम कर्म के उदय से जो कुल मिला यह सब माया रूप है । ये कोई वास्तविक चीज नहीं । इसका मेरे आत्म से कुछ सम्बंध नहीं । अच्छा है कुल जिसमें धर्मसमागम सुगम मिल गए हैं लेकिन यथार्थ दृष्टि से ज्ञानी सोच रहा है कि मेरे आत्मा का इस शरीर के कुल से कोई सम्बंध नहीं है । मेरा तो मेरे चैतन्यकुल से सम्बंध है । ज्ञानी को कुल सम्बंधित मद उत्पन्न नहीं होता । बस जानन देखनहार रहता, कोई विकल्प तरंग नहीं होती, ऐसी जो उसकी सहज स्थिति है वही मेरा कुल है । यदि गौरव अनुभव करना है तो अपने चैतन्यकुल का ध्यान करके गौरव अनुभव कीजिए पर यह शरीर सम्बंधित कुल यह गर्व के लायक नहीं है । अच्छा देखिये—इस कुल का क्या भरोसा? वह अधिक से अधिक इस भव तक मान लोगे, पर आगे अनन्तभवों में इस जीव ने कैसे-कैसे कुल नहीं पाये और आगे भी क्या भरोसा? जहाँ राजा भी मरकर कीड़ा बन जाय वहाँ कुछ सोचना यह सब बेकार बात है ।

कुलमद से दुर्गति का लाभ—एक कथानक आया है कि एक राजा ने किसी मुनिराज से पूछा कि महाराज मैं मरकर क्या होऊंगा? तो मुनिराज ने बताया कि तुम मरकर अपने ही घर के लैट्रिन में विष्टा के कीड़ा बनोगे । वह बड़ा दुखी हुआ मुनिराज की इस प्रकार की बात सुनकर और घर आकर अपने लड़कों से कह दिया कि देखो मुझे एक मुनिराज ने बताया है कि तुम अमुक दिन मरकर अपने ही घर के लैट्रिन में विष्टा के कीड़ा बनोगे सो तुम लोग मेरे मर जाने पर उस लैट्रिन में देखना अगर उसमें विष्टा कीड़ा दिखे तो मार डालना मुझे वैसी गंदी पर्याय में जीवित रहने से फायदा क्या? आखिर हुआ क्या कि जब वह राजा मरा और मरकर विष्टा का कीड़ा बना तो उसे मारने के लिए उस राजा के लड़के पहुंचे, पर ज्यों ही लकड़ी से मारना चाहा, त्यों ही वह कीड़ा अपनी जान बचाने के लिए उसी विष्टा में घुस गया, वे लड़के उस कीड़े को मारने में असमर्थ रहे । तो देखिये—निन्द्य पर्याय पाकर भी यह जीव उस ही में रहकर खुश रहता वहाँ मरना नहीं चाहता तो यहाँ कुल का क्या मद करना? ज्ञानी पुरुष अपने कुल का मद नहीं करता । तो शोभा इस बात में है कि हम अपने आपके सहजस्वरूप को सही-सही जान लें और अधिकाधिक दृष्टि उस आत्मस्वरूप में ही लगाये रहें । बाकी इन सांसारिक बातों पर अधिक दृष्टि न दें । यहाँ कैसा ही कुछ हो । किसी भी बात का घमंड न हो । अपने आपकी और अभिमुख रहना यही अपना कर्त्तव्य है । और कर्त्तव्य से चूके तो बस वहाँ सही-सही ठिकाना न मिल पायगा । गर्व करने का फल बड़ा बुरा होता है । सूत्रजी में बताया है कि दूसरे की प्रशंसा करना और अपनी निन्दा करना, नम्रता का व्यवहार करना । गर्व न होना यह परिणाम उच्चगोत्र का बंध करता है और

इससे उल्टा आचरण करने में याने पर की निन्दा करने, अपनी प्रशंसा करने, पर के गुण ढाकने, अपने में गुण न हो फिर भी उन्हें उभाड़ने आदि के कार्यों से नीच गोत्र का बंध होता है । मनुष्य हुए तो नीच कुल में गए, नारकी हुए तो वे सब नीच होते ही हैं तिर्यञ्च नीच होते ही हैं तो अभिमान का फल अच्छा नहीं होता ।

ज्ञानी के जातिमद का अभाव—जैसे कुल का मद होता है वैसे ही जाति का भी मद होता । जाति का मद मामा के कुल से सम्बंध रखता है याने माता जहाँ उत्पन्न हुई है उसके कुल का सम्बंध है जाति से । अभी देखो दो ही जगह का तो घमंड है लोगों को । किसी को अपने पिता के कुल का घमंड है तो किसी को अपने नाना मामा के कुल का घमंड है । मैं ऐसी नानी का नाती हूँ मैं ऐसे महापुरुष का पोता हूँ । पुत्र के लड़के का नाम पोता कहलाता है और इस देश में तो लड़की के लड़के को भी पोता बोलते । इस देश में तो दोनों को नाती कहते इसलिए कभी-कभी लोग यह नहीं समझ पाते कि कौन से नाती को कहा गया । तो घमंड दोनों आश्रयों से हुआ करता है तो जाति का भी एक मद होता किन्तु ये कुल और जाति के घमंड ये सब देह कर्म का सम्बंध रखने वाली बातें हैं इनसे आत्मा का कुछ सम्बंध नहीं हाँ इतनी बात अवश्य है कि अच्छे कुल में उत्पन्न हुआ जीव अच्छे परिणामों को सुगमतया प्राप्त करने का साधन पाता है और नीचकुल में उत्पन्न हुए को यह बात बहुत कठिन है कि उसे धर्मसाधना का कोई अवसर मिल सके या ज्ञानादिक में प्रगति हो सके । सो उच्च कुल पाया है तो घमण्ड के लिये नही पाया किन्तु आत्मज्ञान करके इसमें बढ़े और अपने आत्मा में रमकर ही संतोष पायें ऐसा परिचय बनाने के लिए पाया यह चित्त में निर्णय होना चाहिए । तो ऐसे ज्ञान, पूजा, कुल, जाति के मदों को त्यागकर नम्रता से आत्मा के अभिमुख होकर अपने को ज्ञानमात्र का अनुभव करना चाहियें मेरा शुद्ध कुल यह है अपने को जितना ज्ञानस्वरूप निरखा जायगा उतना ही अपना चैतन्य कुल पवित्र बनेगा और विकसित होकर यह ज्ञान लोकालोक का जाननहार सर्वज्ञ हो जायगा । तो मद त्यागने में विकास है, पर मद करने में विकास नहीं । मद करने का फल है अधोगति में जन्म होना इससे सर्व मद त्यागकर अपने आत्मस्वरूप के अभिमुख हों । यह ही विवेकी पुरुष का कर्तव्य है ।

द्रव्य क्षेत्र काल भेदभाव व अभेदभाव से आत्मा का परिचय—ज्ञानी पुरुष का मनन रहता है कि मैं समस्त परपदार्थों से निराला, शरीर से निराला, कर्मों से निराला कर्मों के उदय से होने वाले प्रतिफलन से निराला ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व हूँ जो मैं सही हूँ स्वयं हूँ सहज हूँ उस ही रूप मानना । मानता है यह जीव अन्य रूप कैसे मानेगा? जो बात यथार्थ दिख गई उसके विरुद्ध अब यह कैसे मान सकता? मैं अखण्ड चैतन्य पिण्ड हूँ । इसको समझ के लिए अनेकों गुण बताये गए हैं, मुझ में ज्ञानगुण, दर्शन गुण, चारित्रगुण और आनन्दगुण आदिक अनन्त गुण है और पर्याय भी यद्यपि प्रति समय एक अखण्ड चलती है पर समझने के लिए जितने गुण के भेद लिए गए उतने ही गुण की पर्याय ज्ञान में आयेंगी । इस आत्मा का परिचय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से होता है । द्रव्य से तो पिण्डरूप द्रव्य होता । यह अनन्त गुण पर्यायों का पिण्ड है । क्षेत्र से आत्मा का परिचय क्या होता? जैसा यह देह का आकार है उतने लम्बे चौड़े क्षेत्र में यह आत्मा विस्तृत है । यों देहाकार आत्मा का परिचय होता है । यह इस समय किस पर्याय में है । क्या अवस्था है उस अवस्था में परिचय होता है । काल से क्रोधी है, मानी है, शान्त है अशान्त है । और भावों से परिचय करने में दो प्रकार होते हैं—(१) भेदरूप

भाव (२) अभेदरूप भाव । भेदरूप भाव से आत्मा का यह परिचय मिलता है कि दर्शन आदिक अनन्त गुण आत्मा में हैं, पर अभेदभाव से मैं चैतन्यमात्र हूँ प्रतिभास मात्र हूँ । एक अखण्ड अवक्तव्य प्रतिभास स्वरूप का बोध होता है । तो अब आप जान गये होंगे कि आत्मा का परिचय ५ तरह से होता है । पर उन ५ तरह से परिचय तो हुआ सबका मगर स्वानुभव किस परिचय के बाद होता है यह परख करिये ।

स्वानुभव प्रकृष्ट साधन अभेदभाव से आत्मा का परिचय—पहले यह समझिये कि स्वानुभव ज्ञानानुभव ये करीब अनर्थान्तर हैं । ज्ञान के अनुभव में स्वानुभव होता है यहाँ । तो जब द्रव्य से जान रहे हैं कि अनन्त गुणों का पिण्ड है । इसमें भूत, वर्तमान, भविष्य अनन्त पर्यायें हैं तो ऐसा जानने के समय में चित्त व्यग्र हो रहा है । परिचय है मगर उसमें भी इसका संक्रमण परिवर्तन जानने का एक विषय बदल बदलकर चलता जा रहा है । इस स्थिति में स्वानुभव नहीं होता, मगर ऐसे परिचय के बिना भी स्वानुभव नहीं होता । क्षेत्र से परिचय पाया । यह आत्मा देह के आकार इतने लम्बे चौड़े प्रदेशों में फैला हुआ है परिचय तो बन गया, और ऐसा परिचय पाये बिना आगे प्रगति भी नहीं होती, मगर उस परिचय के काल में स्वानुभव नहीं है क्यों नहीं है कि अनुभव होता है ज्ञान से और ज्ञान से ज्ञान ही अनुभव में आया तो बनेगा स्वानुभव पर यह तो आकार परिचय में आ रहा है । काल से परिचय किया । आत्मा अनन्त पर्यायों को भोग चुका, वर्तमान यह पर्याय है आगे अनन्त पर्याय भोगेगा । कैसी पर्याय चल रही है यह सब ज्ञान में आ रहा है । सो परिचय करना आवश्यक है, क्योंकि ऐसे परिचय बिना आगे प्रगति न होगी पर इस परिचय के काल में उसके विकल्प चल रहे हैं या स्थिर हो गए, अविकल्प हो गए, विकल्प चल रहे हैं, उस काल में स्वानुभव नहीं हैं जब भेदभाव से देखा-इसमें अनन्त गुण हैं, त्रैकालिक शक्तियां हैं, सोचते जाइये, और ऐसे परिचय के बिना हम स्वानुभव के पात्र न बन सकेंगे फिर भी जब तक शक्तिभेद का चिन्तन बना है उस समय से स्वानुभव नहीं है । मृत ने समग्र परिचय के बाद जब अभेद चैतन्यस्वरूप यह ज्ञानमात्र ज्ञान में ही रहता है तो चूंकि ज्ञाता ज्ञान हुआ ज्ञेय भी ज्ञान हुआ, ऐसा अभेद हो जाने पर वहाँ स्वानुभूति प्रकट होती है, इस तरह की क्रिया से जिसने आत्मा का दर्शन किया है वह सम्यग्दृष्टि पुरुष किसी भी वाह्य पदार्थ को पाकर घमंड करेगा क्या? उनका घमंड नहीं होता ।

ज्ञानी के बलमद का अभाव—एक मद बल का होता है । जो शरीर को बल मिला उस बल का घमंड और सोचता है ज्ञानी कि मेरे बल तो अनन्त है जिसे अनन्त चतुष्टय कहते । इतना सामर्थ्य है, पर वीर्यान्तराय कर्म का नहीं है क्षयोपशम अनेक प्रकृतियों का उदय है विशेष उसका बल ढक गया, और जब मैं एकेन्द्रिय था दो इन्द्रिय तीन इन्द्रिय आदिक था तो कितना बलहीन था । लोगों ने कुचला, छीला, पकड़ा, बंधन किया, बलहीन थे । आज कुछ वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम मिलने से कुछ बल प्रकट हुआ है । यह बल पराधीन है, यह बल विकृत है यह मेरे स्वभाव का बल नहीं है । देह बल से क्या अपने को बलवान समझना? अपने से अधिक बल तो पाड़ा, झोटा, गधा, घोड़ा वगैरह में है । देह के बल का घमंड करें तो कम से कम गधे को देखकर तो घमंड चूर कर देना चाहिये । इस मामले में तो हम से बढ़कर गधा है । गधा जितना बल तो नहीं है । तो देह के बल का क्या घमंड करना? हां एक मौका मिला है कि इस मनुष्यपर्याय में देह बल भी प्रकट हुआ तो इस बल का सदुपयोग करो, दुरुपयोग मत करो । दुरुपयोग क्या है? किसी को पीटना, किसी का नुकसान करना,

अन्याय अत्याचार करना, ये सब देह के बल के दुरुपयोग हैं । दुरुपयोग न करें, सदुपयोग करें । देह का बल प्रकट हुआ है तो व्रत में तपश्चरण में ध्यान, अध्ययन, स्वाध्याय में इस बल का प्रयोग करके आत्मीय बल के साथ सन्धि करें । यह है इस बल का सदुपयोग । कितने ही लोग धर्म के नाम पर, आज के तत्त्वज्ञान के नाम पर व्रत, तपश्चरण आदि से ग्लानि करते, उनमें प्रमाद करते अथवा हो जायगा, होता ही है सहज होगा किसी भी नाम पर यह व्रत तपश्चरण संयमरहित जीवन बिताया जा रहा है । अरे जहाँ बल प्रयोग से दूकान के काम, भार के ढोने के काम, कितने ही काम लगे रखे हैं, घर के काम, बोझ लादने के काम, इतने काम लगा रखे, तो इस बल से अगर थोड़ा बत नियम का भी काम किया जाय तो इसमें कौनसा बुरा हैं? एक बात कही जाती है कि पहले सम्यक्त्व उत्पन्न कर लो, बाद में व्रत करना चाहिए । सो बात तो ठीक है कि सम्यक्त्व के होने पर ही व्रत-व्रत नाम पाता है मगर इसका प्रमाद करने से बात क्या हो जाती है कि यह जीवन भर व्रत नहीं किया जा पाता । सम्यक्त्व हो लेने दो तो इस तरह से सम्यक्त्व हो ही नहीं पाता किसी के जिन्दगी भर । वास्तव में सम्यक्त्व जो केवल ज्ञानगोचर है उसकी प्रमादीजन आड़ लेते हैं । इस बल के दुरुपयोग में ही रहे तो जीवन तो ऐसा गुजर रहा है जैसे पहाड़ से गिरती हुई नदी कभी वह ऊपर को नहीं वापिस होती, ऐसे ही जो जीवन गया वह कभी वापिस नहीं होता ।

व्रत तपश्चरण आदि द्वारा देहबल का सदुपयोग करने का अनुरोध—मान लो सम्यक्त्व नहीं हुआ और वह व्रत तपश्चरण कर रहा और एक के सम्यक्त्व भी न हो और वत तपश्चरण से ग्लानि कर रहा तो इन दोनों में अपेक्षाकृत बतलाओ कि लाभ में कौन रहा? अज्ञानी दोनों हैं, सम्यक्त्व दोनों में नहीं हैं, किन्तु एक के सम्यक्त्व नहीं, और जो बाह्य व्रत हैं जो कुछ उपयोग को अच्छे कार्यों में थमाने वाले कार्य है उनसे भी प्रमाद कर रहा, उसकी क्या गति होगी? उत्तम गति न होगी और एक के सम्यक्त्व नहीं है फिर भी अपनी वर्तमान बुद्धि के अनुसार कषाय मंद कर रहा, धर्म कार्यों में लग रहा, समय पर व्रत कर रहा तो उसके कम से कम उत्तम गति तो होगी । जो प्रथा चली आयी है कि नियम रखना व्रत रखना, तपश्चरण करना, इसके लिए यह बहाना न करें कि मैं पहले सम्यक्त्व को कर लूं कि मेरे सम्यक्त्व हो गया है तब व्रत करुँ, ऐसी उसमें प्रतीक्षा नहीं की जाती है । जब भी बुद्धि आये तब शक्ति के अनुसार व्रत, नियम तपश्चरण कीजिए । एक बात सोच सकते हैं कि सम्यक्त्व न होने पर वे व्रत-व्रत तो न कहलायेंगे, जिसे पंचम गुणस्थान कहते हैं, न कहलाये, पर इस बल का कुछ सदुपयोग तो किया । यह देह का बल व्यर्थ ही यों जा रहा था प्रमाद करके अथवा संयम से घृणा करके ऐसी बातें कला के साथ बोलते कि जिसमें कुछ देह का संयम आदिक भी न करना पड़े और लोगों में हम ऊंचे धर्मात्मा भी कहलाये ।

आत्मलाभ का उद्देश्य न होने पर ही अटपट व्यवहार—आजकल जो छुआछूत बढ़ी है जरा जरासी बातों में, अगर धोती किवाड़ से छू गई तो अशुद्ध हो गई, बदलो आदिक जो एक सीमा को उल्लंघन करके छुवाछूत बढ़ी हैं इसका इतिहास अगर खींचे तो क्या मिलेगा? हम तो यह अंदाज कर सके हैं कि पहले समय में भरत चक्रवर्ती ने विप्र वर्ण की स्थापना की थी और वे पूज्य थे, सचमुच में अच्छे थे, व्रती होते थे, ज्ञानी होते थे और उनके द्वारा अन्य सब लोग धर्म का उपदेश सुनते थे । अच्छे आचरण में लगते थे किन्तु वे ऐसे बदले कि

साधारण गृहस्थों की तरह उनमें प्रवृति हो गई, और भी गिरे तो उनके भाव ऐसे आ गये कि मद्य मांस खाने पीने का भी मौज लेना चाहिए । अब बतलावो, जहाँ लोक में इतना आदर है, पूज्यता है वहाँ ये गंदी चीजें कैसे इस्तेमाल की जायें? एक यह उनके सामने प्रश्न था पर उनकी बुद्धि ने इस समस्या का हल कर लिया । कोई धर्म का रूप दे, यज्ञ करो, बकरे होमो, घोड़े होमो और लोगो की विश्वास करा दे कि यह धर्म का कार्य हो रहा, सो धर्म के नाम पर हम बड़े के बड़े कहलायेंगे और उसमें आसानी से मांस मदिरा आदिक सबका लाभ हो जायगा । ठीक है हुआ, पर एक डर उनको बना रहा कि दूषित काम करने से लोग परख तो जायेंगे सब, तो ऊपरी-ऊपरी बड़ी शुद्धि बढ़ा ली और मानते कि हम बड़े पवित्र हैं । दक्षिण देश में देखने में आया कि किन्हीं-किन्ही लोगों के यहाँ चौके की बड़ी शुद्धि चलती है मगर चौके में भोजन किस चीज का? मांस मच्छी का । तो ऊपरी शुद्धि जितनी अधिक बढ़कर चलेगी उतनी-उतनी पोल ढकेगी पर इससे हित की बात तो न बनेगी । इससे इस प्रणाली को बदलना होगा । देह में जब बल मिला है तो प्रमाद न करना । जितनी शक्ति हो उसके अनुसार उसे न छुपाकर व्रत में तपश्चरण में जरूर लगाना । आजकल लोगों के चारित्र में इतनी गिरावट आ गई कि रात्रि भोजन तक का त्याग नहीं करते बन रहा, हां कुछ लोग निभा रहे, पर एक नवयुवक वर्ग अथवा अन्य लोग जिनको उपदेश सुनने को मिलता नहीं, या अन्य प्रकार की वार्ता मिलती है उनमें कुछ परसेन्ट लोग ही रात्रिभोजन के त्यागी मिलते हैं, कहीं-कहीं तो एक परसेन्ट भी रात्रि भोजन के त्यागी नहीं मिलते । उन्होंने अपने को अत्यन्त कायर बना डाला है, जरा सा भी कष्ट नहीं सह सकते । अरे क्या है, दिन में ही एक दो या तीन बार भोजन कर लो, रात्रि भोजन का त्याग रखो । कहीं ऐसा नहीं है कि दिन ही दिन में भोजन करें रात्रि में न करें तो स्वास्थ्य में फर्क पड़ जायगा । यहाँ तो लोग जान बूझकर उपवास करना ही नहीं चाहते, पर उपवास करने से कहीं स्वास्थ्य में हानि नहीं होती, बल्कि स्वास्थ्य अच्छा रहता है । आज हम आपको कुछ शारीरिक बल मिला है तो उसका सदुपयोग करना चाहिए । दया करना व्रत करना, नियम लेना यह है बल का सदुपयोग ।

ज्ञानी के ऋद्धिमद का अभाव—एक मद है ऋद्धिमद—गृहस्थों की ऋद्धि है धन वैभव मुनिजनों की ऋद्धि और प्रकार की होती है । तो जो धन वैभव पाया गृहस्थों ने उसमें मद आ जाना ऋद्धिमद है । कोई सोचे कि मेरे पास बड़ा धन वैभव है, अनेक लोग मेरे पास याचना करने आते है । बड़े-बड़े तपस्वीजनों को हम आहार दिया करते है, उनका भी मुझ से ही काम चलता है यों कितनी ही बातें सोचकर उस ऐश्वर्य का मद करना यह ऋद्धिमद कहलाता है पर विचारो तो सही कि यह आत्मा कितना है अपने प्रदेशमात्र इसका वैभव क्या है? इसका जो स्वरूप है वही इसका वैभव है जो इसके साथ ही रहेगा, मरने पर भी न छूटेगा, वह हमारा वैभव है और जो छूट जायगा वह सब उधार लिया हुआ वैभव है । मांगा हुआ वैभव है । जैसे-यहां किसी से उधार कोई चीज लेकर बर्ते, पहने तो वह कुछ समय बाद देना पड़ता है । पहले समय में विवाह बारात के समय पुरुष भी अनेक गहने मांगकर पहना करते थे गुंज गोप आदिक । तो बताओ जो मांगे हुए पहना सो छूटेंगे कि नहीं? छूटेंगे तो ऐसे ही पुण्य का मांगा हुआ सह वैभव है, उधार है, यह आपके गांठ की चीज नहीं है, यह भी छूटेगा, उसका क्या मद करना? एक सेठ था वृद्ध और उसके एक लड़का था नाबालिग ४-६ वर्ष का । उसके

पास करीब १० लाख की जायदाद थी । जब वह गुजरने लगा तो उसने अपनी सारी जायदाद को कोर्ट आफ वार्ट कर दिया याने सरकार के सुपुर्द कर दिया । अब सरकार उस जायदाद की सम्हाल करे और ५००) रुपये महावार सेठ के बालक को गुजारे के लिए देती रहे । उस बालक की सेवा के लिए एक नौकर रख दिया । जब वह बालक कुछ बड़ा हुआ तो सरकार के बड़े गुण गाये, वाह कितना अच्छी है सरकार जो मैं घर बैठे ५००) मासिक देती है और किसी को तो नहीं देती । उस बालक को यह पता न था कि मेरी १० लाख की जायदाद सरकार ने ले रखी है धीरे-धीरे जब वह बालक १७-१८ साल का हुआ और यह जान लिया कि मेरी १० लाख की जायदाद सरकार ने कोर्ट कर रखी है, उसके एवज में ५००) रुपये महावार गुजारे के लिए दे रही है सो उसने झट सरकार को नोटिस दे दी कि अब मैं बालिग हो चुका हूँ मुझे नहीं चाहिए ५००) मासिक मुझे मेरी दस लाख की सम्पत्ति दे दी जाय । लो मिल गई उसकी सारी सम्पत्ति तो ऐसे ही अनादि काल से यह जीव नाबालिग बना चला आ रहा है नाबालिक मायने अज्ञानी, सो इसका अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान जो वैभव है उसको इस कर्म सरकार ने कोर्ट कर रखा है । निमित्त नैमित्तिक भाव से कर्म के विपाककाल में आत्मा में ये प्रकट नहीं हो पाते बदले में थोड़ी पुण्य सामग्री दे देता है, जैसे कुछ वैभव मिला, दूकान सम्पदा मिली, ऐसा कुछ योग लगा देता है । तो यह बड़े गुण गाता इस पुण्य सरकार के कि मुझ को कितनी सुविधा दी, किन्तु जब यह बालिग हो जाता, ज्ञानी हो जाता, तो सोचता है कि ओह मेरा अनन्त, ज्ञान, अनन्त आनन्द तो इस कर्म सरकार ने कोर्ट कर रखा है और कदाचित थोड़ा-थोड़ा वैभव मिला तो मैं उसके गुण गाता हूँ, उस पुण्य सरकार ने हम पर बड़ी करुणा की है, ऐसा परिचय होते ही सम्यग्दृष्टि ज्ञानी आत्मा अब उस पुण्य वैभव को ठुकरा देता है और अपने भाव व्यक्त करता है, बल प्रकट करता है कि मुझे न चाहिए यह पर वैभव । मेरे को तो मेरा अनन्त जो वैभव है ज्ञान दर्शन आनन्द शक्ति, बस यही चाहिए, सो जब वैभव को ठुकरा दिया अपने ज्ञान द्वारा और अपने में अपने अनन्त वैभव का ध्यान दिया, उसके स्रोतभूत ज्ञानानुभव का सहारा लिया तो इसके प्रताप से उन कर्मो की निर्जरा होती है, कर्मों का ध्वंस होता है और इसको अपना अनन्त वैभव प्राप्त हो जाता है ।

ऋद्धि में संतुष्ट न होकर आत्मस्वरूप की दृष्टि में संतुष्ट होने का कर्तव्य—देह में जो बल मिला है उस बल से संतुष्ट न होइये, ऐसे ही जो ऋद्धि वैभव मिला है उस वैभव से संतुष्ट न होइये । एक बात और जानो । लोग कहते हैं कि पुण्य के उदय से वैभव मिला तो उदय का अर्थ क्या कहलाता? सूर्य का उदय हुआ इसका अर्थ क्या कहलाया कि सूर्य निकला । निकलने का नाम उदय है । पुण्य के उदय से वैभव मिला इसके मायने है कि पुण्य के निकलने से वैभव मिला । उदय में होता ही यह है कि जो कर्म सत्ता में थे वे अब अलग होने लगे । तो जितना भी सुख मिलता वह पुण्य के निकलने से मिलता है अब पुण्य के निकलने का तांता लगा है, अब यह पुण्य कर्म निकला, अब दूसरा पुण्य कर्म निकला, यों पुण्य के निकलने का तांता लगा रहता है १०-२० वर्ष तक धन वैभव भी बना रहता है । अब मान लो पुण्य तो निकलता रहे और नया पुण्य न आने दें तो क्या गति होगी? सो यह जानता कि ये सब पुण्य पाप के उदय के फल हैं इनमें मेरा कुछ नहीं है । मैं इनसे उपेक्षा करके अपने आप में अपना जो अनन्त वैभव है बस उस पर दृष्टि दूं । और वैभव पर भी दृष्टि

देने से वैभव नहीं मिलता, किन्तु अपने को अकिञ्चन ज्ञानमात्र अनुभव करने से वह समस्त विकास बन जाता है । इसलिए एक ही छोटा सा उपाय है कि जब चाहे आप अपनी ओर दृष्टि करें और अपने की ज्ञानमात्र अनुभव करें । प्रतिभास, ज्ञान, जानन जिसकी मूर्ति नहीं । अमूर्त ऐसा प्रतिभास मात्र हूँ । इसका अन्य कुछ नहीं है । यह अन्य का कुछ करता नहीं है अन्य किसी को भोगता नहीं है । सर्व व्यापार व्यवसाय खुद के खुद में ही चलते हैं, ऐसा पर से निराला अपने को ज्ञानमात्र अनुभव करना ।

अन्तस्तत्त्व के रुचिया के चित्त में मद का अनवकाश—जिस जीव ने अपने आत्मा के सत्तासिद्ध सहज स्वरूप का परिचय पाया उस परिचय के साथ होने वाले आत्मीय आनन्द का अनुभव किया उसको आत्मतत्त्व के सिवाय जगत का अन्य कोई पदार्थ रुचता नहीं, ऐसा पुरुष धन वैभव को पाकर क्या घमंड करेगा? कर्मोदय वश वह न निर्ग्रन्थ दिगम्बर हो सकता, न निरन्तर आत्मध्यान का प्रयोग कर सकता और रहना उसे पड़ा श्रावक अवस्था में और वहाँ धन वैभव कमाना रखना भी आवश्यक है तो वहाँ यह खेद मानता है कि जैसे कीचड़ में फंसा हुआ हाथी निकल नहीं पाता ऐसे ही यह मैं इस कीचड़ गृहस्थी में फंसा हुआ हूँ । उद्यम तो निकलने का है, पर स्थिति है ऐसी कि नहीं निकलता, उसका खेद मानता ही रहता है घमंड करने की तो गुंजाइश ही कहां है? ज्ञानी पुरुष अपने इस धन वैभव के समागम में लज्जा महसूस करता है । कहां तो मेरा ज्ञान अनन्त, दर्शन अनन्त, सौख्य अनन्त, पराधीन न हो ऐसे स्वभाव वाला और कहां इस स्वाधीन अविनाशी आत्मीय लक्ष्मी को छोड़कर इस बाहरी पौद्गलिक विभूति को ग्रहण कर रहा हूँ । इसमें वह लज्ञा मानता है । तो ऐसे अंतस्तत्त्व का रुचिया ज्ञानी संत श्रावक धन वैभव के बीच रहकर धन, वैभव-वैभव में मद कैसे करेगा? उसे तो यह कलंक दिखता है । ज्ञानी पुरुष को वैभव और ऐश्वर्य का मद नहीं होता । किसी चीज में घमंड करना यह सम्यग्दर्शन का दोष है । यह दोष बढ़-बढ़कर सम्यक्त्व का भी घात कर डालता है ।

ज्ञानी जीव के तपोमद का अभाव—कभी यह जीव तपश्चरण करने लगा । मुनि हुआ तो उसे तप का मद नहीं होता । कैसी उस ज्ञानी की अन्त: धुन है केवल सहज चैतन्य को प्रकट करने की उसकी दृष्टि ऐसी बनी रहती कि उस पर्याय में तपश्चरण करता हुआ साधु तप में मद नहीं करता । तीन तत्त्व होते है (१) पाप (२) पुण्य और (३) धर्म पाप तो खोटा परिणाम है, अशुभ गति में ले जाने वाला है । अत्यन्त हेय है, पर पुण्यभाव हेय है, उसे अत्यन्त हेय नहीं कहा गया । प्रवचनसार में श्री अमृतचन्द्र सूरि ने इन तीन के सम्बंध में यों विशेषण दिया अत्यन्त हेय अशुभभाव, हेय शुभ भाव और अत्यन्त उपादेय शुद्ध भाव तो बीच का जो पुण्य भाव है शुभ भाव है, और आप सिद्ध होता है कि किसी अवस्था में पूज्य है, किसी अवस्था में हेय है पर उसे अत्यन्त हेय शब्द से नहीं कहा गया । उससे हमें क्या शिक्षा मिलती है कि भाई पुण्यभाव के द्वारा पाप को विलीन करना, दूर करना और पुण्यभाव से सुरक्षित रहकर फिर अपने उस शुद्ध भाव को प्रकट करते हुए पुण्य से भी अतिक्रान्त होकर अपने स्वरूप में रमना, इसे यों कहो कि जैसे कोई योद्धा युद्ध में लड़ने जाता है तो अपने साथ दो चीजें रखता है ढाल और तलवार ढाल तो शत्रु का वार रोकने का काम करता है, और तलवार शत्रु का संहार करने का काम करता है ढाल और तलवार दोनों के बिना योद्धा युद्ध में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता । उसी प्रकार से पुण्य भाव रूपी ढाल से पाप के आक्रमण का वार रोककर सुरक्षित होकर फिर शुद्ध

भावरूपी शस्त्र से कर्म शत्रु का छेदन करना, इस तरह की प्रक्रिया में जो चलता है वह सफल हो जाता है तो तपश्चरण व्रत संयम आदिक जो कुछ भी क्रियायें की जाती हैं, मन, वचन, काय तो अभी है ही, वे किसी न किसी ढंग में लगेंगे, तो किस ढंग में लगना वह सब संयम में बताया है, उस संयम के द्वारा अपने आपको सुरक्षित करते है ज्ञानीजन और उस सुरक्षित दशा में भीतर शुद्ध दृष्टि करके विकार को मूल से खत्म कर देते हैं ।

ज्ञानी के तपश्चरण का प्रयोजन—ज्ञानीजन क्यों तपश्चरण करते हैं इसे बताया है समाधि तंत्र में कि आराम-आराम में पाया हुआ ज्ञान कोई दु:ख की परिस्थिति होने पर नष्ट हो जाता है । इस कारण मुनिजनों को अपनी शक्तिमाफिक दु:ख से अपने को जोड़ना चाहिए । दु:ख मायने तपश्चरण आदिक, अनशन आदिकार्य उससे एक तो आत्मा में विशुद्धि जगती, दूसरे-कदाचित उदयवश एक दो दिन भोजन न मिल सका तो ऐसी अवस्था में वह धीरता रखना सीख गया, क्योंकि उपवास करने की उसने आदत बना लिया । तो वहाँ बताया गया कि तपश्चरण आदिक से अवश्य ही अपने को युक्त करना चाहिए और भी बात देखिये आज मन श्रेष्ठ मिला है, देह में बल भी है तो इस बल को इस देह को हम व्रत तप संयम में न लगाकर विषयों में, गप्पों में, कलहों में ऐसे ही अपने माने हुए आराम में ही लगायें तो उसे विवेक नहीं कहा जा सकता । वह तो पाप की ओर ही क्या है इस कारण इस देह को तपश्चरण से युक्त करना चाहिए, तो ज्ञान को शुद्ध बनाना चाहिए । तो तप करते हुए उनके मद नहीं होता कि मैंने ऐसा तप किया । किसी दूसरे का एहसान लादने के लिए व्रत तप है क्या? थोड़ा सा भी व्रत तप करने वालों को आजकल प्राय: करके जरा-जरासी बात में गुस्सा आता है उसका कारण क्या है कि वे कुछ व्रत तप करके ऐसा समझते हैं कि मैं इन लोगों पर एहसान लाद रहा हूँ । अरे एहसान क्या किया? संसार के दु:खों को देखो अपने दु:खों को दूर करने के लिए धर्म दृष्टि का प्रयास किया जा रहा है । ज्ञानी को तपश्चरण पर मद नहीं होता, अन्य तपस्वियों को देखकर अंतरंग में प्रमोदभाव होता है क्योंकि उनके चित्त में है कि विषयों से हटकर तपश्चरण में लगते हुए अपने को सुरक्षित करके भीतर में ज्ञान साधना की जा रही है उसको देखकर वह पुरुष अपने में प्रमुदित होता है । ज्ञानी पुरुष को तपश्चरण का कभी घमंड नहीं होता ।

ज्ञानी के रूपमद का अभाव—एक मद है रूप का मद, सुन्दरता का मद, इतनी विचारता है कि मेरा स्वरूप मेरा स्वरूप तो चैतन्यमात्र है । उसमें यह शारीरिक सुन्दरता और रूप का वहाँ कोई सम्बंध नहीं है । मैं चैतन्यमात्र हूँ और कर्मकलंक के कारण यह शरीर का सम्बंध जुड़ा है सो यह तो उसके साथ कलंक लगा है । अब यह शरीर किन्हीं मोही जनों के लिए सुन्दर रूप वाला जचें तो उनकी भावना है, उनकी ऐसी कल्पना है । किन्तु यह शरीर तो अपवित्र है सुन्दरता का क्या अर्थ? एक बात और जानो । कोई पुरुष या महिला शरीर में कितना ही सुन्दर हो, गौरवर्ण का हो, छवि हो कुछ भी हो लेकिन वह कषाय में रहा करे, घमंड बगराये जब चाहे इतरायें, दूसरों को धोखा दे लालच बढ़ा हो तो उसमें सुन्दरता न झलकेगी और कोई पुरुष चाहे रूपवान नहीं है मगर गम्भीर है, धीर है, एक मजबूत लक्ष्य की पकड़ वाला है, धर्मदृष्टि का है, लोगों के उपकार में रहता है तो उसके चेहरे पर सुन्दरता झलकेगी, मनोज्ञ होगा, सबको प्रिय होगा । तो शरीर की सुन्दरता का भी

आधार रहा आत्मा का भाव । जब वीतराग हो जाता है तो यह शरीर स्फटिक मणि के समान सुन्दर हो जाता है । भला बताओ कौन करने आया इस शरीर को निर्मल? उस वीतराग के भावों ने शरीर को निर्मल बनाया । १२वें गुणस्थान में शरीर में रहने वाले निगोदिया जीव मरते हैं १२वें गुणस्थान के अन्त में शरीर निगोदिया रहित हो जाता है । १३वें गुणस्थान में प्रवेश है वहाँ स्फटिकमणि की तरह शरीर हो जाता है? कहते हैं कि अरहंत भगवान के शरीर की छाया नहीं पड़ती । आप तो स्फटिकमणि की मूर्ति हो उसे भी रखकर देख लो, उसकी छाया न पड़ेगी अच्छा उसे जाने दो, कोई कांच की मूर्ति रख लीजिए, उसकी भी छाया न पड़ेगी । तो स्फटिक मणि की तरह शुद्ध होना, शरीर की छाया आदिक का न होना, ये बाहरी अतिशय भी अंतरंग अतिशय पर आधारित होते हैं । शरीर का मद, रूप का मद, ज्ञानी के नहीं होता, यह कहा जा रहा है ।

शरीररूप की विनश्वरता व अविचारितरम्यता—क्या है रूप? क्षण-क्षण में यह रूप विनश्वर है, सनत्कुमार चक्री की ही तो कथा है, उनका कामदेव जैसा रूप था, जिनकी सुन्दरता की चर्चा स्वर्गों में भी चल उठी । जैसे यहाँ सभायें लगती हैं । कोई वक्ता बैठता है, श्रोता सुनते हैं स्वर्गों में भी यही सभायें रहती हैं । यहाँ तो लोगों को समय कम मिलता है दुकान है काम धंधा है, वहाँ तो सब देव खाली रहते हैं उन्हें रोजगार करना नहीं पड़ता, खाने-पीने का आरम्भ नहीं करना पड़ता । हजारों वर्षों में भूख लगती तो वहीं कंठ से अमृत झर जाता तो उन देवों की सभा लगी हुई थी, वहाँ चर्चा आयी सनत्कुमार चक्री के रूप की तो उसे सुनकर एक देव के मन आया कि चलकर देखना चाहिए कि कैसा रूपवान है वह चक्री । तो तब वह देव पहुंचा देखने के लिए तो उस समय सनत्कुमार खाली लंगोट पहने हुए व्यायाम कसरत करके अखाड़े की धूल से लथपथ शरीर होकर स्नान करने के लिए कुंवे पर बैठे थे । उस समय उनकी छवि निराली थी । उस छवि को देखकर देव ने कहा सचमुच सनत्कुमार चक्री का रूप वैसा ही सुन्दर है जैसा कि स्वर्गों में सुना था । तो वहाँ उपस्थित कुछ लोग बोले अरे इस समय इनमें सुन्दरता कहां? जब नहा-धोकर राजसी वस्त्र पहिनकर सिंहासन पर बैठे होंगे उस समय इनका रूप देखना । आखिर देव को कौतूहल हुआ और जब सनत्कुमार चक्री राजसी वस्त्र धारणकर सिंहासन पर बैठे हुए थे उस समय फिर वह देव उन्हें देखने गया तो वहाँ देख कर माथा धुनने लगा और कहने लगा—अरे अब तो वह सुन्दरता नहीं रही जो पहले देखा था । तो लोग बोले—अरे यह क्या कह रहे? कैसे नहीं है वह सुन्दरता? तो देव ने उनसे कहा पहले एक घड़ा पानी मंगावो और एक पतली सींक लावो तब हम इस बात को समझायेंगे । आखिर आ गया एक घड़ा पानी और स्व पतली सींक । देव ने घड़े में सींक डाला और उससे एक दो बूंद पानी निकालकर बाहर डाल दिया और उनसे पूछा बताओ इस घड़े में से एक दो बूंद पानी निकल जाने पर घड़े का पानी कुछ कम हुआ कि नहीं? तो सभी बोले—हाँ कम हुआ । तो फिर देव बोला-बस ऐसे ही रूप सौन्दर्य की बात हैं । यह शरीर क्षण प्रतिक्षण क्षीण होता जा रहा है, इसका रूप सौन्दर्य क्षण प्रतिक्षण कम होता जा रहा है । इस शरीर के रूप सौन्दर्य पर क्या घमंड करना । तो इस रूप सौन्दर्य का घमंड अज्ञानीजन ही किया करते हैं क्योंकि उन्होंने समझा कि यह शरीर मैं हूँ और मैं बड़ा सुन्दर हूँ । अरे इस हड्डी, चाम, मज्जा वाले शरीर को मैं मान रहा यह अज्ञानी जीव । उसे यह पता ही नहीं कि मेरे आत्मा का स्वरूप कैसा है । मेरा स्वरूप तो अतुल, अचिन्त्य, ज्ञानानन्द वैभव वाला है, सबसे निराला ज्ञानमात्र है,

जिसकी दृष्टि बनने पर संकट सब दूर हो जाते हैं ।

आत्मस्वरूप का महत्त्व न आंकने वाले पुरुषों की दुर्दशा—अहो, कहां तो यह मैं दर्शन ज्ञानस्वरूप वाला, सहज आनन्दस्वरूप वाला और कहां यह चक्कर लग उठा शरीर का, ऐसे—ज्ञानी को कहीं रूप पर मद हो सकता है क्या? अरे एक दिन भी आहार पानी न मिले तो देह मुरझा जाता है । इसकी सुन्दरता का क्या मद करना? आज यदि रूप पाया, मद किया तो उसका फल क्या होगा? अगले भव में विरूप, कुरूप, कुबड़ा, दरिद्र, लूला, लंगड़ा आदिक अनेक दशावों को प्राप्त होगा । देखो अनेक जीव कितना दुःखी नजर आ रहे हैं । ये बैल, गधा, घोड़ा, झोंटा आदिक को देखो चाबुक पर चाबुक चल रहे । कंधे सूज रहे जुत रहे लद रहे, फिर भी पिट रहें । कैसी दयनीय दशा इनकी है । इनको देखकर एक तो यह बात चित्त में लाना कि ये जीव भी हैं सहज परमात्मस्वरूप । पर कर्माक्रान्त होने से ये कैसी दयनीय दशा को प्राप्त हुए हैं, कुछ उन पर करुणा आनी चाहिए । अपने आपके स्वरूप के समान उनका स्वरूप निरखें । दूसरी बात यह ध्यान में रखें कि मैं भी उन जैसा अनन्ते भवों मे बना और अब भी न चेते तो फिर ये ही सब दशायें होंगी । अज्ञानी जीव आज तो अपने इस रूप सौन्दर्य को देखकर घमंड कर रहा पर यहाँ से मरकर हो गया मान लो सूकर तो फिर क्या हाल होगा? देखा होगा कि लैट्रिन के नीचे सूकर प्रवेश करता और ऊपर में कोई शौच करता तो सारा शरीर उस सूकर का मैले से भिड़ जाता है, ऐसी उसकी दशा देख कर भी क्या अपने आपके विषय में कुछ विचार नहीं चलता । ऐसी-ऐसी दुर्दशायें तो हम आपकी भी हुई अगर न चेते तो फिर वही दशायें होंगी ।

स्वसंचेतन का कर्तव्य—चेतने का अर्थ क्या है कि अपने स्वरूपास्तित्त्व को निरखिये कि यह मैं हूँ ऐसे स्वरूप वाला जिसमें कोई संकट का नाम नहीं । यदि मेरे में संकट का स्वभाव होता तो फिर संकट कभी न मिट सकता था । मेरे में यदि विकार स्वभाव होता तो विकार भी कभी न मिट सकते है, मगर ऐसा नही है । मेरा स्वरूप निर्विकार है, कष्टरहित है । अपने आपके सत्त्व से जो बात होती हो उसको निरखना है । और विकार हो रहे हैं उनको मना तो नहीं किया जा सकता । हो तो रहे है । संकटों में पड़े ही हैं, ये विकार पुद्गल कर्म के उदय का निमित्त पाकर हुए हैं । ये होने का मेरा स्वरूप नहीं है । तो निमित्त के निर्णय से स्वभावदृष्टि का बल मिला, ये मेरी चीज नहीं है, पौद्गलिक है, नैमित्तिक है, परभाव हैं, इनसे मुझ को लगाव न रखना चाहिए । जो मेरा निज सहजस्वरूप है उसका लगाव होना चाहिए । ऐसा अंतस्तत्त्व का रुचिया ज्ञानीसंत कैसे रूप का मद कर सकेगा? तो अष्ट मदरहित भाव सम्यग्दर्शन में होता है । अब कह रहे हैं कि कोई पुरुष व्यर्थ ही अपने को सम्यग्दृष्टि मानकर जैसी कि आदत है संसारी जीवों को कि अपने को किसी से कम न मान सके और अपने को बुद्धि का भण्डार समझता है, वह पुरुष अज्ञानी होने के कारण यदि किसी धर्मात्मा का अपमान, अपवाद करता है तो वह आत्मप्रेमी नहीं है, वह शुद्धभाव वाला नहीं है । ज्ञानी नहीं, सम्यग्दृष्टि नहीं । यह ही बात इस श्लोक में कह रहे है ।

श्लोक 26

स्ययेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः ।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना ।।२६।।

स्वरूपदृष्टा संतजनों द्वारा धर्मात्मावों का अपमान होने की असंभवता—जो घमण्डी पुरुष अपने मद के कारण अन्य धर्मात्माजनों का उल्लंघन करता, उनका अपमान करता सो वह उनका अपमान नहीं किन्तु अपने धर्म का ही अपमान कर रहा, क्योंकि धर्म धार्मिक पुरुषों के बिना नहीं होता । एक बड़ा दोष है जीव में कि कुछ थोड़ा बोल बोलना जान गये तो वे मद में लिप्त हो जाते हैं । और मानों वे अपने को इस तरह मानते कि मानो संसार में कुल दो आँखे मिली हों तो डेढ़ आँख वाला तो अपने को मानते, बाकी आधी आँख में सारी दुनिया को मानते । अपने में घमंड बनाकर वे अन्य धर्मात्माजनों का अपमान करते । आखिर घमंड होने पर मन, वचन, काय की चेष्टायें तो विपरीत होंगी ही मन उसका व्यवस्थित रहेगा नहीं, वचन भी अटपट निकलेंगे, शारीरिक प्रवृत्तियों भी उसकी अटपट होंगी । तो घमंड होने के कारण उसने अपने आपका घात ही किया । धर्म उस आत्मा का ही तो नाम है । कोई आत्मा से धर्म अलग चीज होती हो तो बात नहीं । धर्म कहीं खरीदने से नहीं मिलता, किसी दूसरे से मांगने से नहीं मिलता, किन्तु स्वयं को अपने स्वभाव की आराधना करने पर प्राप्त होता है । ऐसे धार्मिक पुरुषों की छोड़कर धर्म कहीं अन्यत्र नहीं । धर्मात्माजनों की विनय सम्यग्दृष्टि पुरुष करते हैं । धर्मात्माजनों की विनय करते तो समझो धर्म की विनय करते । ज्ञानी पुरुषों से किसी की अविनय नहीं बनता । वे धर्मात्माजनों की विनय करते हुए में थी अपने सहजस्वरूप की निरख बनाये रहते है । जैसे दूध में घी सामने नहीं है कि हाथ से छूकर बताया जा सके कि यह है घी, पर पारखी लोग दूध को निरखकर परख लेते है कि उसमें एक छटाक घी है । विधि से वे उस घी को निकाल भी लेते ऐसे ही पारखी पुरुष आत्मा में यह निरखकर लेते हैं कि यह सहज परमात्मतत्त्व है । यद्यपि वह प्रकट नहीं है, प्रकट तो सांसारिक दशा है विकार दशा है, परस्वरूप की दृष्टि करना आवश्यक है ।

ज्ञानकला का विलास—ज्ञान में एक प्रभाव है । ज्ञान कहीं रोके से रुकता नहीं है । चाहे बात न दिखती हो ऊपर आवरण बहुत हैं फिर भी ज्ञानी की इतनी सही दृष्टि है कि अनेक आडम्बरों के बीच भी उनमें अटककर अपने आत्मस्वरूप पर दृष्टि ले जाता है । जैसे एक्सरा लेने वाला यन्त्र शरीर के चाम, खून, मांस, मज्जा आदिक किसी से न अटककर मात्र हड्डी का फोटो ले लेता है, ऐसे ही ज्ञानी जीव सर्व बाह्य प्रसंगों के बीच रहकर भी उनमें न अटककर मात्र अपने आप में बसे हुए सहज आत्मस्वरूप को अपनी दृष्टि में ले लेता है । यद्यपि यह स्वरूप आज प्रकट नहीं है, विषय कषायों से ढका है, कर्म से ढका है फिर भी उसे ज्ञानी पुरुष अपनी ज्ञानदृष्टि के द्वारा तक लेता है । तो ज्ञानी पुरुष तो प्रवीण है । वह हर उपायों से अपने सहज आत्मस्वरूप को सिद्ध करता है । यहाँ जो इतनी-इतनी विचित्रतायें दिखती हैं, नाना प्रकार के देह दिखते हैं, यह सब क्या है? तो यह सब कर्मो का भार है । कर्म आक्रमण कर रहें है विकार का इस वक्त अक्स खिंच रहा है चित्रण हो रहा है फिर भी जीव का स्वरूप विकार करने का नहीं है । कष्ट का नहीं है । यह बात जो जान चुका है वह किसी का अपमान क्यों करेगा? सब परमात्मा स्वरूप है । जैसे अपने में परमात्मस्वरूप का दर्शन किया, स्वरूप का ज्ञान किया ऐसे ही वह पर को भी समझ रहा है, उनका वह अपमान नहीं करता । पर जो अज्ञानीजन धर्मात्माजनों का अपमान करते हैं और अपने आपको उनसे अधिक मानते हैं उनके प्रति कहते है

तो वे अपने धर्म का ही घात करते है । क्योंकि धर्म-धर्मात्मा पुरुषों को छोड़कर कहीं अन्यत्र पाया नहीं जाता । निष्कर्ष यह है कि अपने आप अपने की ज्ञानमात्र मनन करते हुए यथाविधि, यथा बल अपने ख्याल को हटाकर एक उच्च विश्राम में एक क्षण आत्मा को रखना तो चाहिए । आखिर दिनभर श्रम करके थका हुआ मजदूर भी तो कुछ हाथ-पैर ढीले-ढाले करके जमीन में लेटकर कुछ विश्राम कर लेता है, अपनी थकान दूर कर लेता है । तो विकल्पों की भारी थकान दूर करने के लिए कुछ विश्राम तो लीजिए । वह विश्राम मिलेगा अपने आत्मस्वरूप के मनन में ।

श्लोक 27

यदि पापनिरोधोऽन्यसंपदा किं प्रयोजनम् ।
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्यसंपदा किं प्रयोजनम् ।।२७।।

मिथ्याभाव हटने पर पापनिरोध की सम्पत्ति की प्राप्ति—यदि पाप का निरोध हो गया है, पापभाव रुक चुका है, नहीं होता है तो अन्य सम्पत्ति से क्या प्रयोजन है? मायने जरूरत ही क्या रही, वह तो स्वयं शान्त हो गया, स्वयं आनन्द में आ गया और यदि पाप का आस्रव चल रहा है तो अन्य सम्पत्ति से क्या प्रयोजन है । पापभाव किये जा रहे हैं, उसका फल तो बड़ा विकट मिलेगा, और वर्तमान में आकुलता ही चल रही है, उसे सम्पत्ति क्या लाभ दे सकती है? मुख्य बात यह ध्यान में रखना कि मेरे पाप का निरोध हो जाय, पापभाव मेरे में मत हो, पापभाव में पहला तो है मिथ्यात्व फिर लगावो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह उन सबकी जड़ मिथ्याभाव है । जिसके मिथ्याभाव है उसके पाप का आस्रव हुआ ही करेगा । मिथ्याभाव के मायने क्या? जो मैं नहीं हूँ उसको मानना कि यह मैं हूँ पहली गलती यह है शरीर मैं नहीं हूँ और शरीर को निरखकर माने कि यह मैं हूँ यद्यपि आज की पर्याय यह विभाव पर्याय है यह असमानजातीय द्रव्य व्यञ्जनपर्याय है । यहाँ जीव को अलग धर दें शरीर को अलग धर दें ऐसा नहीं बनता । यहाँ ही सब संयुक्त हो रहा है फिर भी ज्ञानकला में वह माहात्म्य है कि ऐसी मिली हुई हालत में भी हम ज्ञानबल से ज्ञानमात्र स्वरूप के मनन द्वारा हम आत्मतत्त्व का लक्षण भिन्न पहिचान सकते है और देह अचेतन है, प्रकट है तो देह में आत्मबुद्धि होने की मिथ्यात्व कहते हैं । जहाँ देह में आत्मबुद्धि हो वहाँ पर के देहों में भी ये परभाव ऐसी आत्मबुद्धि हुआ करती है और इन दोनों गलतियों के आधार पर नाते रिश्ते शत्रु मित्र आदिक सारे व्यवहार चल उठते हैं । तो इस मिथ्याभाव के कारण होता क्या है? जब शरीर को माना कि यह मैं हूँ तो शरीर ये है पञ्चेन्द्रिय आदिक । इन इन्द्रियों द्वारा होता है विषयों का ज्ञान तो यह विषयों के भोगने में और विषयभोग के साधनों मे एकदम जुटता है । और यह मानता है कि यही तो मेरा काम है । इस ही में तो मेरी महिमा है । इस ही से मेरा बड़प्पन है बस बड़ी कठिनाई से पाया था मनुष्यभव, और जैन शासन का मिलना तो बड़े ऊंचे पुण्योदय की बात थी मगर वह सब बेकार कर दिया एक मिथ्याभाव के कारण । सो पहले यह मनन बनायें कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ देह स्वरूप नहीं हूँ जब इस ज्ञान की भावना बढ़ेगी तब परिपूर्ण एक निर्णय बन जावेगा कि मैं तो वह हूँ जिसे दूसरा कोई नहीं लखता । उस अमूर्त ज्ञानमात्र मुझ आत्मा का दुनिया में क्या रखा है?

दृश्यमान जगत की मायारूपता व अविश्वास्यता—यह दिखने बाला सारा जगत मायाजाल है । माया-माया तो हर एक कोई कहता, पर माया का वास्तविक लक्षण क्या है, इसका उन्हें पता नहीं । अनेक द्रव्यों के संयोग से बना हुआ ढांचा माया है । जो कुछ दिख रहा वह सब अनेक द्रव्यों के संयोग से बना हुआ ढांचा है यह सब माया है, हम आप भी जो देख रहे वह सब भी माया है । यह भी जीव शरीर और कर्म इन तीन चीजों के संयोग से बना हुआ ढांचा है । इस माया का क्या विश्वास करना और मायाजाल के लिए क्यों कमर कसना? मैं ऐसा ही करुंगा, ऐसी ही मिथ्या हठ न करना, अपने आपके स्वरूप की चर्चा करिये अपने आपके स्वरूप की ओर आइये तो अल्प प्रयास भी बने तो वहाँ भी कुछ शान्ति का अनुभव होता है । और भावना दृढ़ बने, अपने आपके स्वरूप की दृष्टि बने तो उसको विशेष शान्ति मिलेगी । बाह्य पदार्थों में दृष्टि बांधकर सुख शान्ति नहीं मिलती । एक बात यहाँ यह समझना कि जिन चीजों से हमें हटना है वे चीजें है क्या? इसका ब्योरा जाने बिना उनसे हटना कठिन होता है । मुझे क्या हटाना है? विकार रागद्वेषादिक जो भाव चलते हैं । क्रोध, मान, माया, लोभ, भाव बनते हैं । अभिलाषा, इच्छा, प्रतीक्षा के भाव बनते हैं, इन विकारों से हमें हटना है । बात तो यह है सीधी । तो पहले यह तो समझें कि ये विकार बनते किस तरह हैं? और ये विकार बनते किसमें हैं? मुझ जीव में बन रहे हैं । तो कोई भी पदार्थ हो, यदि अकेला है, एक है तो उसमें कभी विकार नहीं जगते । आप दुनिया के उदाहरण ले लो बहुत से । यदि किसी वस्तु में विकार जगा तो समझिये कि उसके साथ कोई प्रतिकूल संयोग है उसका निमित्त पाकर विकार जगा है । मेरे स्वभाव में विकार नहीं है, अर्थात् मैं विकार करने का स्वभाव रखता हूँ ऐसी बात नहीं है । जैसे कि मैं जानने का स्वभाव रखता हूँ, विकार का स्वभाव नहीं रखता और इस तरह भी समझ सकते कि ये विकार अस्थिर होते हैं मिटते हैं, विषम हैं, स्वभाव तो ऐसा नहीं होता । मिटेगा, विषम होगा यह स्वभाव का लक्षण नहीं हैं । क्रोध आया, मिटा, मान आया-मिटा, माया आया-मिटा, लोभ, आया-मिटा, यों कितने ही विकार आते और मिटते, मगर ज्ञान सदा साथ चलता है । ज्ञानस्वभाव की बात तो और भी स्वभावरूप से शाश्वत मालूम पड़ेगी ।

जीव में विकार जगने के कारणों का दिग्दर्शन—यहां तीन कारण समझिये—जो हम आप में ये विकार जगते हैं । जिन में खोटी प्रवृत्ति बन रही है वहाँ तीन कारण है । प्रथम तो उपादान कारण, जिसमें विकार परिणाम बना वह है यह जीव, दूसरा निमित्त कारण वह है उस प्रकृति का उदय और जगत के जितने ये पदार्थ है इन्हें निमित्त कहते तो हैं पर ये निमित्त कारण नहीं कहलाते, ये कहलाते है आश्रयभूत कारण । स्पष्ट ज्ञान के लिए ये शब्द रखो । आश्रयभूत कारण के प्रति व्यवहार जरूर है निमित्त कहने का, पर उनमें यदि भेद न समझा तो इस निमित्त कारण का उदाहरण देकर कि वेश्या को देखा मुनिमहाराज ने और उनके विकार के भाव न जगे तो निमित्त कुछ तो न रहा । वह तो आश्रयभूत कारण है । निमित्तकारण तो मुनिमहाराज का उन कषायों का क्षयोपशम है जिसके अनुसार उनके वैराग्यरूप भाव हुए । और वेश्या को निरखकर इसने व्यर्थ ही जीवन खोया, ऐसा भाव बन सकता है पर काम के भाव नहीं बन सकते । और कामी पुरुष देखता है तो उसकी काम के भाव बनते हैं । तो वहाँ पर वेश्या आश्रय भूत है और निमित्त कारण उसके वेद आदिक का तीव्र उदय है ।

तो निमित्त में और आश्रयभूत कारण में अन्तर जानना । निमित्त कारण केवल कर्मप्रकृति का उदय चलेगा विकार में और आश्रय भूत कारण दुनिया भर के ये सारे विषय साधन हैं । तो जीव जब आश्रय भूत कारण पर दृष्टि गड़ाकर उन्हें अपनाकर उनका आश्रय लेकर विकार करता है वहाँ तो तीन कारण आ गये ना, सो वे व्यक्त विकार हैं और कभी ऐसा होता है तो आश्रयभूत कारण का आलम्बन नहीं ले रहा । मान लो मंदिर में बैठे, पूजा कर रहे, जाप कर रहे, सामायिक कर रहे, स्वाध्याय कर रहे तो उस समय उन कषायों का उदय तो नहीं चल रहा । मगर सत्ता में बैठे हैं । हमारा उपयोग उन कषाय के आश्रय भूत कारणों मे नहीं हैं इसलिए वे अव्यक्त होकर चले आ रहे हैं, पर फल जरूर मिलता है । तो तीन कारणों की बात जाने ।

विकार मेटने के लिए चरणानुयोग की विधि से आत्मनियन्त्रण की उपयोगिता—आप विकार मिटाने के लिए क्या रचेंगे? तो चरणानुयोग के अनुसार आप यह उपाय रचेंगे कि इन आश्रयभूत कारणों को हटावो । यद्यपि इन आश्रयभूत कारणों को त्यागने पर भी यह नियम नहीं है कि भीतर की कषाय दूर हो जाय, किन्तु जब तक बहुत समय तक नहीं रहते सामने, त्याग दिये जायें किसी भी प्रकार से तो रही सही कषायों में फर्क आ जाता है एक बात, दूसरी बात—जिसके वैराग्य जगा है वह कैसे यह कर सकेगा कि इन विषयभोग के साधनों को पकड़े रहे? यह ना बन पायगा, वह त्याग देता है । तो आश्रयभूत कारणों का त्याग करने की मुख्यता चरणानुयोग में सब वर्णन है । किस-किस प्रकार से व्रत करना, त्याग करना, कैसे-कैसे प्रतिभावों में बढ़ना । अच्छा तो इतने ही मात्र से अभी मार्ग कल्याण का नहीं बना । वह सहायक रहा, पर उसके लिए क्या करना कि अविकार तो आत्मस्वरूप है उस स्वरूप के ध्यान में अधिक रहना, जिसके प्रताप से इन विकारों में अन्तर होगा, कर्म का क्षयोपशम सी होगा, पर इन बाह्य प्रसंगों को त्यागकर अपने को एक मात्र बनाकर, सुरक्षित रखकर अन्दर में एक ज्ञानस्वभाव की उपासना करें और ऐसा भाव बने कि यह मैं आत्मा एक चैतन्यमात्र हूँ । स्वरूप दृष्टि करके भीतर में स्वभाव की भावना बने, बढ़े वह है हमारा पौरुष जिसके बल से हम मोक्षमार्ग में आगे बढ़ते हैं । ऐसी बात जानकर ऐसा निर्णय करें कि मेरे में जो विकार जगते हैं सो वे विकार क्या चीज हैं कि कर्मों में अनुभाग पड़ा है । उस कर्म प्रकृति का उदय आया है उसका प्रतिफलन आत्मउपयोग में आया है और इसने अपनी सुध भूलकर उस आक्रमण के समय में उस प्रतिफलन को अपनाया है और तब यह मैं क्रोधी हूँ, मानी हूँ, मायावी हूँ, लोभी हूँ, ऐसा भीतर में अनुभव करता है । भेद विज्ञान करना किसी स्वभाव में और विभाव में रुचि करना, भेद विज्ञान करना । ये धन वैभव मकान आदिक मैं नहीं हूँ ये मेरे नहीं है ये प्रकट भिन्न हैं, जुदे क्षेत्र में पड़े हैं, सब स्पष्ट मालूम होता है । हां मोही जीव ऐसे स्पष्ट भिन्न पदार्थों में भी लगाव रखते हैं कि ये मेरे हैं, इनसे ही मेरी महिमा है । उनके सम्पर्क में रहकर अपने आप में शान का अनुभव करता है, पर विवेक करना ही होगा । अनन्त भव प्राप्त किए विवेक बिना अनन्तभव गुजारा और अब तक जन्ममरण करते आये । यह सब भी उसी पुरानी पद्धति में बिता दिया तो इस-इस दुर्लभ मानव जीवन को पाकर क्या लाभ पाया? मान लो यहाँ से मरकर कुत्ता, बिल्ली, गधा, सूकर, मुर्गा-मुर्गी आदि बन गए या कीट पतिंगा बन गए तो फिर आगे उठने का मौका कैसे सिल पायगा? तो इस जीवन को भोग साधनों में बिताने से कुछ हित नहीं है ।

भोगसाथनप्रसंगो की दुःखरूपता—ये भोग साधन साक्षात् दुःखरूप हैं । कोई सा भी भोग साधन का प्रसंग ले

लीजिए वहाँ शान्ति न मिलेगी । किसी भी भोग विषय के प्रसंग में शान्ति नहीं है, हाँ सुख लिए हुए हैं । शान्ति और सुख में अन्तर है । शब्द के अनुसार देखिये-ख मायने इन्द्रिय और सु मायने सुहावना लगना जो बात इन्द्रिय को सुहाये वह है सुख और शान्ति मायने शमन । किसी भी प्रकार के कषाय का क्षोभ! जहाँ उदय में नहीं है ऐसी स्थिति को कहते हैं शान्ति । तो जैसे दुख हेय है ऐसे ही सुख भी हेय है, यह बात जब तक ध्यान में न आये तब तक इस चलती आ रही चक्र प्रवृतियों में अन्तर नहीं आ सकता । हम पाप हिंसा आदिक करते है तो मिथ्यात्व से अज्ञानवश होकर करते हैं और उनमें प्रयोजन बनता है विषय भोगों में । अंदाज़ बनाओ—स्पर्शन इन्द्रिय के विषयों को अनेक बार भोगा, संचय किया उस समय वहाँ सुख माना पर आज इस समय इतनी उम्र होने पर भी आपके पास सुख जुड़ पाया है क्या? अरे जुड़ने की बात तो दूर रही, उल्टे तृष्णा बढ़ गई ज्ञान बल खत्म हो गया । मनोबल, वचनबल, कायबल भी न रहा उल्टे हानि पायी अच्छा रसना इन्द्रिय के विषय सेवन में बताओ खूब स्वाद के लम्पटी होकर, सुख माना वह सुख कुछ अब तक जुड़ सका क्या? विषयों के भोगने में विषयों का बल घटता है । जैसे कि कामसेवन में शरीर का बल जो एक मूल धातु है उसके बरबाद होने में ही सुख मानते हैं शारीरिक शक्ति खतम होती, मनोबल भी बिगड़ता, वचनबल भी बिगड़ता और उनमें मान रहा है यह जीव सुख । बरबादी में सुख मान रहा है मूल बात है संसारी जीव की यह हालत है और ऐसा अज्ञान छाया है कि उससे हटना नहीं चाहते । घ्राणेन्द्रिय चक्षुइन्द्रिय आदिक सभी की यह बात है । खूब सुगंध में रमते जा रहे हैं पर इतने जीवन में कितना सुगंध का सुख जोड़ लिया सो तो बताओ? रूप को देखकर आँखों को कमजोर किया । सिनेमा देखकर रात-रात जागकर समय गंवाया अर्थात् मानसिक बल खोया कौन सा लाभ मिला? राग रागनी के शब्द, यश प्रतिष्ठा के शब्द सुन-सुन कर कौन सी बड़ी विभूति प्राप्त कर ली?

विषयों में रमणकर दुर्लभ नरजन्म को निरर्थक करने की दुश्चेष्टा—अहो ज्ञानमात्र आत्मन् । कुछ अपने आप पर करुणा करके विचार तो करो कि इन बाह्यइन्द्रियों के साधनों में रमकर कौन सी अपनी उन्नति करते हो? कोई किसी का मददगार नहीं है । जो मोह और विश्वास लगाया है कि यह मेरा लड़का है इसको इतना ऊँचा बनाना है, यह मुझे आनन्द देगा मेरे बुढ़ापे में यह मेरा मददगार होगा । अरे आपका पुण्योदय है तो लड़के नहीं तो पड़ोसी मददगार बन जायेंगे, या अन्य धर्मात्मा लोग मददगार बन जायेंगे मगर उसमें कारण आपका पुण्य है । देखिये—पाप का उदय और पापभाव, इन दोनों में बहुत अन्तर है । पाप का उदय इस जीव का बिगाड़ न करेगा मगर पापभाव में रहना यह जीव का बिगाड़ करेगा । बड़े-बड़े महापुरुष सुकुमाल सुकौशल आदि हुए जिनको गीदड़ी चीथा, आग से जलाये गए शरीर को चाकू से छीला गया, यों बड़े-बड़े कष्ट उन महापुरुषों पर आये पर उस समय उनके पापभाव न था, पापकर्म का उदय था । पापभाव होने के कारण पाप के उदय की स्थिति में उनके विकास में रंच भी बाधा न हुई । इसी तरह पुण्योदय और पुण्य इन दोनों में अन्तर है । पुण्योदय होने पर भी कोई पुण्यात्मा रहे यह नियम तो नहीं । किसी के पास बड़ा ठाट बाट है मगर वह मांसभक्षी है, शराबखोर, है पापी है, अन्यायी, दुराचारी है । तो देखिये—है तो वह पापात्मा मगर उसके पुण्य का उदय चल रहा है । तो यह ध्यान में रखें कि जो भी स्थिति आयेगी उसी में अपना गुजारा कर लूंगा

पर मैं अपने ज्ञान के बल से सर्वत्र मार्ग निकालूंगा । अपने आपके सम्मुख होकर शान्ति पाऊंगा, ऐसी मेरे अन्दर कला है । उसका प्रयोग मैं कर लूंगा । बाह्य पदार्थों पर मेरा कुछ अधिकार नहीं है ये होते हैं पुण्य पाप के उदय के अनुसार सो जैसा होता हो, बाह्य में अपना उपयोग अधिक नहीं फंसाना है । हां गृहस्थी में रह रहे तो कर्तव्य है दुकान धंधा काम काज आदिक करना, वहाँ तो लाभ हानि की बातें चलती हैं मगर अपनी ज्ञानकला को जागृत करें मैं सर्वत्र सही ढंग से गुजारा कर सकता हूँ । उस पर विश्वास रखें, बाह्य भोग साधन भोगे, इन विषय प्रसंगों में प्रवृति न रखें यह ही अपने आत्मा की दया है, अन्यथा जैसे अनेक जीवन खोये वैसे ही यह जीवन भी खो दिया जायगा तो यह भी उन्हीं अनन्त भवों में शामिल हो जायगा । एक-एक करके जुड़-जुड़ कर तो अनन्त भव अब तक पाये और अनन्तकाल है तो हम किसी न किसी दशा में रहेंगे ही ।

सहज निजस्वरूप के आश्रय से ही शान्ति का लाभ—अब आप यह बताओ कि आप किस दशा में रहना चाहते? अगर शान्ति चाहिये तो शान्ति मिलती है । केवल स्व आत्मा के आश्रय में, पर पदार्थ के आश्रय में शान्ति नहीं मिलती और सिद्ध भगवान भी क्या हैं? केवल आत्मा ही आत्मा रह गए, शरीर और कर्म का वियोग हो गया, वही सिद्ध भगवान हैं जिनकी हम आराधना करते है । तो यह स्थिति यदि पाना है तो अभी भी अपने में अपने केवल स्वरूप को निरखिये कि मैं क्या हूँ कोई पिण्ड रूप मैं नहीं हूँ जो किसी के द्वारा कहीं से कहीं उठाया धरा जा सकूं । मैं - ज्ञानस्वरूप हूँ । मेरे ये समस्त प्रदेश ज्ञानमय हैं । इसे बनाया किसने? स्वयं सत् हैं पर अपने स्वरूप को भूलने के कारण, परस्वरूप को अपनाने के कारण इस स्वयं का ज्ञान नहीं । यह विकार स्वयं नहीं हुआ, कर्मोदय का निमित्त पाकर हुआ । अगर यह बात स्वयं हुई होती निमित्त के बिना तो यह फिर कभी मिट ही नहीं सकता । जो बात निमित्तोदयक्षयोपशमादि बिना एक ही पदार्थ के उस केवल से ही बन रहा वह चीज कभी मिटती नहीं । धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, सिद्ध भगवान उदाहरण में देख लीजिए-जो केवल रह गया उसके परिणाम विकाररूप नहीं बनते । तो ये मुझ में जो विकार हैं तो ये भी नैमित्तिक हैं । ये भी परभाव हैं, ये मेरे नहीं हैं । निमित्त का परिचय करना निमित्त और नैमित्तिक से हटने के लिए होता है । कहीं उस निमित्त नैमित्तिक को सोचकर चर्चा करना उन पर बंधने के लिए नहीं होता किन्तु निमित्त से भी हटने के लिए होता है । कैसे हटना? यह जानकर कि ये मेरे स्वभावभूत नहीं हैं किन्तु पर का निमित्त पाकर हुए हैं । परभाव है, ये मेरी वस्तु नहीं । खूब स्पष्ट जानते है लोग कि दर्पण में बाहरी पदार्थो की फोटो आती है । सब कोई समझते है कि ये द्रव्य स्वभाव से ही दर्पण में प्रतिबिम्बरूप से दर्पण आने पर नहीं बने, वह तो दर्पण में इस प्रकार की योग्यता होती है कि उन वस्तुओं का प्रतिबिम्ब दर्पण में आ जाता । वह प्रतिबिम्ब बाह्य पदार्थो की परिणति नहीं है किन्तु दर्पण की उस रूप परिणति है क्योंकि बाह्यपदार्थ तो ज्यों का त्यों बाहर पड़े हैं, पर निमित्त नैमित्तिक भाव हैं ऐसा कि बाह्यपदार्थों का सन्निधान पाकर दर्पण उन रूप परिणम गया । सब लोग जानते हैं और ऐसा बोलते भी हैं कि बाह्यपदार्थों की वह प्रतिबिम्बरूप परिणति नहीं है किन्तु दर्पण की है तो ऐसे ही हमारे आत्मा के उपयोग में ये कर्मोदय का सन्निधान पाकर विकार बने है । ये विकार मेरे स्वभाव के निकले हुए नहीं है । मेरा परिणमन होने पर भी स्वभाव से हुए नहीं इसलिए उनकी उपेक्षा की जा सकती है । और अपने जाननमात्र ज्ञानस्वरूप स्वभाव की भावना बनाकर उनसे हटकर यहाँ लगा जा सकता है । यह ही

तो पौरुष करना है ।

अपने को पर व परभावों से विविक्त परखने का मुख्य कर्तव्य—अपने को धन वैभव आदिक से निराला, शरीर से निराला, कर्मों से निराला और कर्मोदयजनित विकार से निराला ज्ञानमात्र स्वरूप में निरखने का अभ्यास करना चाहिये । यह ही अभ्यास जैसा हमारा सुदृढ़ होगा वैसा हम अंतस्तत्त्व के ध्यान में बढ़ सकेंगे और व्यर्थ का जो ये जंजाल है यह सब छूट जायगा । इसके लगाव में लाभ क्या मिलेगा? यह जीव अकेला ही मरकर जायगा । जैसे पापभाव किया है, जैसा बंध किया है वैसे कर्म भी इसके साथ जायेंगे । और वहाँ यह जीव वैसा फल पायगा । तो हम अनेक उपायों ये प्रभुभक्ति, सामायिक, स्वाध्याय, आत्मचर्चा? सत्संग आदि सर्व कुछ समागम करके अपना सर्वस्व भी समर्पण करके जिसको माना है अपना सर्वस्व उसी को त्यागकर यदि मेरे को इस आत्मस्वरूप का प्रकाश मिलता है तो समझिये कि सब कुछ मिल गया और खोया कुछ नहीं । और एक आत्मस्वरूप का भान नहीं हो पाता है तो चाहे बड़ा राजपाट मिले, बड़े-बड़े वैभव मिलें पर कुछ नहीं पाया समझिये । इससे मिथ्यात्व को दूर कर हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह से विरल होकर आत्मसाधना के लक्ष्य से आपने जीवन को बनायें तो इस जीवन की सफलता है ।

श्लोक 28

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम् ।
देवा देवं विदुर्भस्मणूढाङ्गारान्तरौजसम् ।।२८।।

सम्यक्त्व तेज की प्रशंसा—जों जीव सम्यग्दर्शन से सम्पन्न है वह चाहे चाण्डाल के देह से भी उत्पन्न हुआ हो तो भी गणधरदेव उसे देव कहते है । यहाँ देव के मायने अरहंत सिद्ध नहीं, देव के मायने स्वर्ग के देव नहीं, किन्तु अपने आपके स्वरूप में रमण करने का प्रयत्न करने वाला उच्च आत्मा । यद्यपि वह चाण्डाल है तो भी आत्मा में स्वरूप का प्रकाश है तो अन्त: वह विशुद्ध है । जैसे राख के भीतर अंगारा ऊपर से कुछ नहीं विदित होता, भस्म है, पर उस अंगारे में स्वयं जों तेज है वह तो है ही ऐसे ही चाण्डाल के शरीर में है वह सम्यग्दृष्टि आत्मा तो भी भीतर में वह तो सही है, सम्यग्दृष्टि है । देह तो सभी मल मूत्रादिक महा अपवित्र चीजों से भरा हुआ है । उच्च कुल का जो देह है सो वह भी मलमूत्रादिक से भरा है और नीचकुल का जो देह है सो वह भी मूत्रादिक से भरा है । पूर्वभव में उत्तम आचरण के प्रताप से एक को उच्चकुल मिला है और नीच आचरण के प्रताप से एक को नीचकुल मिला है सो यद्यपि थोड़ा अन्तर है उच्च कुल में और नीच कुल में पर वह अन्तर सम्यग्दर्शन के लिए कुछ अन्तर नहीं है । उच्च चारित्रपालन के लिए भले ही कुछ अन्तर आये पर दोनों के सम्यक्त्व में कोई अन्तर नहीं है । चाण्डाल की तो बात क्या चारों गतियों के जीवों को एक जैसा सम्यक्त्व हो सकता है । नरकगति में तो नीचगोत्र का ही उदय है पर सम्यक्त्व उन जीवों को भी उत्पन्न होता हैं । सम्यक्त्व में अपने सहज स्वरूप की प्रतीति रहती है । मैं स्वयं वास्तव में क्या हूँ, अपने सत्त्व से मैं स्वयं क्या हूँ उस स्वरूप की प्रतीति रहती है । मैं हूँ यह सहज ज्ञानस्वभावमात्र, जिसकी वृत्ति में जानन चला करता है । देखिये जो जानन चल रहा है, पदार्थ जाने जा रहे हैं यह जानना भी इस ज्ञानी के लक्ष्य में नहीं है । इतने मात्र मैं हूँ

ऐसी उसकी प्रतीति नहीं है, किन्तु जानना कितने ही चलते रहे उन जाननों की जो शक्ति है, स्वभाव है स्वरूप है उस रूप आपने आपको अनुभवता है यह ज्ञानी ।

सम्यग्दृष्टि का प्रथम परिचायक चिह्न संवेग—जिस जीव को सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ है उसमें ८ गुण ऐसे प्रकट होते हैं जिनसे सम्यग्दृष्टि का परिचय बना करता है । उन ८ गुणों में १ प्रथम गुण है संवेग । सम्यग्दृष्टि का धर्म में अनुराग रहता है । मिथ्यादृष्टि का अनुराग बाह्य वैभव में, स्त्री, पुत्रादिक परिजनों में, पञ्चेन्द्रिय के विषयसाधनों में विषय भोगों की प्रीति में रहा करता है किन्तु सम्यग्दृष्टि का अनुराग धर्म में रहता है । धर्म में अनुराग, धर्म के साधनों में अनुराग, धर्मात्मा जीवों में अनुराग । जो जिसका इच्छुक होता है उसको उससे सम्बन्धित पदार्थों में अनुराग रहा करता है । चूंकि उस ज्ञानी जीव ने आपने आत्मा के धर्म को सहजस्वरूप को अनुभवा है और उसमें अलौकिक आनन्द पाया है इसलिए उसकी धुन इस ही धर्म के प्रति रहा करती है । मैं अपने चैतन्यस्वभाव में ही उपयोग रखे रहूं इस ही में संतोष पाऊँ ऐसी भावना सम्यग्दृष्टि जीव के होती है क्योंकि उसे स्वपर का भेद विज्ञान दृढ़ हुआ है । जगत में सभी पदार्थ अपनी-अपनी सत्ता लिए हुए हैं । घर में जितने जीव पाये जाते हैं माता-पिता, स्त्रीपुत्रादिक वे सग आत्मा अपना-अपना सत्त्व लिए हुए है एक के सत्व से दूसरे का सत्त्व अत्यन्त पृथक् हैं ।

मुझ आत्मा में अन्य समस्त चेतन व अचेतन द्रव्यों का अत्यन्ताभाव-चार प्रकार के अभाव बताये गए हैं—(१) प्रागभाव (२) प्रध्वंसाभाव (३) अन्योन्याभाव और (४) अत्यन्ताभाव । (१) प्रागभाव उसे कहते हैं कि जिसमें काम होना है उस काम के होने से पहले उसका अभाव हो । जैसे कोई घड़ा बना रहा तो घड़ा बनने से पहले उसकी समस्त अवस्थावों में घड़े का अभाव है । और अभाव दूसरे के सद्भाव रूप हुआ करता है । तो घड़े का प्रागभाव कहलाता है जो घड़ा बनने से पूर्व की सारी अवस्थायें हैं । (२) प्रध्वंसाभाव—घड़े के नष्ट होने पर घड़े का अभाव हो गया, खपरियाँ बन गई, फूट गया घड़ा तो खपरियाँ बन गई तो घड़े का विनाश होने पर जो घड़े का अभाव है वह खपरियों रूप पड़ता है इस कारण घड़े का प्रध्वंसाभाव खपरियां है । (३) अन्योन्याभाव—जो पर्यायें आगे पीछे हो सकती हैं उनका एक समय में एक का दूसरे में अभाव है । जैसे पुद्गल स्कंध है, आज यह घड़ा बनता है तो यह पुद्गल स्कंध कभी कपड़ा बन सकता है । घड़ा फूट गया, खपरियां हो गई, चूरा हो गया, खेत में गिर गया, कपास वहाँ बोया हुआ है तो वे चूरा के परमाणु स्कंध उस कपास में आ गए तो वे रूई रूप बन गए, उनसे कपड़ा बन गया, मगर जिस समय घट है उस समय वह कपड़ा नहीं है । घड़े में कपड़े का अभाव है, कपड़े में घड़े का अभाव है, पर कभी कपड़ा घड़ा बन सकता है और घड़ा कभी कपड़ा बन सकता है । कपड़ा सड़ गया मिट्टी में मिल गया और उस मिट्टी का घड़ा बन गया । तो कभी कपड़ा घड़ा बन सकता मगर उस समय याने जिस समय कपड़ा है उस समय घड़े का अभाव है यह कहलाता है अन्योन्याभाव । (४) अत्यन्ताभाव—-एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में त्रिकाल में सद्भाव नहीं हो सकना यह कहलाता है अत्यन्ताभाव । तो अब आप समझ लीजिए कि आपके घर में जितने जीव है वे सब परद्रव्य है । आप अलग द्रव्य हैं आपके घर के जीव अलग द्रव्य हैं । उनका आप से क्या संबंध? जिन जीवों में आपका चित्त बस रहा, जिन्हें आप अपना सर्वस्व समझ रहे, जिनसे आप अपना बड़प्पन मान रहे जिनसे आप भारी मोह कर रहे उनके प्रति जरा

विवेक पूर्वक विचार तो करो, वे आपके कैसे क्या लग सकते हैं जबकि अत्यन्ताभाव है । आपके आत्मा में उनका अत्यन्ताभाव है । न वे आप में थे न अब हैं और न आप में आगे आयेंगे । बिल्कुल जुदे प्रदेश हैं आपके भिन्न प्रदेश, उनके भिन्न प्रदेश । आपका परिणमन निराला, उनका परिणमन निराला, फिर वे आपके कुछ कैसे हो सकते हैं? कुछ भी नहीं । उनका आप में अत्यन्ताभाव है । तो ऐसे अत्यन्ताभाव वाले पदार्थों में मोह न जगे सही ज्ञानप्रकाश बना रहे कि सब बिल्कुल जुदे-जुदे पदार्थ हैं । जैसे जगत के सब जीव मुझ से अत्यन्त जुदे हैं ऐसे ही जुदे खुद के घर के जीव हैं ।

स्वपरभेदविज्ञान होने पर मोक्षमार्ग के प्रारम्भ की संभवता—देखिये मोक्षमार्ग और संसार का मौज ये दोनों एक साथ नहीं हो सकते । संसार का मौज है विकृत, कर्मोदय से उत्पन्न हुआ, कलंक, आपत्तियों का घर, और आगे भी सदा धोखा, संसार में रुलते रहना उसका फल है । तो संसार विषयों का मौज यह भंयकर संगम है उसकी यथार्थता जानकर मोक्षमार्ग में प्रीति होनी चाहिये । मोक्षमार्ग सर्वप्रथम स्वपर भेदविज्ञान से प्रारम्भ होता है । स्व और पर का यथार्थ स्वरूप जानें । स्व मायने क्या? पर मायने क्या? इसमें भी बहुत सावधानी वर्तनी है । वैसे सामान्यतया सीधा अर्थ है—स्व मायने मैं आत्मा और पर मायने ये बाहर में रहने वाले धन वैभव स्त्री पुत्रादिक पदार्थ पर स्व और पर का इतना अर्थ समझ लेने भर से काम नहीं चलता । जो बाह्य पदार्थ हैं, भिन्न प्रदेशी हैं, निराले हैं वे तो तीन काल में भी मेरे हो नहीं सकते । जैसे धन, वैभव, मकान, स्त्री, पुत्रादिक ये सब तो प्रकट भिन्न परपदार्थ हैं ही, इनका मुझ में अत्यन्ताभाव है । ये सब मेरे न कभी हुए न आज मेरे हैं और न कभी मेरे हो सकेंगे । अब आगे देखिये—जो कर्म पहले बांधे हैं वे यद्यपि भिन्न अस्तित्त्व वाले हैं फिर भी आत्मा के साथ बंधे हैं । यह सब निमित्त नैमित्तिक बंधन है कहीं रस्सी की तरह बंधना नहीं है कि जैसे एक रस्सी से दूसरी रस्सी को बांध दिया जाय ऐसा बंधन नहीं है आत्मा और कर्म का । वे रह रहे हैं आत्मा के ही क्षेत्र में और भव छोड़ने पर ये कर्म आत्मा के साथ जायेंगे । इतने पर भी जीव के साथ कर्म का पुद्गल की तरह बंधन नहीं बना । निमित्त नैमित्तिक की प्रधानता से बंधन बना ।

परभाव से स्व की विविक्तता—कर्म जो बंधे थे उनका जो उदयकाल आया, मायने कर्म में जो अनुभाग है फल शक्ति है वह जब प्रकट हुई जो जीव में प्रतिफलन हुआ, क्रोध प्रकृति का उदय होने पर जीव में क्रोध आया और उस प्रतिबिम्ब प्रतिफलन क्रोध छाया को इस उपयोग ने अपने में मिला जुला माना मैं यह हूँ । जैसे दर्पण में फोटो आया और दर्पण ही उस फोटो को अपना मान ले यद्यपि वह अचेतन मान नहीं सकता फिर भी एक अंदाजा करा रहे ऐसे ही मुझ में कर्म विपाक का प्रतिफलन हुआ और मैं उसे अपना लूं तो यह हुई कर्मप्रकृति । अब यह भिन्न प्रदेश वाला न रहा । ये आत्मा के प्रदेश में हैं रागद्वेष लेकिन ये रागद्वेष परभाव है क्योंकि ये रागद्वेष के भाव मेरे में मेरे स्वभाव से नहीं प्रकट हो पाते, ये कर्मोदय का सान्निध्य पाकर बना करते हैं । जैसे दर्पण में हाथ का फोटो आया तो जो दर्पण में फोटो आया है वह तो दर्पण की चीज है, दर्पण की परिणति है मगर दर्पण में अपने आप अपने ही स्वभाव से नहीं आयी है उसकी परिणति । उसकी योग्यता से फोटो आयी मगर सामने हाथ का निमित्त पाकर आयी, इस करण फोटो परभाव है इस बात को हर एक कोई जानता है और यह भी निर्दोष दर्पण में से यदि फोटो को मिटाना है तो हाथ को हटा दीजिए, वह फोटो

मिट जायगी, ऐसे ही दर्पण की तरह समझिये अपने आत्मा और हाथ आदिक की तरह समझिये उदय में आये हुए कर्म । सो जैसा हाथ में आकार है उस अनुरूप दर्पण में फोटो आ रही है । तो ऐसे ही उदय में आये हुए कर्म का जैसा विपाक है वैसा ही जीव में वह विपाक झलका और जीव ने मान लिया कि यह मैं हूँ तो यह जो विभाव परिणति है यह यद्यपि भिन्न प्रदेश नहीं है तो भी औपाधिक होने से निमित्त पाकर होने से, ये परभाव कहलाते हैं । परभावों को पर में शामिल करें, यह मैं स्व नहीं हूँ ।

ज्ञानवृत्तियाँ और स्वभाव का विवेक—अच्छा अब इससे और भीतर चलो रागद्वेषमोह ये तो परभाव है, कलंक है, मगर जो भीतर ज्ञान जगता है, सब कुछ जानना होता है यह तो पर न होगा । यह तो मेरे ज्ञान की परिणति है । सो यहाँ भी विचारें कि जो कुछ छुटपुट ज्ञान वहाँ बन रहा वह है यद्यपि आत्मा के ज्ञान का परिणमन, किन्तु यह भी नैमित्तिक है । क्षायोपशमिक है । इस ज्ञान का आवरण करने वाले जो कर्म हैं उन कर्मों का क्षयोपशम जैसा होता है उस अनुकूल थोड़ा प्रकट होता है । तो जो हम लोगों में ज्ञान बन रहा है वह ज्ञान क्षायोपशमिक है इसलिए वह मैं स्व नहीं हूँ । अब और भीतर चलो—यदि ये छुटपुट ज्ञान क्षायोपशमिक है और मैं स्व नहीं हूँ तो जब केवलज्ञान जगेगा, पूरा ज्ञान बनेगा तो वह पूरा ज्ञान तो कहलायगा, उसकी भी बात सोचिये—यदि केवलज्ञान स्व है तो केवलज्ञान होने से पहले स्व नहीं है यह समझना चाहिये, याने मेरी सत्ता ही न रही, मैं कुछ रहा ही नहीं तो केवलज्ञान भी स्व नहीं है, किन्तु केवलज्ञान एक स्वाभाविक पर्याय है । जैसा मैं स्व हूँ उसके अनुरूप परिणमन है । तो मैं स्व क्या हूँ कि जिस धातु से, जिस तत्त्व से ये सब ज्ञान प्रकट होते रहते हैं वह चैतन्यस्वभाव मैं हूँ । वह चैतन्यस्वरूप स्व है और उसके अतिरिक्त सभी पर्यायें गुण भेद सभी कल्पनायें ये सब पर हैं इस स्व का अनुभव किया है ज्ञानी जीव ने । धन्य हैं वे क्षण जबकि बाहरी पर और परभावों के विकल्प से हटकर जीव परम विश्राम में आकर अपने में अपने सहज स्वभाव की अनुभूति करता है । यह है आत्मा का असली धन जो कि इस जीव को संसार के संकटों से छुटायगा । तो सम्यक्त्व एक महान वैभव है ।

स्व में स्व की घटना के दर्शन का प्रभाव—भजनों में सम्यग्दर्शन की महिमा बहुत गायी जाती है । वह सम्यग्दर्शन प्राप्त कैसे होता? वह कहीं खरीदने से न मिलेगा, शास्त्र ज्ञान करने मात्र से भी नहीं मिलता । यद्यपि ज्ञान किये बिना ज्ञान नहीं आता, यह बात सही है मगर जो हम पढ़ते लिखते है, जो जानकारी बनाते हैं इतने मात्र से सम्यक्त्व नहीं होता, किन्तु कुछ भीतरी प्रयोग करना पड़ता है तब सम्यक्त्व हुआ करता है । वह प्रयोग क्या है? जैसा का तैसा अपने में निरखने का पौरुष करना, यह है वह पुरुषार्थ कि जिसके प्रताप से सम्यक्त्व होता है । थोड़ा भी ज्ञान होने पर अपने आप पर घटित किया जा रहा हो तो उस ज्ञान से सम्यक्त्व जग जायगा । बहुत भी ज्ञान कर लिया हो व्याकरण, न्याय, साहित्य, छंद, ज्योतिष आदिक, अनेक विद्यायें जान लिया हो, पर अपने आपके स्वरूप को, अपने आपकी बात को अपने आप पर घटित नहीं किया जा सक रहा हो तो उस ज्ञान से सम्यक्त्व नहीं होता । थोड़ा भी ज्ञान हो मगर छल रहित हो, आत्मकल्याण की भावना सहित हो तो वह कार्यकारी है । बहुत भी ज्ञान हो लेकिन छल सहित हो, दुनिया का मैं जानकार हूँ, पंडित हूँ ऐसा बताने के भाव से ही वह ज्ञान किया गया हो तो ऐसे ज्ञान से सम्यक्त्व उत्पन्न न होगा । जैसे किसी

बुढ़िया माँ के दो बेटे थे, उनमें से एक बेटे को कम दिखता था पर सही दिखता था और दूसरे को अधिक दिखता था पर पीला । अब बुढ़िया माँ ने एक ही वैद्य से अपने दोनों बेटों का इलाज कराया । तो वैद्य ने दोनों को एक ही औषधि पीने के लिए बताया । चाँदी के गिलास में मोतीभस्म दूध में मिलाकर पीने के लिए बताया । तो जिस बेटे को थोड़ा दिखता था पर सही दिखता था उसने वह दवा पी लिया और अच्छा भी हो गया, पर अधिक और पीला-पीला, दिखने वाले बेटे ने वह दवा नहीं पिया । वह अपनी माँ पर बहुत चिल्लाया, ऐ माँ क्या मैं ही तेरा दुश्मन मिला वह क्या पीतल के गिलास में हड़ताल डालकर गाय के मूत्र में दवा पिला रही, इसे मैं नही पीता, ऐसा कहकर उसने दवा पीने से इन्कार कर दिया । फल यह हुआ कि उसका रोग ठीक न हो सका । तो ऐसे ही समझलो कि किसी को चाहे थोड़ा ज्ञान हो पर सही हो अपने आप पर घटित किये जाने की विधि से हो तो वह सम्यक्त्व उत्पन्न होने में कारण बनता है और किसी को अधिक ज्ञान हो, पर उसका प्रयोजन मात्र बाहरी-बाहरी बातों के लिए हो तो वह सम्यक्त्व उत्पन्न होने में कारण नहीं बनता । तो भाई जो कुछ हम सुनते हैं उसे अपने आप पर घटित करते जायें । एक अपने आप पर ही दृष्टि रहे । ज्ञानी जीव की बाहरी अनेक दृष्टियां हटी इस कारण उसे शान्ति का अनुभव होता है और बाहरी दृष्टि सब मिट जाये तो अपना आत्मा कहीं न भगेगा । स्वदृष्टि ही बनेगी और इस स्वदृष्टि के प्रताप से अपने आपके सहजस्वरूप का अनुभव बनेगा । यह है सम्यक्त्व उत्पन्न होने की विधि । जिसके सम्यग्दर्शन हुआ है उस पुरुष को धर्म में अनुराग रहता है । उसे अन्य कुछ नहीं सुहाता । ज्ञानी जीव के देह में प्रीति नहीं होती, अन्य बाह्य समागमों में प्रीति नहीं होती, पर मेरा स्वभाव मेरे को दिखे, मेरा वह सामान्यप्रतिभास चैतन्यस्वरूप मेरे उपयोग में सदा बना रहे, यह धुन रहा करती है ज्ञानी जीव की । तो सम्यग्दृष्टि की पहिचान का प्रथम चिह्न है संवेग याने धर्म में अनुराग ।

ज्ञानी का परिचायक द्वितीय चिह्न निर्वेद—दूसरा चिह्न है निर्वेद अर्थात् वैराग्य इस संसार से उसे वैराग्य रहता है । अरे यह संसार क्या है? चतुर्गति में परिभ्रमण करना, जन्ममरण करना, दुःखी होना, रागद्वेष करके आकुल व्याकुल होना, यह है संसार । ऐसे विकट संसार में ज्ञानी जीव को वैराग्य रहता है । वह चाहता है कि इस संसार में अब मैं रुलूँ नहीं, मैं अपने स्वरूप में ही ठहर आज यों उसे इस शरीर से भी वैराग्य है । यह शरीर कृतघ्न है, इसका हम चाव से पालन पोषण करें और यह अपवित्रता फैलाये, दुःख का कारण बने, तो यह शरीर प्रीति के लायक नहीं, इससे विरक्त रहते हैं ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव । इसी प्रकार भोगों से विरक्त रहते हैं ज्ञानी जीव । पंचेन्द्रिय विषय स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द इनके भोगने में उसे ग्लानि है इनके भोगने में समय व्यर्थ खोया जा रहा । इससे आत्मा को कोई लाभ नहीं मिलता बल्कि दुर्गतियों में उत्पन्न होना होता है । तो ज्ञानी जीव को संसार, शरीर भोगों से विरक्ति रहती है यह है इसकी दूसरी पहिचान ।

सम्यग्दृष्टि का तृतीय परिचायक चिह्न आत्मनिन्दा—ज्ञानी की तीसरी पहिचान है कि ज्ञानी जीव आत्मनिन्दा करता है, अपनी कमियाँ निरखता है । मेरे में कलंक है यह रागद्वेष यह परपदार्थों का लगाव, यह मेरे लिए अहितकारी है मेरे में क्यों ये कषायें जगती, मेरा स्वरूप तो अविकार है । मेरे में स्वयं अपने आप ये विकार नहीं हो सकते पर ये विकार बन रहे हैं । नैमित्तिक हैं, ये क्यों हो रहे हैं, ऐसी आत्मनिन्दा करता है, ज्ञानी ।

इस आत्मनिन्दा के प्रसंग में उन कषायभावों से जुदा होकर उपयोग में केवल सहजज्ञानस्वभाव को ही लिया तो इस जीव को वहाँ अलौकिक आनन्द जगता है । ज्ञानी जीव के गर्व नहीं रहता । जो ज्ञान पाया है वह कुछ नहीं पाया, क्योंकि वह जानता है कि केवल ज्ञान कितना विशाल ज्ञान है । उस केवलज्ञान के सामने यह मेरा आज का प्राप्त ज्ञान क्या कीमत रखता । ज्ञानी पुरुष जानता है कि द्वादशांग का ज्ञान कितना अद्भुत अलौकिक, अचिन्त्य ज्ञान है, उसके आगे मेरे इस थोड़े से ज्ञान की क्या कीमत । मन:पर्ययज्ञान भी यद्यपि केवलज्ञान की अपेक्षा बहुत कम ज्ञान है फिर भी उस मन:पर्ययज्ञान के आगे मेरा ज्ञान कुछ नहीं है । अवधिज्ञान का कितना बड़ा विषय है, उसके आगे मेरा ज्ञान कुछ नहीं है । मैने जो कुछ पाया है शरीर का रूप बल आदिक ये सब अत्यन्त बाहरी बातें हैं, पर उनका जो ज्ञान बनता है वह भी अत्यन्त अल्प है यों अपने दोष देखता है ज्ञानी, उन दोषों को दूर करने का प्रयास करता है इस कारण सदैव वह अपनी निन्दा में रहता है । मैं कुछ नहीं हूँ, कैसे मैं आगे बढ़ूं, यों वह आत्मनिन्दा करता है, यह है सम्यग्दृष्टि की पहिचान । जिसको सम्यक्त्व होता वह नियम से मोक्ष जायगा, सो भाई हर एक उपाय से सम्यक्त्व की प्राप्ति करो जिससे अपने आत्मा का उद्धार हो ।

सम्यग्दृष्टि के वर्णित तीन चिह्नों पुन: स्मरण—सम्यग्दृष्टि जीव का कैसे परिचय हमें मिले उस प्रसंग की बात चल रही है । अभी तक यह बताया गया कि सम्यग्दृष्टि को धर्म में अनुराग होता है । सम्यग्दृष्टि को संसार, शरीर, भोगों से वैराग्य होता है और वह अपनी निन्दा बनाये रहता है, जानता है अपने अवगुणों को देखता है । अपने में जो गुण प्रकट हुए उनपर दृष्टि नहीं रखता किन्तु जो अवगुण रह गए उनको निरख-निरखकर जैसे धुनिया छोटी-छोटी पूनी को लेकर धुनता है ऐसे ही ज्ञानी जीव सूक्ष्म से सूक्ष्म विकारों को निरख करके धुनता है । लोक में जो धनिक जन हैं उनको जितना जो कुछ मिला है उस पर वे दृष्टि नहीं रखते, किन्तु जो नहीं मिला है या जितना कि मिलने की आशा है उस पर ही दृष्टि रखते हैं और यही कारण है कि उनको संतोष नहीं होता । जो धन मिला हुआ है उस पर दृष्टि डालें कि मेरे पास तो लाखों की अपेक्षा अधिक धन है, आजीविका ठीक-ठीक चल रही है पर जो मिला है उस पर उनकी दृष्टि नहीं जाती जो धन नहीं मिला है उस पर दृष्टि जाती है । ऐसी ही बात परिजनों के सम्बंध में है । किसी के मानो ४-६ लड़के हैं उनमें मानो एक लड़का गुजर जाय तो जो ५ अभी जीवित हैं उन पर दृष्टि नहीं रहती, एक उस मर जाने वाले पर दृष्टि रहती है । तो ऐसे ही जिसको जिसकी रुचि है उस ढंग से ही उसकी दृष्टि बनती है । सम्यग्ज्ञानी जीव को अपने आत्मा को निर्दोष बनाने की ओर दृष्टि है सो जितने गुण प्रकट हुए हैं वे तो हुए हैं । उनको निरख करके वे संतोष पाले कि मैंने इतना विकास कर लिया । मेरे इतना ज्ञान जग गया, ऐसी दृष्टि नहीं रखते । जो हुआ सो हुआ पर जो दोष रह गए उन दोषों पर दृष्टि है । मुझ में अन्य जीवों के प्रति ईर्ष्या का क्यों भाव हुआ? दूसरे जीवों के किसी काम में विघ्न डालने का मेरे में क्यों भाव होता? मैं दूसरे जीवों को अपने स्वरूप के समान क्यों नहीं समझ पाता? घर के लोगों पर क्यों मेरी अधिक दृष्टि है? जबकि सर्व जीव समान है । या अपने अहिंसा सत्य आदिक व्रतों में दोष लगने पर उस दोष पर दृष्टि होती है । तो यह ज्ञानी जीव आत्मनिन्दा करता है, यह सम्यग्दृष्टि की पहिचान है ।

सम्यग्दृष्टि का चतुर्थ चिह्न गर्हा—चौथा चिह्न है गर्हा । गुरु के समक्ष, ज्ञानी के समक्ष अपने दोष प्रकट करना, उनके समक्ष अपनी निन्दा करना गर्हा कहलाता है । आत्मनिन्दा से गर्हा करना कठिन है । वह तो अपने आप में निरखें कि मुझ में यह दोष है, यह कमी है, उस कमी, को दोष को किसी ज्ञानी के समक्ष कहना, तो उसको अपने दोषों को वचनों से बोलकर जाहिर करना इसमें अधिक साहस की जरूरत है । और साहस क्या? ज्ञानी की धुन । अगर ज्ञानस्वरूप की धुन है तो यह साहस कोई बड़ी चीज नहीं है । वह सब कुछ करने को तैयार है मुक्ति के प्रसंग में । तो सम्यग्दृष्टि का चौथा चिह्न है गर्हा प्रथम तो दूसरे के समक्ष बड़े विनयपूर्वक बैठना ही बहुत कठिन हो गया है । जो ज्ञानी पुरुष है, जिसको अपने ज्ञानस्वरूप की धुन लगी है उस ही में इतनी नम्रता आ सकती है कि विनय करने में संकोच न करें अन्यथा अक्सर थोड़ी भी कला आ जाय, थोड़ा भी ज्ञान जगे तो अज्ञान के कारण, मोह, राग के कारण, वह अपने की बहुत बड़ा मानने लगता है और जहाँ अपने में बड़प्पन का ख्याल आया वहाँ नम्रता, विनय हो ही नहीं सकती है पर नम्रता, विनय के भाव न रहें और अपने पाये हुए ज्ञान पर गर्व हो, बड़प्पन का विकल्प रहता हो तो इसमें बिगाड़ किसका है? किसी दूसरे का बिगाड़ नहीं है । खुद की ही प्रगति रुक गई । जैसे धन का लोभी धन अर्जन के लिए न जाने क्या-क्या कर डालता ऐसे ही ज्ञान का लोभी, ज्ञान का इच्छुक, ज्ञान का धुनिया तत्त्वज्ञानी अपने स्वरूप विकास के लिए क्या-क्या नहीं कर सकता? सो नम्रता, विनय आना और गुरु के समक्ष बैठकर विधिपूर्वक अपने दोषों को जाहिर करना यह है गर्हा ।

सम्यग्दृष्टि का पंचम चिह्न उपशम—सम्यग्दृष्टि का ५वां चिह्न है उपशम । इसे प्रशम भी कहते है ज्ञानी जीव ने अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूप का परिचय किया है । मैं यह हूँ, मुझ में विकार नहीं है । स्वभावदृष्टि कह रहे है सब । स्वभाव को निरखकर ज्ञानी सोच रहा है । इस मुझ सहजस्वभाव में विकार का क्या काम? यह अपने सत्त्व के कारण जो कुछ स्वभाव रख रहा है उसमें अन्य तत्व का प्रवेश नहीं है, ऐसा यह मैं अविकार स्वरूप हूँ । इसका मनन करने वाले ज्ञानी के कर्मविपाकवश कुछ विवशता है तो भी क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय उसके मंद रहती है । कषाय के मंद होने का मुख्य परीक्षण धर्मप्रसंग में बताया गया है । क्रोध तो सभी जगह लोग करते है मगर धर्मप्रसंग में, धर्मव्यवस्था में, धर्मस्थान में, धार्मिक व्यवस्थावों में यदि क्रोध तेज जगता है तो उसे बताया है कि उसके अनन्तानुबंधी क्रोध है । मान लो कोई रथयात्रा का प्रबंध कर रहे तो उसमें पद-पद पर क्रोध करने की क्या बात? महावीर स्वामी की परम्परा से चला आया है यह काम ठीक है कर लीजिए । जितना सहयोग बने सहयोग दीजिए, पर उनके प्रति पद-पद पर क्रोध करने की क्या बात? धर्म प्रसंग में क्रोध आये तो उसे अनन्तानुबंधी क्रोध कहा है । घमंड भी प्राय: मनुष्यों के कुछ-कुछ अंशों में पाया जाता है । मगर धर्म के प्रसंगो में मान करना, लोग जाने कि यह बड़े तपस्वी है, लोग समझें कि यह बड़े ज्ञानी हैं, बहुत धर्मात्मा हैं, इस तरह की आकांक्षायें रहें और धर्म के प्रसंगों में पद-पद पर मान जगा करे तो वह अनन्तानुबंधी मान कहलाता है । जैसे मानो सभी लोग पूजा में खड़े होते हैं । कोई मान लो अभी तक रोज-रोज आगे खड़ा होता था, आज उसे किसी कारण से पीछे खड़ा होना पड़ गया तो वह इसमें अपना अपमान महसूस करता है। कितने ही प्रसंग ऐसे होते हैं कि जहाँ मान उमड़ आया करता है । तो धार्मिक

प्रसंगों में मान उत्पन्न होना यह बहुत तेज कषाय बतायी गई । मायाचार माया भी प्राय: मनुष्यों से नहीं छूटती है । घर में, दुकान में, किसी भी जगह मायाचारी की बातें चलती है । मगर धर्म के प्रसंग में कोई मायाचारी करे तो वह बड़ी तेज माया कषाय कहलाती है । वे मायाचार क्या-क्या हैं, उसके कई रूपक बनते हैं । मानो कोई नहीं देख रहा तो उस समय तो जैसे चाहे टेढ़े-मेढ़े खड़े-खड़े धीरे-धीरे पूजा कर रहे थे या जाप, सामायिक आदि कर रहें थे । अब आ गया वहाँ कोई दर्शक तो उसे देखकर झट अटेन्सन में आ गए, बड़ी शान्त मुद्रा बना लिया, बताओ यह मायाचारी भरी बात है कि नहीं? इस सम्बंध में एक कथानक है कि किसी एक मुनिमहाराज ने किसी मगर में चातुर्मास किया और चातुर्मास भर उपवास किया और चातुर्मास व्यतीत होते ही वहाँ से प्रस्थान कर गए । उनके चार माह के उपवास की प्रशंसा चारों और फैल चुकी थी । उन्हीं दिनों उसी नगर में कोई दूसरे मुनिराज पधारे । उनके दर्शनार्थ लोग आये, लोगों ने यह जाना कि यह वही मुनिराज हैं जिन्होंने चार माह का उपवास किया, सो लोग उन मुनिराज की बड़ी-बड़ी प्रशंसा करने लगे, धन्य है इन मुनिराज को जिन्होंने चार माह का उपवास किया । अब इस प्रकार की झूठी प्रशंसा सुनकर उन मुनिराज ने अपने मन में हर्ष माना और उसे सुनकर चुप रह गए, सोचा कि मुफ्त ही प्रशंसा मिल रही है, ठीक है, मिलने दो । अरे उन्हें तो उस समय कुछ खेद होना चाहिये था और लोगों से स्पष्ट बता देना चाहिए था कि हम वह मुनि नहीं हैं, हम दूसरे हैं, पर मुफ्त की प्रशंसा लूटना चाहा । उसके फल में उन मुनि को दुर्गति मिली । यह है धर्म के प्रसंग में मान करने का फल । ऐसे ही धर्म के प्रसंग में लोभ करना यह तीव्र लोभ का स्थान है । लोभ से भी यहाँ कोई बचा नहीं है । घर के अथवा किसी भी धार्मिक काम में खर्च करने की सामर्थ्य होते हुए भी खर्च न कर सकना, उसे जोड़ने का भाव रखना यह तीव्र लोभ कषाय है । ज्ञानी जीव के तीव्र कषाय तो होती नहीं, उसकी चारों कषायों मंद रहती हैं । वह जानता है कि कषाय मेरी बैरी है । रागद्वेष भाव उठे, वह मेरे चैतन्यप्राण को मल-मलकर नष्ट कर देता हैं, मर्दन करता, ऐसा निर्णय होने के कारण ज्ञानी जीव के कषायें मंद होती हैं, यह ही उपशम गुण हैं और इसी कै प्रताप से कोई दूसरा पुरुष कैसी ही गाली दे जाय, कितना ही वह अपराध करे तो भी उस पर क्रोध भाव नहीं जगता ।

सम्यग्दृष्टि का छठा चिह्न भक्ति—सम्यग्दृष्टि का छठा चिह्न है भक्ति। पंचपरमेष्ठी में भक्ति होना। जो जिस मार्ग में है वह उस मार्ग में चलने वाले या उस मार्ग के अग्रगामी लोगों के प्रति प्रेम रखता। जैसे आप जिस रास्ते से चलकर जा रहे हों उस रास्ते से चलने वाला कोई मुसाफिर आपको मिल जाय तो आपको उसके प्रति प्रेम उमड़ता है, आप उससे दोस्ती करके भली प्रकार बातचीत करते हुए जाते हैं ऐसे ही जो मार्ग में चल रहे या उस मार्ग से चलकर जो अरहंत सिद्ध हुए उनके प्रति ज्ञानी जीव को भक्ति उमड़ती है, वह भक्ति उन परमेष्ठियों के प्रति नहीं है किन्तु धर्म के प्रति है। दशलक्षण धर्म के धारकों में भक्ति, धर्मात्माजनों में, तपस्वीजनों में, उनके गुणों के स्मरण के प्रसाद से भक्ति रहना, यह है सम्यग्दृष्टि का भक्ति नाम का गुण। ज्ञानी जीव के अटपट क्रियायें नहीं होती। विषयों में प्रवृत्ति, स्वच्छंदता, गप्प बाजी में लगना आदिक बातें ज्ञानी पुरुषों में नहीं होती । जब उसने अपने ज्ञानस्वरूप की उपलब्धि का लक्ष्य बनाया है तो उस लक्ष्य के अनुसार ही उसकी वृत्ति बनेगी । ज्ञानी जीव का यह छठा चिह्न है भक्ति ।

सम्यग्दृष्टि का सप्तम चिह्न वात्सल्य—ज्ञानी का ७वां चिह्न है वात्सल्य प्रेम । देखिये—धर्म का नाता एक बहुत बड़ा नाता होता है । घर गृहस्थी के नाते को ही जो नाता मानते है और धर्म नाते को गौण करते है उन पुरुषों के अज्ञान है रुचि नहीं है । ज्ञानी जीव को धर्म का नाता मुख्य रहता है और परिजनों का नाता गौण रहता है । यदि ऐसा नहीं है तो वह ज्ञानी नहीं है, सम्यग्दृष्टि नहीं है, धर्म का धुनिया नहीं है । तो सम्यग्दृष्टि पुरुष धर्म के धारक धर्मात्माजनों में प्रीति करते है । जैसे दरिद्री पुरुष की धन देखकर बड़ा आनन्द उत्पन्न होता है ऐसे ही सम्यग्दृष्टि धर्मात्माजनों को देखकर अथवा धर्म के व्याख्यान को सुनकर ज्ञानी पुरुष को अत्यन्त आनन्द प्रकट होता है ऐसे ही सम्यग्दृष्टि, धर्मात्माजनों को देखकर अथवा धर्म के व्याख्यान को सुनकर ज्ञानी पुरुष को अत्यन्त आनन्द प्रकट होता है । ज्ञानी को चाहिए स्वरूपविकास, ज्ञानविकास । उस स्वरूपविकास में जो चलना चाहता है, जो चल रहे है, उन पुरुषों को देखकर उसे अत्यन्त वात्सल्य होता है । एक केवल धर्म का नाता है । अन्य बातों में वह सब एक गुजारे का साधन समझता और धर्म के नाते से धर्म के धारण को वह अपना कर्तव्य समझता है । यह ही करना है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई शरण नहीं है, यह बुद्धि होती है ज्ञानी की धर्म के प्रति और परिजनों के प्रति ज्ञानी की बुद्धि होती है कि यह एक मात्र साधन है । देखिये कितना अन्तर है ज्ञानी के मनन में । तो यह ज्ञानी पुरुष का चिन्ह है कि धर्मात्माजनों के प्रति उसके वात्सल्य होता है ।

सम्यग्दृष्टि का अष्टम चिह्न अनुकम्पा—ज्ञानी का ८वां चिह्न है अनुकम्पा । ६ काय के जीवों के प्रति दया करना अनुकम्पा है । दुःखी जीवों को देखकर अपने परिणाम कंप जाना अनुकम्पा है । अनुकम्पा शब्द का अर्थ क्या है? उसमें अनु तो उपसर्ग है और कम्प धातु है । कम्प धातु का अर्थ है कंपना । और अनु का अर्थ है अनुसार । दुःखी जीवों को देखकर उनके दुःख के अनुसार अपने आपका हृदय कंप जाना अनुकम्पा कहलाता है । देखा होगा कि कभी कोई दुःखी जीव कठिन दुःखी को देखता है तो उसका हृदय कंप जाता है, शरीर पर एक रोमाञ्च सा हो जाता है, यह है अनुकम्पा । ऐसा क्यों होता है? तो बात यह है कि वास्तव में एक जीव किसी दूसरे जीव पर दया नहीं कर सकता । जितनी दया बनती है वह अपने आप में सद्भावना को निरखकर अपने पर दया बनती है । दुःखी जीव को देखा तो उस दुःखी को निरखकर खुद में एक क्लेश का अनुभव होता हैं । ओह । कितने कष्ट में है यह । और जब कोई श्रावक उस दुःखी को कपड़ा या भोजन देता है तो क्या वह दूसरे दुःखी का दुःख मिटाने के लिए दे रहा है या अपना दुःख मिटाने के लिए? अरे एक जीव दूसरे जीव पर कोई प्रयोग ही नहीं कर सकता । उसने दूसरे की दुःखी देखकर जो अपने में दुःख, उत्पन्न कर लिया था सो अब उसको अपना दुःख नहीं सहा जाता सो दुःख को दूर करने के लिए वह भोजन, वस्त्रादिक देता है । वास्तविकता तो यह है और इसी प्रयोग से वह अपना दुःख दूर कर पाता है । तो इस दया का नाम अनुकम्पा रखा गया है, जिसका अर्थ है अनुसार कंप जाना । दूसरे जीव को दुःखी देखकर अपने परिणाम कम्पायमान होना, उसे देखकर जो अपने में दुःख उत्पन्न होता उसका शान्ति के लिए उस दूसरे का दुःख जैसे मिटे उस प्रकार का परिणाम होना यह अनुकम्पा गुण कहलाता है ।

ज्ञानी के उपलब्ध सहज कला का प्रभाव—जिसके ज्ञान जगा, सम्यक्त्व हुआ उसके लिए सारा लोक कुटुम्ब

बन गया । अब उस ज्ञानी के यह छटनी नहीं रहती कि मेरे घर के जितने लोग हैं वे मेरे कुटुम्ब के हैं, बाकी गैर हैं । वसुधैव कुटुम्बकम् । उसने आत्मस्वरूप को सर्वत्र देखा है और वस्तु के स्वरूप का उसे पूर्ण निर्णय है । वह पुरुष कैसे किसी दूसरे जीव को अपना मान लेगा? हां गुजारे के लिए आवश्यक है श्रावक को इसलिए वह प्रीति व्यवहार करता है किन्तु धुन उसकी है धर्म में । तो ऐसी धर्म की प्रीति के कारण सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव के ये ८ लक्षण प्रकट होते है । ज्ञानी जीव को एक कला ऐसी मिली है कि जिसके प्रसाद से अनेक कलायें स्वयमेव बन जाया करती हैं । किसी को कोई बहुत-बहुत सिखाये कि क्रोध करना बहुत बुरी चीज है, क्रोध न करना चाहिए तो बताओ उसके यह बात निभ जायगी क्या? कि क्रोध न करें, ऐसे ही मान, माया, लोभ, अनर्थ, पाप आदि के त्याग का कोई बहुत-बहुत उपदेश दें कि तुम्हें ऐसा अनर्थ न करना चाहिए तो बताओ उससे अनर्थ रुक जायगा क्या? अरे वह बड़ी जबरदस्ती करके दबायेगा भी उस अनर्थ को तो थोड़े समय को तो निभ जायगा, मगर भीतर में अज्ञान बसा होने से किसी समय वह फिर अनर्थ कार्य करने के लिए स्वच्छंद बन जाता है । जिस ज्ञानी के यह कला प्रकट हो जाय कि मेरे आत्मा का सहज ज्ञानस्वरूप अविकार है, मैं यह हूँ, ऐसी दृष्टि करके, ऐसे मनन के द्वारा जो अपने आप में आत्मबल प्रकट हुआ है वह सहज कला ऐसी प्रकट हुई है कि उसको सिखाना न पड़ेगा कि तुम क्रोध न करो, घमंड न करो । सभी कलायें उसमें स्वयमेव आ जायेंगी । उपदेश है किसलिए? ज्ञानी को भी उपदेश चलता है कि यह ज्ञान इस ज्ञानस्वभाव की दृष्टि में न रह सके, लौकिक प्रयोजन से बाह्य पदार्थो में लगाना पड़ता है तो वहाँ उसके विकार जगता है । तो उस बाध को मिटाने के लिए ज्ञानी को उपदेश है, मगर उसमें एक कला ऐसी प्रकट हुई कि उसको अनेक समस्यावों का समाधान स्वयमेव हो जाता है ।

प्रतिभालाभ होने पर बुद्धिगति के दृष्टान्तपूर्वक सहजज्ञानस्वभावप्रतीतिकला होने पर अनेक समस्यावों के समाधान की सिद्धि—बुन्देलखण्ड में छतरपुर रियासत की एक घटना है कि वहाँ का राजा गुजर गया । उसका बेटा अभी छोटा था, तो उसके राज्य को अंग्रेजों के समय में उनके एजेन्ट चलाते थे (जिस राज्य को चलाने वाला कोई न रहता था उसको अंग्रेजों के एजेन्ट चलाते थे) जब वह राजा का बेटा २०-२१ वर्ष का हुआ तो उस राजमाता ने एजेन्टों को लिखा कि मेरा बेटा बालिग हो चुका है मेरा राज्य उसे सौंप दिया जाय । तो एजेन्टों ने एक तिथि निश्चित किया कि पहले हम अमुक दिन उसके बेटे की बुद्धिमानी की परीक्षा लेंगे तब उसे राज्य दिया जा सकेगा । सो परीक्षा लेने की तिथि से पूर्व राजमाता ने अपने बेटे को दसों बातें सिखाया—बेटे अगर वे एजेन्ट तुम से यों पूछें तो यों उत्तर देना... वहाँ वह राजपुत्र बोला—मां तुमने तो ये दसों बातें हमें सिखाया, पर इनमें से कोई भी बात न पूछा तो क्या करेंगे? तो वहाँ वह राजमाता अपने बेटे की तर्कणा युक्त बात सुनकर अति प्रसन्न हुई और बोली—बेटे अब मैं समझ गई कि तुम से जो चाहे पूछा जाय सबका उत्तर कुशलतापूर्वक देकर आवोगे । आखिर हुआ क्या कि जब वह राजपुत्र परीक्षा देने पहुँचा तो एक एजेन्ट ने उससे पूछा तो कुछ नहीं और तेजी से उसके दोनों हाथ अपने हाथों से पकड़ लिया, फिर पूछा—बोलो बेटे तुम अब मेरे अधीन बन गए, क्या करोगे? तो वहाँ वह राजपुत्र बोला—अरे आप यह क्या कहते है मैं आपके अधीन बना या आप मेरे अधीन हो गए? कैसे मैं आपके आधीन? हाथ तो मैंने पकड़ रखा, पराधीन तो तुम हो ।...

नहीं, नहीं, आप मेरे आधीन बने ।...कैसे?...ऐसे कि देखो जब किसी कन्या का विवाह होता है तो भांवर पड़ते समय कन्या उस लड़के का एक हाथ पकड़ लेती है तो वह पति सारे जीवन भर कन्या के आधीन रहता है, आपने तो मेरे दोनों ही हाथ पकड़ लिए फिर क्यों न आप मेरे आधीन कहलाये...। राजपुत्र की इस प्रकार की तर्कणा भरी बात सुनकर वह एजेन्ट अति प्रसन्न हुआ और समझ लिया कि वास्तव में वह राजपुत्र बुद्धिमान है । राज्य चलाने योग्य है । आखिर उस राजपुत्र को राज्य मिल गया । तो बात यहाँ यह कह रहे थे कि जिसके एक प्रतिभा होती है उसे अधिक नहीं समझाना पड़ता । ज्ञानी जीव में सहज ही एक ऐसी कला प्रकट होती है कि जिससे अपने हित के बारे में उसके ऐसा समर्थ पौरुष होता है कि क्रोधादिक कषायों से हटना, खोटे भावों से हटना आदि ये सब बातें उसके लिए अत्यन्त सुगम हो जाती है । तो सबसे बड़ा काम है जीवन में यह कि अपने आपके अविकार सहज स्वभाव का अनुभव कर लेना । बाकी सब काम बेकार है । हां परिस्थितिवश कार्य सभी करने होते हैं, पर वे सब बेकार समझिये । कोई लोग तो ये सब काम गुजारने के लिए करते हैं कोई अज्ञानतावश लोक में अपनी मान, प्रतिष्ठा, इज्जत के लिए, पर काम ये सब बेकार हैं । बाहरी काम हैं । एक अपने आपके अन्त: स्वरूप का निर्णय कर लेना यही वास्तविक काम है, जिसके प्रताप से संसार के संकटों से सदा के लिए छूट जायेंगे ।

श्लोक 29

श्वापि देवापि देव: श्वा, जायते धर्मकिल्विषात्।
कापि नाम भवेदन्या, सम्यद्धर्धाच्छदीरिणाम्।।२९।।

धर्म और अधर्म के फल का उदाहरण—धर्म के प्रभाव से कुत्ता भी देव हो जाता है और पाप के प्रभाव से देव भी कुत्ता हो जाता है। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव ही देवगति में उत्पन्न हो पाते हैं, उनमें भी नारकी देव गति में उत्पन्न नहीं होते। मनुष्य और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च ये ही देवगति में उत्पन्न होते हैं इस कारण यहाँ उदाहरण कुत्ते का दिया है। वैसे कुत्ता पशुवों में एक निन्द्य पशु माना जाता है। हर कोई कुत्ते को धुधकार देता है। तो धुधकारा जाने वाला कुत्ता भी यदि उसके धर्म है, सम्यक्त्व है, मंदकषाय है तो वह मर कर देव बन जाता है और देव भी पाप के प्रताप से कुत्ता बन जाता है। देवगति के जीव मरकर दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय में उत्पन्न नहीं होते। एकेन्द्रिय जीवों में पहिले और दूसरे स्वर्ग के देव भी उत्पन्न हो सकते हैं, उससे ऊपर के नहीं और १२वें स्वर्ग तक के देव तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय हो सकते हैं। तो देवगति में जन्म ले लिया, वहाँ पाप के परिणाम रहें तो वह भी मरकर कुत्ता बन सकता है फिर जो विशिष्ट मनुष्यजन हों और धर्म धारण करते हों तो उनको कोई भी भले प्रकार की सम्पदा प्राप्त हो जाती है, अहमिन्द्र पद प्राप्त हो जाता है। अहमिन्द्र होते हैं स्वर्गों से ऊपर। जिन ऊर्ध्व के विमानों के स्थानों में इन्द्र सामानिक आदिक भेद नहीं होते, सभी देव समान होते हैं इसलिए वे अहमिन्द्र कहलाते हैं। अहंइन्द्र, हर एक के ऐसा ही अनुभव है कि मैं इन्द्र हूं, क्योंकि उन पर कोई आज्ञा करने वाला नहीं है। इसलिए सभी अहमिन्द्र कहलाते है। तो धर्म के प्रताप से इन प्राणियों की अहमिन्द्रादिक पद जैसी कोई भी सम्पति प्राप्त हो जाती है और धर्म के फल में तो मोक्ष ही बताया गया है, पर धर्म करते हुए भी रागद्वेष होने से जो प्रवृत्ति होती है उसके फल में वह स्वर्गादिक जायगा ।

मिथ्यात्व की अनर्थकारिता—यहां यह शिक्षा दी है कि मिथ्यात्व बड़ा अनर्थकारी है । अधर्म मायने मिथ्यात्व, अधर्म में प्रधान मिथ्यात्व है, । जहाँ आत्मा का होश ही नहीं है, बाह्य पदार्थों में अहंकार और ममकार बसा है, उससे निराला कोई स्वतन्त्र मैं आत्मा हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ, सबसे निराला हूं। इसका भान न हो तो यह तो बहुत बड़ी विपत्ति है, क्योंकि संसार में जितने भी कष्ट है सब मोह के है और अपने आत्मा का यथार्थस्वरूप भान में जो लेता रहे, उसको कोई कष्ट ही नहीं । यह मेरा है, धन स्त्री पुत्रादिक मेरे है, इस प्रकार भीतर में श्रद्धान बसा है तो उसे के कारण स्वयं ही आकुलता होगी । आकुलता कहीं पुत्रादिक की प्रेरणा से नहीं मिलती किन्तु स्वयं के विकल्प से मिलती है । जिस जीव के सम्यक्त्व है वह प्रत्येक स्थिति में धैर्य रखें, क्षोभ न करें, वस्तुस्वरूप को ध्यान में रखें तो उसको आकुलता न होगी । तो मिथ्यात्व महान अनर्थकारी है, इसके ही कारण चतुर्गति में परिभ्रमण करना पड़ता है । जो जीव अब तक संसार में रुल रहे वे इस मिथ्यात्व के ही कारण रुल रहे । जैसे बाह्य चीजों में निमित्त नैमित्तिक योग होता है अग्नि पर रोटी सिकी, पानी में शक्कर डाल दी गई तो वह घुल गई, तो जैसे बाह्य पदार्थों में निमित्त नैमित्तिक व्यवस्था है ऐसे ही जीव के विकारों में निमित्त नैमित्तिक व्यवस्था है । विकार हुआ, उसका निमित्त पाकर कर्म स्वयं बंध गए, कार्माणवर्गणायें कर्मरूप बन गई । अब बंधे हुए कर्मों का उदयकाल आया तो उसके उदय का निमित्त पाकर जीव में विकारभाव आ गया, यह स्पष्ट निमित्त नैमित्तिक व्यवस्था है आत्मा तो स्वयं सहज ज्ञान स्वभावमात्र है । उसमें अपने आप न विकार है न कोई कष्ट है । पर इस जीव का कितना बड़ी अपराध है कि कर्म विपाककाल में जो इस उपयोग पर छाया आयी, प्रतिफलन हुआ उस रूप जीव अपने को स्वीकार कर लेता है । न करे स्वीकार तो किसी की जबरदस्ती है क्या कि इसको विकार स्वीकार करना ही पड़ेगा, नहीं है जबरदस्ती, मगर वह उमंग से विकारों को स्वीकार करता है । यह ही मिथ्यात्व है । कर्मोदय आया, उसका प्रतिफलन हुआ, ज्ञानबल से उनका ज्ञाता रहे तो वह मोक्षमार्ग में बढ़ जायगा । तो मिथ्यादर्शन के समान कोई विपत्ति नही ।

विषयों को हेय जानकर उनसे उपेक्षा करके सम्यक्त्वलाभ का यत्न करने का अनुरोध—जो लोग कुछ धनिक होकर कुछ मौज के साधन पाकर गर्व में आते हैं कि हमें सब कुछ मिला है, वे मनमाने विषय भोगों में स्वच्छंद आचरण करेंगे । बाहरी-बाहरी व्यवस्था प्रबंधों में रहेंगे, बाह्य पदार्थों के संचय में ही मौज मानेंगे तो उनको भविष्य में बड़ा कष्ट भोगना पड़ेगा । तो इस जीवन में एक यह ही छांट होनी चाहिये कि हे प्रभो, हे सहज परमात्म-तत्त्व मेरे में मिथ्यात्व मत जगे, मेरे सहजस्वरूप की सुध न छूटे, मैं अपने उपयोग में अपने सहज चैतन्यस्वभाव को निरखता रहूं तो वहां किसी प्रकार का कष्ट न आयगा और एक अपनी सुध छोड़ दूं तो सुध छोड़ना ही स्वयं कष्ट-रूप है । फिर वहाँ किसी भी बाह्य पदार्थ का आलम्बन लेकर अपने को व्यर्थ दुःखी अनुभव करें । और यह सम्यग्दर्शन जहां कि अपने सहज स्वरूप की सुध रहती है । मैं चैतन्यमात्र हूँ, अपनी सत्ता से परिपूर्ण हूँ, किसी बाह्य पदार्थ का मैं कर्ता भोक्ता नहीं हूँ । मेरे में अपने आप में उत्पाद व्यय धौव्य निरन्तर चलते रहते है, ऐसी अपने आपके स्वरूप की सुध हो तो वहाँ किसी प्रकार का कष्ट नहीं है । अपने को अपने में देखो, आनन्दमय अनुभवो, बस उसका मार्ग भला ही होता जायेगा और निकट काल में वह समस्त संसार के संकटों से छुटकारा पा लेगा । इस कारण मानव जीवन में एक सम्यक्त्व लाभ का प्रयत्न बन गया

है तो समझो कि हमने सर्व कुछ पा लिया, क्योंकि जहाँ कोई कष्ट न रहे वही तो वैभव कहलाता है । तो इस सम्यक्त्व के प्रताप से सद्गति प्राप्त होती है मोक्षमार्ग का लाभ होता है और तपश्चरण करके मुक्ति प्राप्त होती है । इस कारण अधर्म से हटना, धर्म में लगना यह ही इस जीवन का उद्देश्य होना चाहिए ।

श्लोक 30

भयाशा-स्नेह-लौभाच्च, कुदेवागमलिङ्गिनाम् ।
प्रणामं विनयं चेव, न कुर्य्युः शुद्धदृष्टयः ।।३०।।

सम्यग्दृष्टि के भयवश कुदेवों को प्रणाम विनय करने के भाव का अभाव—सम्यग्दर्शन की महिमा का संकेत करके अब इस श्लोक में यह कहा जा रहा है कि जो शुद्धदृष्टि वाला है, आत्मा के सहजस्वभाव का अनुभव कर चुकने वाला है ऐसा ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव भय से, आश से, स्नेह से, लोभ से, कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु को प्रणाम और विनय नहीं करते हैं । किन्हीं जीवों को भय हो जाता है कि इन कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुवों को जिनको राजा मानता है, बड़े-बड़े नेता मानते हैं उन्हें मैं न मानूं तो ये लोग मेरे को न जाने क्या-क्या तकलीफ देंगे । अथवा ये ही देव, ये ही गुरु कहीं मेरे को पीड़ा न पहुंचा दें, ऐसा उनको भय हो जाता है किन्तु सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को भय नहीं होता, क्योंकि वह अपने अविकार स्वरूप को निरख चुका । यह अमूर्त ज्ञानमात्र अविकार स्वरूप सदा अपनी सत्ता में रहने वाला, जिसका कभी विनाश नहीं हो सकता, जिसका सब कुछ इस मुझ पर ही निर्भर है, ऐसे ज्ञानानन्द का निधान निज आत्मस्वरूप का परिचय हुआ है । इस कारण वह किसी भी अन्य कुदेव आदिक को भय से भी नमस्कार नहीं कर सकता । भय ही नहीं है इसके और फिर स्वरूपनिर्णय है कि कुदेव से मेरे को क्या भय? कुदेव कहते किसे हैं? जो देव तो नहीं हैं किन्तु अपने को देवरूप में प्रसिद्ध करते हैं तो उसका नाम कुदेव है । वैसे कुदेव कोई चीज नहीं है । कोई भी जीव हो तो या तो वह देव होगा या देव न होगा, दो ही बातें हैं । कुदेव का मतलब क्या? देव तो नहीं है और उसे देव माने तो उसका नाम कुदेव पड़ता है । तो किसी भी व्यक्ति को कुदेव बनाने वाला कौन? भक्तजन, लौकिकजन और यदि वही व्यक्ति स्वयं अभिलाषा रखता है कि मैं देव की तरह पूजा जाऊं तो उसने अपनी ओर से अपने की कुदेव कर डाला । तो भय से ज्ञानी जीव कुदेव को प्रणाम और विनय नहीं करते । एक बात और ध्यान में देने की है कि जिन्होंने वीतराग सर्वज्ञ को देव माना है वे जैन लोग, वीतराग सर्वज्ञ को देव मानने वाले भक्त लोग प्रभु की स्थापना करके मूर्ति के समक्ष भी वंदन करते हैं, प्रणाम करते हैं । स्थापना किए जाने से वे प्रभु हैं, ठीक हैं, उनका वंदन प्रणाम कीजिये । अब यदि उनके प्रति भी यह भय रहे कि यदि मैं इनको न मानूंगा, इनको न पूजूंगा तो ये मुझे नरक पहुंचा देंगे या मुझे निर्धन बना देंगे । इस तरह की बात यहां भी हो तो इस भक्त ने उसे कुदेव बना डाला । वह स्वयं कुदेव तो नहीं है, वह अनन्त ज्ञानादिक का निधान है, प्रभु है मगर भक्त ने जिस भाव से पूजा, जिस भाव से देखा उस भाव में उसकी दृष्टि में वह सुदेव न रहा । तो किसी भी देव के प्रति भय से प्रणाम विनय न हो । सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जो वीतराग सर्वज्ञदेव में भक्ति करता है वह भय से नहीं करता किन्तु स्वरूप की समता, मोक्षमार्ग का प्रकाश, उसके गुणों का स्पष्ट निर्णय, उसकी अपने स्वभाव से समानता आदिक का परिचय होने से वह उनकी भक्ति करता है । शुद्ध दृष्टिवाला पुरुष भय के वश होकर कुदेव की भक्ति नहीं

करता ।

आशा से भी कुदेव को प्रणाम विनय करने की ज्ञानी के असंभवता—ज्ञानी को ऐसी आशा नहीं होती कि इस कुदेव की भक्ति से मुझे धन लाभ होगा, मुकदमें में विजय होगी ।... किसी आशावश वह कुदेव का सत्कार नहीं करता । उसको स्पष्ट निर्णय है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कुछ परिणति नहीं दे सकता । प्रथम तो संसार का समागम मेरे लिए अनर्थ है । अनन्त ज्ञानशक्ति के निधान इस आत्मा भगवान को यहाँ के समागमों का लगाव बरबाद कर रहा है, इसका घात करता है । ज्ञानीजीव वस्तुस्वरूप को सही समझ रहा है । वह जानता है कि मेरे में परपदार्थ का विकल्प ही उत्पन्न होता है, कहीं दूसरे पदार्थ का संग मेरे में नही है । और जो कुछ समागम होता है वह पुण्यपाप का फल है । ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक योग है कि पुण्य का उदय आये तो ऐसे इष्ट समागम प्राप्त हो । अब वह निमित्त नैमित्तिक भावों में कोई कैसे विरोध कर सकेगा? होता है । उस योग को स्पष्ट जान भी नहीं पा रहा । मगर फल तो जान रहा तीर्थंकर प्रभु का जन्म हुआ और स्वर्ग में घंटा बजा, जहाँ जो कुछ शब्द हुआ, कहीं सिंहनाद हुआ कहीं धपधप बजा, इन्द्र का आसन हिला, इन सबको कौन बजाने गया? कौन हिलाने गया? क्या उनके पुण्य परमाणु निकलकर उनमें टक्कर लगाने लगें? जो जहाँ है वहाँ ही है, पर कैसा निमित्त नैमित्तिक योग है कि तीर्थंकर का जन्म हुआ तो वहाँ ऐसे-ऐसे अतिशय होने लगे । यहाँ पर जितने जो कुछ वैभव आपको प्राप्त होते हैं वे आपके वर्तमान विकल्प से नहीं होते, वर्तमान परिणाम से नहीं होते, किन्तु पूर्वबद्ध पुण्यकर्म के उदय का निमित्त पाकर होते हैं । बहुत दूर इष्ट पदार्थ हों वे भी पुण्य के उदय में निकट आ जाते है । आप स्वयं इष्ट पदार्थ के निकट पहुंच जायें पुण्य के उदय में ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक योग है । उसमें अपना क्या कर्तव्य है सो यह जिस तरह से हम विधि बांध चुके है उस तरह से होगा । अब हमारा वर्तमान कर्तव्य तो यह है कि अपने परिणाम निर्मल रहे, अन्यथा पहले कमाये हुए कर्म के उदय में तो ये कष्ट पा रहे हैं और अब भी परिणाम खोटा रखा जाय यह ही कष्ट पाने की परम्परा बनी रहेगी । सो वर्तमान में अपने भावों को स्वच्छ करने का कर्तव्य है । और कुछ आशा या भय आदिक लेकर कुदेव आदिक को प्रणाम करना और उसमें अपना बचाव सोचना सम्पन्नता सोचना यह बिल्कुल व्यामोह है । ज्ञानी जीव आशा के वश होकर भी कुदेव को प्रणाम नही करता । कुदेव कौन कहलाता? जो रागी द्वेषी हो, अल्पज्ञ हो और जिसको देवत्व की प्रसिद्धि की गई हो वह कहलाता है कुदेव । एक ज्ञानप्रकाश, यही ज्ञानी की दृष्टि में रहता है । यह ही ज्ञानतेज यही प्रभु कहलाता है, ऐसा मेरा भी स्वभाव है ऐसा मैं भी हो सकूंगा । यह नाता है प्रणाम विनय करने का । न कि लौकिक पदार्थों की आशा करके कुदेव को प्रणाम करना, विनय करना आधार है । तब अपने आप में अपनी बात घटाइये—अपने में क्या प्रकाश पा रहे है । कहा अपनी दृष्टि बन रही है? अपने स्वभाव को निरखिये और यह ही अनुभव कीजिए कि यह मैं आत्मतत्त्व हूँ, अन्य क्या नहीं हूँ, ऐसा दुर्लभ मानव जीवन पाकर, ऐसे जैनशासन, जैन देव, जैन शास्त्र, जैन गुरु में भक्ति न जगे, बल्कि कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु, कुधर्म में भक्ति जगे तो बताओ यह मानव जीवन किसलिए पाया । देखिए सम्यक्त्व जब भी होगा सहज होगा । कोई कमर कसकर बैठे कि मैं इस समय सम्यक्त्व पैदा करता हूं तो यों सम्यक्त्व नहीं हुआ करता । सम्यक्त्व के जो उपाय हैं, उन उपायों में लगता रहे । सम्यक्त्व जब भी होगा तब सहज

होगा । सम्यक्त्व प्राप्त होने का उपाय क्या है? सच्चे देव, शास्त्र, गुरु के प्रति आस्था होना और कुदेव, कुशास्त्र कुगुरु के प्रति लगाव न रहना । ज्ञानी जीव आशा के वश होकर कुदेव को प्रणाम विनय नहीं करता ।

स्नेह एवं लोभ के वश भी कुदेवों को प्रणाम विनयादि करने की ज्ञानी के असंभवता—स्नेह के वंश होकर कि ये हमारे कुलदेवता हैं । हमारे कुल में इनकी पूजा होती चली आयी है अथवा ये मेरे पुरुखा है, ऐसे स्नेह से भी कुदेव को ज्ञानी पुरुष प्रणाम नहीं करता । लोभ के वश होकर भी ज्ञानी कुदेव को प्रणाम नहीं करता । मुझे इससे बड़ी प्राप्ति होगी, खूब धन लाभ होगा ऐसे ख्याल से भी ज्ञानी कुदेव को प्रणाम विनय नहीं करता । वास्तविकता यह है कि जिसने आत्मस्वरूप का परिचय पाया है उसकी दुनिया अलौकिक हो गई । उसे अब लोगो से मतलब न रहा । लोक में मेरी प्रतिष्ठा हो, या लोगों के द्वारा मेरा अपमान हो, किसी भी बात से मेरे मे कुछ असर नहीं होता, उन दूसरों की परिणति का फल उन्हें प्राप्त होगा, मेरी परिणति का फल मुझे प्राप्त होगा । तो ऐसा वस्तु-स्वातंत्र्य जानकर ज्ञानी जीव को पर से उपेक्षा हुई है, अपने आपमें धीरता हुई है, वह पुरुष लोभवश कुदेव को क्या नमस्कार करेगा?

भय आशा स्नेह लोभ से भी कुशास्त्रों की आराधन की सम्यग्दृष्टि के असंभवता—कुशास्त्र जिन में रागद्वेषभरी बातें लिखी हैं जिन में पाप करने की प्रेरणा दी है ऐसे शास्त्र कुशास्त्र कहलाते है । हमारे कुल में ये-ये शास्त्र चले आये हैं, मैं अगर इनको न मानूँ तो मेरे पर आपत्तियां आ सकती हैं । पाप बंधेगा, कष्ट आयगा, इसलिए इन कुशास्त्रों को जो पुरखों से चले आये है, पूजते हैं, ऐसे भाव रखता है अज्ञानी मिथ्यादृष्टि । ज्ञानी जानता है कि किसी भी परद्रव्य की उपासना से मेरे को कुछ लाभ हानि नहीं, और पर की उपासना कोई कर ही नहीं सकता । जो भी उपासना करता है वह अपने आत्मा की उपासना करता है । आत्मा का जैसा स्वरूप नहीं है उस स्वरूप की उपासना करे तो वह मिथ्यात्व है और जैसा आत्मा का स्वरूप है वैसी उपासना करे तो वह सम्यक्त्व है । शुद्ध दृष्टि वाला पुरुष कुशास्त्र के भय से प्रणाम विनय नहीं करता, आशा से भी नहीं करता । इसमें अनेक मंत्र लिखे हैं, अनेक टोटका मंत्र चले है, इन शास्त्रों की विनय करें, इनके मंत्रों की साधना करेंगे तो लौकिक सम्पन्नता बढ़ेगी ऐसे भावों से भी ज्ञानी जीव कुशास्त्र को प्रणाम विनय नहीं करता । देखिये ज्ञानी जीव की केवल एक ही अभिलाषा होती कि मैं कैसे विकारों से हटकर अपने सहज स्वभाव में लगूं । दूसरी अभिलाषा नहीं होती । चूंकि शरीर है, प्राण रक्षा भी आवश्यक है, यों जबरदस्ती मरण करने से संसारचक्र न छूटेगा, किन्तु यह जो भला जीवन है । इस जीवन में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का सम्बंध बने तो यह संसारचक्र छूटेगा, इस कारण ज्ञानी के चित्त में दूसरी अभिलाषा रंच भी नहीं है । आखिर कुछ ही वर्षों बाद मरण होगा, यह शरीर जला दिया जायगा, जरा उस स्थिति को अपने ध्यान में तो लावो। आखिर मरण नियम से होगा, मरण के समय जो-जो स्थितियां आती हैं उन पर विचार तो करो । एक नीतिशास्त्र में बताया है कि अजरामखत्प्राज्ञों विद्यामर्थं च चिन्तयेत् । गृहीत इवकेशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् । याने लौकिक विद्या और धन इन दो की कमाई तो तब हो पाती है जबकि कोई अपने को अजर अमर समझ रहा हो । यदि किसी के चित्त में यह बात घर कर जाय कि मेरा तो कुछ ही समय बाद मरण होने वाला है तो उसको न धन कमाने में उत्साह रहेगा न लौकिक विद्यायें सीखने में । हां अगर किसी को अपने मरण के सम्बन्ध में ध्यान बन जाय तो

आत्मविद्या सीखने में जरूर उसकी रुचि बनेगी । मान लो किसी को फांसी लगने वाली है । उससे कोई कहे कि बोलो तुम क्या चीज खाना चाहते हो लड्डू, पेड़ा, बर्फी, रसगुल्ला वगैरह? तो वह तो यही कहेगा कि मुझे कुछ न चाहिये। ऐसे ही जब किसी को अपनी मृत्यु का सही-सही निर्णय हो जाता है तो उसे सांसारिक कोई भी समागम नहीं रुचता । जिसने अपनी मृत्यु का सही-सही निर्णय कर लिया वह पुरुष धर्म का आचरण करेगा । तो जिसने अपने स्वरूप का परिचय पाया वह कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु आदिक बाहरी बातों के पूजन वंदन में न लगेगा । भय, आशा, स्नेह, लोभ से यह सम्यग्दृष्टि जीव इन कुशास्त्रों को प्रणाम विनय नहीं करता।

भयादि किसी कारण से भी कुगुरु के प्रति आस्था की शुद्धबुद्धि आत्मा के असंभवता—कुगुरु जो विषयों की आशा के आधीन हैं, जो आरम्भ परिग्रह में लगा करते हैं, जिनके चित्त में ज्ञान, ध्यान, तपश्चरण की बातें नहीं आती हैं, जिनको लौकिक पुजापने का भाव है वे पुरुष कुगुरु कहलाते हैं। ऐसे कुगुरुवों को सम्यग्दृष्टि जीव भय से भी प्रणाम विनय नहीं करता। हां मान लो कुछ परिस्थितिवश करना ही पड़े प्रणाम विनय किसी की जबरदस्ती करने से तो उसके सम्यक्त्व में दोष नहीं पैदा होने पाता । उसको स्वयं भीतर में श्रद्धा नही है और न वह प्रणाम विनय की वृत्ति से करता है । उसके दोष नहीं है । जैसे किसी ने खाने पीने की कोई चीज त्याग रखी है और कोई दूसरा उसे जबरदस्ती खिला पिला दे तो उसका नियम भंग न कहलायगा । सब बात अपनी भावना पर निर्भर है ज्ञानी जीव भय से कुगुरु को नमन नहीं करता । कहीं राजागण मुझे प्राण दण्ड न दे दें ऐसा भय ज्ञानी जीव को नहीं होता । ज्ञानी को भय किसका? लोग क्या कहेंगे? मुझको बुरा सोचेंगे या मुझ से लोग घृणा करेंगे तो यह सब उन्हीं का उन्हीं को भेंट होगा? मेरे पर उसका कुछ प्रभाव नहीं है । जिसका जैसा विचार होगा उसके अनुकूल कर्म का बन्धन चलता है । ज्ञानी पुरुष क्यों भय करे । क्यों वह कुगुरु को वंदन करे ? उसे किसी का भी संकोच नहीं । वह केवल एक अपने में ज्ञानभावना बनाये हुए है । ज्ञान की चर्चा, ज्ञान से ही प्रसन्नता ऐसी जिसकी रुचि है वह ज्ञानी भय से भी कुगुरु को नमस्कार नहीं करता । आशा भी नहीं रखता कि ये सन्यासी जी मेरे को कोई मंत्र देंगे या मेरे पर कृपा करेंगे कि मैं मालोमाल होऊं या जो भी चाहे, ऐसी श्रद्धा ज्ञानी के नहीं है । वह जानता है कि मुझे बाहरी वैभव से भी प्रयोजन नहीं । मैं तो अपने में अपने स्वरूप को निरखता रहूँ, इसके अतिरिक्त कुछ न चाहिए । ज्ञानी जीव कुगुरु से कोई आशा नहीं रखता । स्नेह भी नहीं कि यह मेरा पड़ौसी है या इसको मेरे बाबा, पिता बड़े प्रेम से रखते आये हैं या किसी तरह का स्नेह करके कुगुरु को प्रणाम वंदन ज्ञानी पुरुष नहीं करता । वह तो अपने को अकिञ्चन मान रहा है । मेरा कुछ नहीं है, मैं अन्य किसी रूप नहीं, मैं अपने स्वरूपमात्र हूँ इस धुन में रहने वाला पवित्र व्यक्ति लोभ का भाव रखे यह नहीं हो सकता । कुगुरु को लोभवश भी वह प्रणाम विनय नहीं करता । धन मिले, रोग हटे, मुकदमें में विजय मिले आदिक किसी भी प्रकार के लोभ से सम्यग्दृष्टि जीव कुगुरु को प्रणाम विनय नहीं करता ।

ज्ञानी की दृष्टि की शुद्धता—देखिये लोक में कुदेव, कुशास्त्र कुगुरु का बड़ा ही प्रसार है । अच्छी चीज कम हुआ करती है, संसार का एक ऐसा प्राकृतिक नियम है । भले जीव जिन्होंने अपना ज्ञानप्रकाश पाया और उस ज्ञानभक्ति में रहा करते हैं ऐसे जीव इने गिने है, दुर्लभ हैं, बड़ी कठिनाई से मिलते हैं, शेष जीव तो विषय

कषायों के अधीन हैं । अब उनमें कोई देवत्व की बुद्धि करें तो समझो कि उनके ज्ञान में कमी है । ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव को एक-दम यह निर्णय है कि सब असार है, सब बेकार है । एक अपना स्वभाव स्वरूप परमार्थ है । परमार्थ की दृष्टि में ही दुःखों का क्षय है, कर्मों का हटाव है, ऐसा निर्णय सम्यग्दृष्टि जीव के स्पष्ट बना हुआ है । वह किसी भय से, आशा से, स्नेह से, लोभ से, कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु का वंदन नहीं करता । थोड़ा लोक व्यवहार में एक अड़चन सी आती है, जिसके लिए लोग प्रश्न करते है कि कई प्रसंग ऐसे होते हैं कि हम पड़ौसी लोगों के साथ हैं और वे कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु के वंदन में भी चल रहे हैं, उनसे हमारे ताल्लुकात अच्छे हैं, हमारे उनसे बड़े काम बनते हैं तब फिर क्यों न उन जैसी क्रियायें करें? ऐसा एक प्रश्न होता है, तो भाई उनकी इस बात का उत्तर मेरे पास नहीं है । उसका उत्तर तो वे स्वयं ले लेंगे । ठीक है परिस्थितिवश जो करना पड़ रहा सो तो कर रहे, पर यह बात निश्चित है कि जिसकी जैसी भावना है उसको वैसा फल मिलेगा । जिसे कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु के प्रति आस्था है वह अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है, वह नियम से संसार में रुलेगा । और जिसे सच्चे देवशास्त्र गुरु के प्रति श्रद्धा है वह ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि है, उसका संसार बंधन कटेगा । तो चाहे कैसी ही स्थितियां आयें सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान रहे । इस सही श्रद्धान से विचलित न हों । इसके प्रताप से अपना सारा भविष्य उज्ज्वल बनेगा।

श्लोक 31

दर्शनं ज्ञानचारित्रात् साधिमानमुपाश्नुते ।
दर्शनं कर्णधारं तन्, मोक्षमार्गे प्रचक्ष्यते ।।३१।।

सम्यग्दर्शन की मोक्षमार्ग में कर्णधाररूपता—सम्यग्दर्शन की सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से भी विशेषतया आदरणीय रूप से यों उपासना की गई है कि ज्ञान चरित्र के सम्यक् होने का मूल सम्यग्दर्शन है, इसी कारण सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग में खेवटिया के समान है । आत्मविकास में सम्यग्दर्शन और सम्पकत्वारित्र ये दो मूल साधन हैं । सम्यग्ज्ञान तो साथ लगा हुआ है । सम्यक्त्व साथ हुआ, सम्यग्ज्ञान कहलाया । चारित्र विशेष बढ़ा, ज्ञान का विकास बढ़ा पर विकास का मूल है सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र । यह ही कारण है कि गुणस्थान में इन दो की अवस्थायें ही बतायी गई हैं—सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र । यों समझिये कि जैसे नौका चलाने के लिए दो की आवश्यकता होती है, एक तो पीछे से कर्णधार चप्पू चलाता रहे और दूसरा—आगे से नाव खेने वाला नाव को खेता रहे । इन दो के बिना नाव इष्ट स्थान पर नहीं पहुंच सकती । अब यहाँ यह विचारो कि नाव खेने वाले का काम क्या है और चप्पू वाले का काम क्या है? खेने वाले का तो काम है नाव को आगे बढ़ाना और चप्पू वाले कर्णधार का काम है दिशा देना । कर्णधार जैसा हुक्म देगा उस ओर को नाव चल पड़ेगी, ऐसे ही श्रद्धा जैसा हुक्म देगी आत्मा की गति उस ओर बढ़ जायगी । सम्यग्दर्शन को कर्णधार कहा है । सम्यग्दर्शन होते ही आत्मा में धैर्य हो जाता है । उसके चित्त में उल्झन नहीं रहती । उसका एक ही निर्णय है कि सहज आत्मस्वभाव को निरखना और इस ही में तृप्त रहना, यह ही एक कार्य है । उसके आकुलता नहीं जगती । भले ही चारित्रमोहकृत आकुलता है, पर मूल में आकुलता नहीं रहती । तब ही तो बताया कि नारकी सम्यग्दृष्टि जीव नारक कृत दुःख भोगता है फिर भी भीतर अनाकुल रहता है । देव सम्यग्दृष्टि जीव अनेक

देवागनाओं में रमता है फिर भी उनमें अनासक्त रहता है भरतचक्रवर्ती को घर में वैरागी बताया । पर घर में रहते तो विरक्त कैसे? विरक्त तो गृहत्याग पर ही कहलाता वास्तविक मायने में, किन्तु घर में रहते हुए भी लौकिक सर्व बातों से उदास थे । उनको अपने अन्दर में सहज स्वभाव का प्रकाश जग गया था । मै यह हूँ और मैं ज्ञान की वृत्ति के सिवाय और कुछ कर सकता नहीं हूँ । यह मैं ज्ञान की वृत्ति को ही भोगता रहता हूँ । इसके अतिरिक्त न मैं अन्य कुछ करता हूँ न भोगता हूँ ।

अपनी वास्तविक शान्ति के लिये पौरुष करने में विवेकिता—देखिये—सभी मनुष्य अपनी शान्ति के लिए प्रयास करते हैं । सबका ध्येय एक है । मेरे को शान्ति मिले, दुःख न रहे । यही बात तो जैन शासन बता रहा है कि आपको सदा के लिए शान्ति मिली और कभी भी कष्ट न आये, उसका उपाय आपके आत्मा में खुद ही बसा हुआ है । वहाँ कुछ पराधीनता भी नहीं है, अपने स्वरूप को जानिये और अपने स्वरूप में ही रमिये—क्या सम्बंध है आपका घर के परिजनों के साथ, सही बात सोचिये—आपके पुत्र-पुत्री स्त्री भाई बंधु आदिक जो भी हैं उन जीवों के साथ आप कहां चिपके हुए है, कहां लगे हुए हैं कहां सम्बंध बना हुआ है, निरखिये ध्यान से, कुछ भी नहीं है । आप तो गुजारा करने के लिए घर में रह रहे हैं, इससे अधिक और कुछ प्रयोजन नहीं है आपका । गुजारा कर चुके, आगे चल दिया, कुछ भी मतलब सिद्ध होता हो मिले हुए समागम से तो आप बताओ । कुछ बात नहीं है लेकिन परिजनों के पीछे ही अपना सारा उपयोग तन, मन, धन, प्राण, वचन आदि जो कुछ आपके पास है उनको ही समर्पित करते हैं और अपने को दैन्य अनुभव करते हैं । अपने आपमें क्या मंजूर है, कैसा निर्दोष है, कैसा ज्ञानानन्दस्वरूप है उसको नहीं निरखते और बाह्य दृष्टि करके बड़ा मौज मान रहे । ठीक है, भला पति है, भली पत्नी है, सब ठीक है, किन्तु परिणमन तो सबका अपने आपका अपने में है और जो भी भला हो रहा वह अपनी शान्ति सुख के लिए हो रहा । आपको कुछ भी देने में समर्थ दूसरा है ही नहीं, उस ओर तो दृष्टि नहीं । तो कुछ अपने आपको शान्ति चाहिए तो विवेक करना पड़ेगा अगर विवेक नहीं रखते तो संसार में परिभ्रमण कर दुःख ही भोगते रहना पड़ेगा । आपका विवेक आपके हाथ है । अपने को निरखो सबसे निराला ज्ञानमात्र । इस अंतस्तत्त्व में ही मग्न होने की भावना रखिये ।

प्रवृत्ति के बीच रहकर भी निवृत्ति का आशय रखने वाले ज्ञानी के परिचय के लिये एक पौराणिक उदाहरण—भरत चक्रवर्ती के निवृत्ति का ही भाव था राज्य करते हुए भी इसलिए उनको घर में वैरागी कहा जाता है। राजावों से बात कर रहे हैं, चित्त अपने आपके स्वरूप ओर लगा है। ज्ञानियों के बीच बैठे विनोद कर रहे हैं उपयोग अपने आत्मस्वभाव की ओर खिंचा हुआ है। अरे ऐसा भी हो सकता है क्या? हां हो सकता है चारित्र मोह का मंद उदय होने पर ज्ञानी की ऐसी ही वृत्ति होती है। एक बार किसी पुरुष ने भरत चक्रवर्ती से प्रश्न किया कि महाराज आप घर में तो रह रहे, राजपाट सम्हाल रहे, फिर भी लोग आपको वैरागी क्यों कहते? तो वहाँ भरत चक्रवर्ती ने उसे तुरन्त कोई उत्तर न दिया, कहा कि फिर बतायेंगे। अब भरतचक्रवर्ती ने क्या किया कि अपने यहाँ के कुछ सिपाहियों से समझा दिया कि देखो इस पुरुष को हम कुछ आदेश देंगे, तुम्हें भी इसका सिर उड़ाने का हुक्म देंगे, सो सिर तो न उड़ा देना, पर इस पुरुष को यह न मालूम होने पावे कि चक्री ने यों ही झूठमूठ सिर उड़ाने की बात कहा है। यों सारी बात समझा दिया सिपाहियों को। फिर उस पुरुष को

हुक्म दिया कि देखो तुमको तेल से भरा एक कटोरा दिया जायेगा, उस कटोरे को लेकर हमारे राज्य का सारा वैभव तुम्हें देखकर आना है, बाद में पूछेंगे कि कहां क्या देखा, और शर्त यह है कि इस तेल के कटोरे से एक भी बूंद तेल कम न होने पावे, यदि तेल कम हुआ तो तुम्हारे साथ चलने वाले इन सिपाहियों को हमारा आदेश है कि वे तुम्हारा सिर उड़ा देंगे। अब वह पुरुष विकट समस्या में आ गया कि चक्री का सारा वैभव देखना भी जरूरी है, नहीं तो पूछेगा तो क्या बतायेंगे और तेल पर निगाह रखना भी जरूरी है नही तो कम हों जाने पर गर्दन कटेगी । खैर चला वह पुरुष चक्री का वैभव देखने घुड़साल, रानियों का अन्तःपुर, रत्नों का भण्डार आदि सब देखा, पर निगाह बराबर तेल पर रही । सब वैभव देखकर वापिस आया । वापिस आने पर चक्री ने पूछा कि बताओ तुमने मेरा क्या-क्या वैभव देखा? तो वह पुरूष बोला—महाराज देखने को तो मैंने आपका सारा वैभव देखा पर मैं उस विषय में बता कुछ नहीं सकता, क्योंकि निगाह मेरी कटोरे के तेल पर थी । तो वहाँ किसी मंत्री वगैरह ने उस पुरुष से कहा कि बस यही उत्तर तो चक्री का है तुम्हारे उस प्रश्न का कि घर के बीच वैरागी कैसे? महाराज घर के बीच रहकर राज्य की सब व्यवस्था करते हुए भी अपने ज्ञानस्वभाव की सुध से च्युत नहीं होते हैं । मंत्री की इस प्रकार की बात सुनकर समझ लिया उस पुरुष ने कि सचमुच भरत जी घर के बीच भी वैरागी है । अभी आप यहाँ भी देख लीजिए जब किसी का कोई इष्ट घर में गुजर जाता है तो वह यद्यपि घर गृहस्थी के बीच रहकर सब काम करता है फिर भी ख्याल उसको अपने इष्ट का बना रहता है । तो सम्यक्त्व जग जानें पर सम्यग्दृष्टि पुरुष की यही स्थिति रहती है । तात्पर्य यह है कि रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन एक सोपान है इसलिए वह बहुत ही उत्कृष्ट तत्त्व है ।

श्लोक 32

विद्यावृत्तस्य सम्भूति-स्थितिवृद्धिफलोदयाः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव।।३२।।

सम्यक्त्व के अभाव में ज्ञान और चरित्र की संभूतिस्थिति वृद्धि आदि की असंभवता— सम्यग्दर्शन क्यों इतना महत्वशाली है, आदरणीय है, उसकी सिद्धि में यह श्लोक कहा गया है । ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति, ज्ञान और चारित्र का ठहराव, ज्ञान और चारित्र की वृद्धि, ज्ञान और चारित्र के फल का उदय सम्यक्त्व के न होने पर नहीं हो सकता । जैसे कि बीज यदि नहीं है तो वृक्ष की उत्पत्ति, वृक्ष का ठहराव, वृक्ष की वृद्धि और वृक्ष में फलों का लगना नहीं बन सकता । बीज ही नहीं हैं तो वृक्ष में अंकुर कैसे उत्पन्न होंगे? ऐसे ही सम्यक्त्व ही नहीं है तो सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कहां प्राप्त होंगे?

यथार्थज्ञान और सम्यग्ज्ञान का विश्लेषण—एक यहाँ जिज्ञासा हो सकती है कि सही ज्ञान न हो तो सम्यक्त्व कैसे बन जायगा? इसलिए सम्यक्त्व से पहले सम्यग्ज्ञान बताना चाहिए। समाधान में थोड़ा मनन करें। एक दृष्टान्त लो—जैसे किसी ने मानो बाहुबली की मूर्ति को नहीं देखा श्रवणबेलगोल में जो बनी है पर उसके बारे में साहित्य से, दूसरों के कहने से या उसकी प्रतिमूर्ति रूप मंदिर में जो बाहुबली की मूर्ति है उसके देखने से मूर्ति का सारा ज्ञान तो कर लिया, उसका फोटो भी भली भांति देखा और उसके शरीर के अंगों की लम्बाई, चौड़ाई आदि की भी पूरी जानकारी कर लिया, एक तो इस प्रकार का ज्ञान, और एक ऐसा ज्ञान कि वही

व्यक्ति श्रवणबेलगोल पहुंचकर पहाड़ पर चढ़कर साक्षात् रूप में उस मूर्ति के दर्शन करे, तो बताओ इन दोनों प्रकार के ज्ञानों में कुछ फर्क है कि नहीं? है फर्क। क्या है वह फर्क कि एक तो था अनुभवरहित ज्ञान और एक हुआ अनुभव सहित ज्ञान। उस मूर्ति के देखने से पहिले उस मूर्ति के बारे में बहुत कुछ ज्ञान करने पर भी वह ज्ञान अनुभवसहित न था उस विषय का और मूर्ति के निरखने पर साक्षात् देखा समझा तो वह ज्ञान हुआ बहुत प्रतीति सहित। ऐसे ही जिस जीव को सम्यक्त्व होता है उसे विपरीत ज्ञान के कारण नहीं होता। होता है सही ज्ञान। जैसा पदार्थ है, द्रव्य गुण पर्यायों का स्वरूप है, जो-जो कुछ यथार्थता है उस यथार्थता वाला ज्ञान जिसके है उसको ही सम्यक्त्व होगा। विपरीत ज्ञान वाले को सम्यक्त्व न होगा। लेकिन सम्यक्त्व होने पर वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सम्यक्त्व होने से पहले वही सही ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता है। उसमें अन्तर क्या आया कि सम्यक्त्व होने पर अनुभूति सहित ज्ञान बना और सम्यक्त्व से पहले अनुभूति रहित ज्ञान था। सो सम्यक्त्व उत्पन्न होने के लिए सही ज्ञान ही काम देगा। विपरीत ज्ञान काम न देगा। जैसा आत्मद्रव्य है, जैसा जैनशासन में बताया है, जैसा गुरुजनों ने उपदिष्ट किया है उस विधि से जानें। मैं चैतन्य पदार्थ हूं, मेरे में ज्ञानशक्ति , दर्शनशक्ति , चारित्रशक्ति , आनन्दशक्ति आदिक अनन्त शक्तियां हैं। हैं फिर भी यह मैं आत्मा कोई एक अखण्ड पदार्थ हूं और वह मैं निरन्तर परिणमता रहता हूं। मेरा सर्वस्व मैं ही हूं। मेरी करतूत बस उस चेतना की परिणति भर है। जानने देखने से अतिरिक्त मेरी कुछ करतूत नहीं है कि मैं बाहरी किसी पदार्थ को कुछ कर सकूं। ज्ञान जैसे बनता है उस माफिक ही अपने में मैं अपने को भोगता रहता हूं। इससे अतिरिक्त बाहर में मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं है।

वर्तमान परिस्थिति में आत्मनिरीक्षण का अनुरोध—अब ध्यान में दीजिये कि घर में रहने वाले जीवों पर आपकी किस तरह की दृष्टि रहती है। ये मेरे ही तो हैं और मेरा इन्हीं से ही तो बड़प्पन है। ये ही तो मेरे सब कुछ हैं, और किसके हो जायेंगे? ऐसे तीव्र लगाव के साथ यदि भीतरी आशय बना है तो इसे आप सब कुछ हैं, और किसके हो जायेंगे? ऐसे तीव्र लगाव के साथ भीतरी आशय बना है तो इसे आप अपने पर बड़ी विपत्ति समझिये, क्योंकि उस प्रकार का कर्माश्रव होता है। वहाँ बंध है, उदयकाल में वैसा फल मिलेगा। संसार में जन्म मरण चलता रहता है। मान लो परिस्थितिवश घर में रहना पड़ता है तो रहो पर श्रद्धा में यह बात रहे कि मैं तो चैतन्यमात्र हूं। मेरे में एक तो मुझ चेतना का परिणमन चलता रहता है और मैं चेतना को ही भोगता रहता हूं। इससे बाहर मेरा रंचमात्र भी किसी से भी सम्बन्ध नहीं, पर मैं अकेला ही रहूं, कोई परिग्रह न रखूं और आत्मसाधना ही करता रहूं, ऐसी स्थिति में मैं अभी नहीं हूँ अतएव घर में रहना आवश्यक हो गया । घर में रहना तब ही ठीक बन पायगा जबकि सबके साथ प्रीति का व्यवहार रहे । लो यों परिस्थितिवश करना आवश्यक हो गया, पर भीतर में यथार्थ ज्ञानप्रकाश हो तो वह गृहस्थ घर में रहता हुआ भी धर्म मार्ग में चल ही रहा है । मोक्ष मार्ग में चल ही रहा है । तो भाई अज्ञान, मोह को भयंकर विपत्ति मानो । किसी दूसरे जीव को अनिष्ट समझ कर और उसे देखकर ही भीतर दुःखी बने रहना यह कर्तव्य नहीं है किन्तु अपने ही अज्ञान और मोह को अपने बिगाड़ वाला शत्रु समझना । अज्ञान दूर होगा, मोह दूर होगा तो भीतरी ज्ञान प्रकाश होने के कारण यह कृतार्थ हो जायगा । सम्यक्त्व की महिमा को कह रहे हैं कि सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का

अभ्युदय इस सम्यक्त्व के प्रताप से होता है । जैसे कि बीज के प्रताप से अंकुर बनता है ।

सम्यक्त्व के सद्भाव में सम्यक्चारित्र का विलास—सम्यक्चारित्र की भी बात देखिये—अणुव्रत महाव्रत रूप चारित्र यह तो सम्यक्त्व के बाद ही होता है, मगर सम्यक्त्व होते ही सम्यक्त्वाचरण तो हो ही जाता है जो कि स्वरूपाचरण का एक आंशिक प्रारम्भ है । जब अपने आत्मा के सहज स्वरूप को जानो तो उसको जानते ही कितना ही क्षोभ मिटा, कषायें मिटी, उद्वेग मिटा, धैर्य मिला, तो यह क्या चारित्र की शकल नहीं है? है वह अणुव्रत से नीचे दर्जे का, मगर कुछ तो आत्मा में प्रभाव पड़ा ही है । तो ऐसा सम्यक्त्वाचरण रूप चारित्र यह है चारित्र का अंकुर । फिर वही बढ़ेगा तो अणुव्रत रूप, महाव्रत रूप, समाधिरूप यह बढ़ता चला जायगा । तो चारित्र की उत्पत्ति सम्यक्त्व के बिना नहीं हो सकती । इसी तरह स्थित बना रहे, ठहरा रहे, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इनका साधन वह सम्यग्दर्शन है, फिर यह बढ़ता रहे, आत्मस्वरूप की ओर दृष्टि दृढ़ रहे, यह भी सम्यक्त्व के होने पर ही तो सम्भव होता, सम्यक्त्व के अभाव में नहीं, और फिर सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का फल अनाकुलता, शान्ति, ये फल भी मिले तो सम्यक्त्व होने पर ही तो मिल सके । सम्यक्त्व के अभाव में सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र की न उद्भूति है न अनाकुलता का अनुभव बन सकता है इस कारण सम्यक्त्व बहुत प्रधान है ।

आत्ममनन के कर्तव्य से विमुख न होने का कर्तव्य—भैया, थोड़ा चित्त में बसाओ तो सही कि ये धन वैभव परिग्रह मेरे लिए बेकार हैं । इनके लगाव में, इनके संगम में, इनकी आशा में, तृष्णा में मेरे को मिलता कुछ नहीं है, बल्कि जो उसमें पाप कमाया उसका फल भोगने को मिल गया सो आगे फल भोगना पड़ेगा । और मेरे स्वरूप का भान हो जाये, मैं सहज अपने सत्त्व से किस रूप हूं? अमूर्त चैतन्यस्वरूप, आकाशवत् निर्लेप निमित्त नैमित्तिक बंध हो गया है और उसको भी हमारी गलती ही बढ़ा रही है, पर स्वरूप को देखिये—स्वरूप में विकार नहीं, स्वरूप में कष्ट नहीं । जैसा सिद्ध का स्वरूप वैसा मेरा स्वरूप । ज्ञानानन्द की शक्ति वाला । ऐसे अपने स्वरूप में कितनी पवित्रता है, कितनी उत्कृष्टता है उस ज्ञानस्वरूप को निहारो और उस ही रूप अपना अनुभव बनाइये । मैं यह हूँ यह कोशिश करना है । करेंगे तो पार हो जायेंगे, न करेंगे तो संसार में रुलेंगे । मैं ज्ञानमात्र हूँ, अन्य रूप नहीं हूँ । जो इसका नाम धरा गया फलाने चंद, फलाने लाल, या जो-जो भी नाम रखे गये वे इस अमूर्त आत्मा के नाम नहीं हैं । वे पिण्ड के नाम धरे गए । बोलने वाले तो लोग ही हैं । ये लोग जिसको देखें, जिसको देखकर कहें नाम उसका । मैं अमुक लाल नहीं, अमुक चंद नहीं, अमुक कार्य वाला नहीं, व्यापारी नहीं, सर्विस वाला नहीं, अमुक का बाप नहीं, अमुक का पुत्र नहीं, अमुक का अमुक नहीं । यह सब पिण्ड के साथ व्यवहार है । मैं आत्मा तो इस देह देवालय में विराजमान चेतनामात्र परमात्म पदार्थ हूँ । ऐसे इस सहज परमात्मतत्त्व में अपनी स्वीकारता आ जाय बस समझिये कि नियम से वह मोक्ष जायगा । कभी भी जाय । अब वह संसार के समस्त संकटों से सदा के लिए मुक्त हो जायगा ।

सम्यक्त्व का महत्त्व—संसार संकटों से छुटकारा पाने में मूलत: माहात्म्य सम्यक्त्व का है । इसी सम्बंध में श्री गुणभद्राचार्य ने कहा है—शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंस: । पूज्य महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसंमुक्तम्

। आत्मानुशासन ग्रंथ में कहा गया यह आर्याछन्द है, अभी तक श्लोक में वर्णन था । संस्कृत में श्लोक का राग दूसरा होता है, आर्याछन्द का राग दूसरा होता है । श्लोक में ३२ अक्षर होते है, ८-८ अक्षरों का एक-एक चरण होता है और उसमें ५वां अक्षर हस्व और छठवां अक्षर दीर्घ, इतना ही उसमें नियंत्रण हैं, बाकी कैसी ही मात्रा कहीं हो ३२ अक्षरों में राग बनना चाहिए । आर्याछन्द में चार चरण होते हैं । प्रथम चरण में १२ मात्रायें दूसरे चरण में १८, तीसरे में १२ और चौथे में १५ मात्रायें होती हैं । इस छन्द में यह बताया गया है कि यदि सम्यग्दर्शन नहीं है तो कितनी ही मंद कषाय हो, कैसा ही ज्ञान हो, कितना ही चारित्र पालन करें और कितना ही तपश्चरण करें तो वह पत्थर की तरह बोझ मात्र है और यदि सम्यक्त्व है और उसके साथ थोड़ा भी मंदकषाय, ज्ञान, चारित्र और तप हो तो भी वह महामणि की तरह महत्त्वशाली है । पत्थर अनेक होते हैं । मणि भी पत्थर है और छतों पर डाले जाने वाले या नीचे बिछाने वाले पत्थर भी पत्थर हैं, मणि की तो लाखों कीमत है और इन साधारण पत्थरों का अति अल्प मूल्य है । तो जैसे लोक में इन पत्थरों का अधिक महत्त्व नहीं माना जाता और मणि का महत्त्व अधिक है ऐसे ही सम्यक्त्व के साथ यदि चारित्र आदिक हैं तो उनका महत्त्व अधिक है । और सम्यक्त्व के बिना यदि तपश्चरण आदिक हैं तो उनका महत्त्व नहीं है । यद्यपि सम्यक्त्व रहित पुरुष के भी तपश्चरण मंद कषाय आदिक हों तो उनका भी कुछ फल होता है । सद्गति में जन्म हो जाता है, पर मोक्षमार्ग नहीं बनता, इस दृष्टि से यह कथन चल रहा है । सम्यग्दर्शन ही इस जीव का सर्वस्व है, परम कल्याण करने वाला है, ऐसे पवित्र अच्छे कुल में जन्म पाकर एक ही धुन बनाना चाहिए मूल में कि मेरे को मेरे में बसे हुए सहज परमात्मस्वरूप का दर्शन हो, अनुभव हो, इसके अतिरिक्त कुछ न चाहिए । यह बात हम मुनियों की नहीं कह रहे, उनकी तो और ऊंची वृत्ति है पर गृहस्थों की बात कह रहे कि एक ही धुन होनी चाहिए मौलिक कि मेरे को क्या चाहिए । मेरे आत्मा के सहजस्वरूप का अनुभव चाहिए ।

जीवन का मूल उद्देश्य सही होने पर जीवन की सफलता—यद्यपि गृहस्थी में रहकर अनेक कार्य करने पड़ते हैं, करना पड़ेगा । पर हर एक के मन में कोई मौलिक अभिलाषा रहती है । ऊपरी इच्छायें भी चलती है, पर एक उद्देश्य वाली इच्छा भी साथ रहती है । उद्देश्य वाली यह इच्छा रहती है कि मेरे इतना वैभव हो जाय कि इस दुनिया में मैं प्रथम नम्बर में कहलाऊं, यह उसके भीतर में मौलिक इच्छा रहती है, पर केवल इतनी ही इच्छा रहती क्या? क्या खाने पीने पहिनने ओढ़ने आदि की इच्छा नहीं होती है? होती है अनेक इच्छायें चलती हैं, पर एक इच्छा उसकी मौलिक है यह कि मेरे इतनी सम्पदा बने, जो दुनिया में सिरमौर कहलाऊं । ऐसी ही बात कह रहे हैं कि वह मौलिक इच्छा हितकारी नहीं है। मान लो तीन लोक का वैभव भी जुड़ गया तो उससे आत्मा को क्या मिल जायगा? क्या मरण समय सब कुछ छूट न जायगा? उस वैभव से क्या लाभ पा लिया जायगा? तो मेरे को इतनी सम्पन्नता हो जाय कि मैं सर्वप्रथम कहलाऊं, यह इच्छा करना मूढ़ता भरी इच्छा है, किन्तु आदत तो है ऐसी कि प्रत्येक मनुष्य कोई एक इच्छा तो मौलिक रखता है, बाकी इच्छायें अनेक होती है वे गौण होती है, कुछ काल के लिए होती हैं, कुछ परिस्थिति में होती हैं। ऐसी अनेक इच्छायें होना और एक मौलिक इच्छा होना ये दो बातें हर एक मनुष्य में पायी जाती हैं। तो गृहस्थ को मौलिक इच्छा क्या करना चाहिए, यह बात कह रहे हैं। मौलिक अभिलाषा यह होनी चाहिए कि मेरे को मेरे आत्मा के सहज स्वरूप

का दर्शन हो, अनुभव हो, वही ध्यान में रहे, मेरे को यह स्थिति चाहिए, अन्य कुछ न चाहिए, गौण इच्छायें चलती रहेंगी, पर उन बातों पर जो हम लौकिक बातें चाहते हैं उन पर मेरा कुछ अधिकार नहीं है। पूर्व जन्म में कमाये हुए पुण्य के अनुसार यह संयोग मिला। आज कितनी ही कल्पनायें बनायें, कितना ही हम उस सम्पन्न के लिए कोशिश करें, भाव बनायें, पर सफल नहीं होते। यद्यपि यहाँ भी कोशिश तो सभी करते हैं मगर कोशिश बनती हैं, सफल होते हैं, पुण्य के अनुसार। तो इन बाहरी बातों में हम मौलिक इच्छा न बनायें किन्तु मूल अभिलाषा यह रखें कि मेरे में वह ज्ञानप्रकाश प्रकट हो जिससे कि सदा के लिए संकटों से छूट जाऊं।

ज्ञानामृत के पान से अमरत्व की प्राप्ति—लोग ऐसा कहते हैं । कुछ-कुछ पुस्तकों में लिखा रहता है कि अमर फल खाने से अमर हो जाता है, पर यह तो बतलावों कि दुनिया में है क्या ऐसा कोई अमरफल है जिसके खाने से मनुष्य अमर हो जाय? असम्भव बात है । न कोई अमरफल है और न अमरफल कोई खाया जाता । अरे वह अमरफल ही तौ पहले अमर हो जाये । जिसको खाया गया उसका ही जब चूरा हो गया तो फिर वह दूसरे को क्या अमर करेगा? जगत में कोई अमरफल नहीं है कि जिसके खाने से यह जीव अमर हो जाय । या अमृत हो कोई ऐसा कि जिसके पीने से मनुष्य अमर हो जाय । न कोई अमृत है न कोई अमरफल है, पर है कुछ बात उसमें रहस्य की । अगर अमृत पीले कोई तो नियम से वह अमर हो जायेगा, इस बात में कोई संदेह नहीं, मगर वह अमृत क्या है जिसके पीने से यह अमर हो जाता है । वह अमृत है जो न मरे ऐसे तत्त्व का प्रकाश । मेरा आत्मस्वरूप स्वयं सत् है, परिपूर्ण है । जौ सत् होता है उसका कभी विनाश हो नहीं सकता । मैं आत्मा चैतन्य सत् हूँ । मेरा कभी विनाश हो ही नहीं सकता । भले ही जैसे कोई पुरुष इस घर में रहा, दूसरे घर में गया, तीसरे घर में रहा, दसों घर बदले, मगर क्या वह मनुष्य वहीं नहीं है? ऐसे ही यह जीव अनेक शरीर बदलें, मनुष्य हुआ, देव हुआ, कुछ भी हुआ, कितने ही शरीर बदले और कभी शरीर से रहित हो जाय तो आत्मा तो वही है । शरीर के बदले जाने से आत्मा का नाश नहीं है, आत्मा का मरण नहीं है। केवल शरीर के विकारों को ही मरण कहा करते हैं, पर आत्मा का मरण नहीं है। ऐसा अमूर्त स्वभाव का, आत्मतत्त्व का ज्ञान जग जाय और उसी आत्मस्वरूप में ध्यान जम जाय और वह अपने को अविनाशी अनुभव करने लगेगा तो बतलावो इस अमृत तत्त्व के पान करने से यह अमर हो गया या नहीं? अमर तो यह था ही चाहे यह कितना ही घबड़ाये, पर यह जीव अमर है । परन्तु इसे यदि अपने अमरपन का ख्याल नहीं है तो कहां अमर है? अपने उपयोग में जब इसको अपने अमरपन का ख्याल आ जायगा तो यह जीव अमर कहलायगा ।

अपने पर अपना उत्तरदायित्व जानकर आत्मकल्याण का प्रयास करने में ही विवेक—भैया, जरा अपने कल्याण की दृष्टि से सोचिये तो परिवार के लोग मेरे आत्मा को सुखी न कर सकेंगे । जगत की कोई भी घटना मेरे को सुखी शान्त न कर देगी । जगत का एक अणु भी मेरा साथी नहीं है । एक भी कोई जीव मेरा साथी नहीं है । जैसे झंडा हवा के चलने से उलझता है, सुलझता है ऐसे ही यह जीव अपने ही भावों से उलझता और सुलझता है । हम अपने ही भावों के द्वारा अपना उद्धार कर सकते हैं । दूसरा कोई भी मेरा उद्धार करने में समर्थ नहीं है । अपनी जिम्मेदारी अपने में समझिये तो सही, व्यर्थ के विचार, अटपट विकार, अटपट विचार,

इनसे लाभ क्या होगा? ऐसा ध्यान में रखकर कुछ आत्मकल्याण की अभिलाषा बढ़ाइये और आत्मकल्याण की अभिलाषा जिसके होगी उसको अन्य सब बातें बेकार लगेंगी । यह है सम्यग्दर्शन की महिमा । इसके प्रताप से जीवन शान्त रहता है । जिन जीवों के सम्यग्दर्शन है उनके सम्मुख अल्प भी हो उनका ज्ञान, थोड़ा भी हो उनका चारित्र और तप थोड़ा भी हो तो भी वह महत्वशाली है, और उसके प्रताप से जितने भव शेष हैं संसार में वे भव उत्तम मिलेंगे और अन्त में कर्मों से, शरीर से, रहित होकर यह सिद्ध पद प्राप्त कर लेगा ।

श्लोक 33

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो, निर्मोहो नैव मोहवान् ।
अनगारो गृही श्रेयान्, निर्मोहो मोहिनो मुनेः ।।३३।।

निर्मोह गृहस्थ की मोक्षमार्गस्थता—गृहस्थ मोहरहित है वह मोक्षमार्ग में स्थित है । जो मुनि मोहवान है वह मोक्षमार्ग में स्थित नहीं है । क्या यह सम्यक्त्व हो सकता कि निर्मोह होकर गृहस्थ गृहस्थी में रहे? हां यह सम्भव है, पर यह सम्भव नहीं है कि रागरहित होकर कोई मनुष्य गृहस्थी में रह सके । राग किए बिना कोई गृहस्थी में नहीं रह सकता, पर मोह किए बिना भी गृहस्थी में रहा जा सकता है क्योंकि निर्मोहता का सम्बंध है यथार्थ आशय से । जहाँ वस्तु का सही ज्ञान है, प्रत्येक जीव निराला है, किसी जीव के साथ उसका कोई नाता नहीं है । उसका देह और कर्म से भी सम्बंध नही है । सबका सत्त्व जुदा अपने आपमें है, ऐसा स्वतंत्र स्वरूप का ज्ञान हो गया, उसको अब किसी भी पर पदार्थ में आत्मस्वरूप का लगाव नहीं रहा । बस मोहरहित हो गया । मोहरहित होने पर भी जिसकी परिस्थिति ऐसी है कि ज्ञान में रमने की दृढ़ता नहीं है वह पुरुष गृहस्थी बसायगा । वह जब घर में रहेगा तो लोगों से प्रीति भी करेगा प्रीति, बिना घर में न रह पायगा । दुर्वचन बोलकर कोई कैसे खुद शान्त रह सकेगा या दूसरा भी ठीक रह सकेगा? तो राग बिना गृहस्थी में रहना नहीं बनता, पर मोह बिना गृहस्थी में बहुत अच्छा रहना बनता है । मोही गृहस्थ उतने अच्छे ढंग से घर में नहीं रह सकता जितना अच्छे ढंग से निर्मोही रह सकता, क्योंकि मोही गृहस्थ की छाप परिवार के लोगों पर भीतर में नहीं रहती। बच्चे लोग जान लेते हैं कि यह मेरा बाप मुझ पर इतना मोही है कि मरा जा रहा है, आसक्त है। तो उन बच्चों के चित्त में स्वच्छंदता आ जायगी और जहां बच्चे जाने कि मेरे पिताजी निर्मोही हैं, इनको जगत की किसी भी चीज से अनुराग नहीं है इनके साथ रहकर अपने को अच्छा व्यवहार रखना चाहिए, नहीं तो हमारे दुर्व्यवहार से घबड़ाकर यां विरक्त होकर यह किसी भी समय हम को छोड़ सकते हैं । क्योंकि इनका ज्ञानप्रकाश जगा हुआ है, ऐसी हृदय में छाप रहती है परिजनों पर और इसी सद्भावना के कारण परिजन योग्य व्यवहार करेंगे ।

सोदाहरण निर्मोह गृहस्थ का गृहस्थी में आदर्श निवास—जैसे भगवान की भक्ति दो कारणों से की जाती है । एक तो इस कारण से कि लोग मानते हैं कि भगवान ही हमें नरक भेजता भगवान ही हमें सुखी दुःखी करता, भगवान ही हमें गरीब, धनिक बनाता, सो कहीं भगवान हमें दुःख में न डाल दे, नरक में न पटक दे इस डर से या फिर इस आशा से कि भगवान मुझे स्वर्ग के सुख देगा..., यों एक तो इस भय या आशा के वश होकर लोग भगवान की भक्ति करते है । भगवान भी उनके लिए क्या हैं? जिसको मान लिया सो भगवान । भगवान

का स्वरूप उनको सही-सही ज्ञात नहीं है, पर होते हैं कुछ लोग ऐसे जो कि ईश्वर को कर्ता धर्तारूप में मानकर उसकी आराधना किया करते हैं । तो उनकी भक्ति है भय और आशा से, लेकिन जिन्होंने भगवान को वीतराग और सर्वज्ञ जाना है धन्य है उनका पवित्र आत्मा जिन में दोष रंच भी न रहे और गुण परिपूर्ण हो गए ऐसा भगवान के स्वरूप को जानने वाले अपने स्वरूप को भी जानते है कि मेरा जो असाधारण गुण है, जो चैतन्यस्वरूप है, उसका कार्य केवल चैतन्य मात्र है, रागद्वेष करना नहीं है । रागद्वेष होते है कर्म का सम्पर्क पाकर । मैं तो प्रभु की तरह अविकार स्वभावी हूँ । तो ऐसा जानने वाले पुरुष स्वरूप समता की दृष्टि से और स्वरूप के विकास की दृष्टि से भगवन की भक्ति करेंगे । तो आप जानें कि तत्वज्ञानी पुरुष भगवान के और अपने आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले पुरुष प्रीति से भक्ति करेंगे, अनुराग से भक्ति करेंगे, पर निर्दोष गुणसम्पन्नता की दृष्टि न रखने वाले लौकिक पुरुष, केवल कर्ताधर्ता मानने वाले लौकिक पुरुष प्रभु की भक्ति अनुराग से नहीं कर सकते । वहाँ प्रतीति ही नहीं उमड़ सकती, वहाँ परम आल्हाद नहीं बन सकता जिससे भीतर में उमंग बने, वहाँ तो डर और आशा ये दो हैं जिस कारण लोग भक्ति में लगते हैं । तो जो यहाँ अंतर है वैसा ही अंतर निर्मोह गृहस्थ और मोही गृहस्थ के प्रति परिजनों की प्रीति में है । परिजनों की प्रीति मोही गृहस्थ के साथ सही अनुराग पूर्वक नहीं होती, आल्हाद पूर्वक नहीं होती, पवित्र बुद्धिपूर्वक नहीं होती, पर निर्मोह गृहस्थ की प्रीति परिजनों के प्रति आल्हाद पूर्वक होती है, सत्कारपूर्वक होती है । ये पूज्य हैं, पवित्र हैं, ऐसी बुद्धि रखकर हुआ करती है ।

गृहस्थ धर्म द्वारा भी यथोचित धर्मपालन की संभवता—जो गृहस्थ निर्मोह होकर घर में रहता है वह तो मोक्षमार्ग में स्थित है, किन्तु मुनिलिङ्ग भी धारण किया हो और उसके अनुकूल बड़े तपश्चरण भी कर रहा हो लेकिन वह मुनि मोही है तो वह मोक्षमार्ग में स्थित नहीं है । इस कारण मोही मुनि से निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ हुआ करता है । देखिये इस बात का रंज न होना चाहिए कि हम गृहस्थी में हैं, कीचड़ में पड़े हैं, हम क्या धर्म साधना कर सकेंगे? धर्मसाधना का अधिकार तो मुनिजनों को है, ऐसा सोचकर शोक न करना चाहिए । कारण यह है कि प्रवृत्तिरूप धर्म में धर्म के दो भेद बताये गए—(१) गृहस्थ धर्म और(२) मुनिधर्म । गृहस्थ भी तो कल्याण का पात्र है । वह रहे सही ढंग से, मगर वह मोह करता हुआ रह रहा है तो उसके गृहस्थधर्म है ही नहीं । वह तो अन्य तिर्यञ्चों की भांति मुग्ध प्राणी है । उसे धर्म का सवाल ही नहीं उठता । जैसे गाय भैंस आदिक जानवर मोही होते हैं, बच्चों पर प्रीति करते हैं, उनमें आसक्त होते है और अपना ही अपना सोचते हैं, दूसरों में मानों जान ही नहीं, इस दृष्टि से निरखा करते हैं तो जो वृत्ति पशुओं की है वही वृत्ति मोही मुनियों की हो गई, कोई अन्तर न आया, वहाँ धर्म का सवाल ही नहीं उठता, मगर जो सत्य प्रकाश पाये हुये हैं पर द्रव्यों में मोह से रहित हैं, परिस्थितिवश घर में रहना पड़ रहा है सो गृहस्थ धर्म का कर्तव्य भी निभाया जा रहा है । ऐसे सद्गृहस्थ की बात कह रहे है कि उनकी चर्या में धर्मपालन बसा हुआ है, जिसके प्रसाद से उनका मोक्षमार्ग बराबर चल रहा है ।

सद्गृहस्थ की आदर्शचर्या का दिग्दर्शन—सद्गृहस्थ की चर्या भी तो देखिये—सुबह जैसे उठे तो गृहस्थ सामायिक करते हैं । उस सामायिक में सर्वविचार करते है कि मैं कौन हूं, कहां से आया हूँ, कहां जाऊंगा,

मेरा क्या कर्तव्य है, मैं क्या करने लगा इन बातों पर दृष्टि देते है प्रात: काल । प्रभु का स्मरण करते हैं, आत्मस्वरूप का भान करते हैं । पहला काम तो सद्गृहस्थों ने यह किया । अब कोई कहे कि प्रात: उठते ही खाट पर बैठे-बैठे चाय पी रहे, अखबार पढ़ रहे या परिजनों से गप्पें मार रहे यह काम है गृहस्थों का तो उनका यह कहना ठीक नहीं । सद्गृहस्थ ने प्रातःकाल उठते ही सबसे पहले धर्म का ही काम निभाया, दूसरा काम कुछ नहीं किया । उसकी चर्या देखिये—सद्गृहस्थ को प्रात: काल उठते ही कुछ गृहस्थी के आवश्यक कार्य भी करने होते जैसे दूध लेने जाना या गाय भैंस दुहना आदिक मगर सब बातें देखिये कि प्रात: काल में सब धर्म का ही काम चल रहा है । शौचादिक क्रियावों से निवृत्त होकर शीघ्र ही नहाना धोना, मंदिर जाना, पूजा, पाठ, जाप, स्वाध्याय आदि करना, ये सब उसके धर्मभावना की बातें चल रहीं । सद्गृहस्थ की चर्या बतला रहे । पूजन किया, स्वाध्याय किया, घर आये, घर आकर वह सद्गृहस्थ यह भावना करता है कि कोई अतिथि, त्यागीजन मिलें तो मैं उनको आहार कराकर आहार करूं । अब देखिये—यदि शुद्ध भोजन बन रहे हें तब तो। ये भाव कर सकेंगे, अशुद्ध भोजन बनाया, गोभी फूल, आलू, वगैरह बनाया, बाजार का आटा लेकर बनाया तो ऐसा अशुद्ध आहार बनाकर कोई यह भाव कर सकेगा क्या कि मैं किसी त्यागी व्रती को आहार कराकर आहार करूंगा? नहीं कर सकता । पर सद्गृहस्थ शुद्ध विधि से आहार बनवाकर यह भावना करता है कि मैं किसी त्यागी व्रती को आहार देकर भोजन करूंगा । भले ही कोई त्यागी व्रती न मिला फिर भी भावना का फल तो उसने पा ही लिया । आजकल तो शुद्ध विधि से आहार तैयार कराने का तो चलन ही खतम सा हो गया । खुद हाथ से आटा पीस नहीं सकते कुवें से पानी भरकर नहीं ला सकते, मर्यादा की चीजें नहीं रख सकते जीवन इतना विलासी बन गया कि आचरण का कुछ ध्यान न रहा, भक्ष्य अभक्ष्य का कुछ विवेक न रहा, भला बतलावो जहाँ ऐसी वृत्ति बन गई वहाँ त्यागी व्रतीजनों को शुद्ध आहार कराने का भाव कैसे बन सकता? सद्गृहस्थ के अन्दर स्वच्छन्दता की बातें नहीं होतीं । वह अपने आचरण को शुद्ध ढंग से रखने का बड़ा ध्यान रखता है । वह शुद्ध विधि से आहार तैयार कराकर त्यागी व्रती जनों को आहार देकर आहार लेने की भावना रख रहा तो भले ही आहार न हो सके किसी त्यागी व्रती का, पर धर्म पालन उस सद्गृहस्थ के निरन्तर चल रहा है । अभी तक तो रहा धर्मपालन का व्यवहारिक पीरियेड़, अब आ गया उसके धनार्जन का समय ।

सद्गृहस्थ की धनार्जनादि के समय भी सही दृष्टि—सद्गृहस्थ धनार्जन करने जायगा, धनार्जन भी करेगा पर उसका भाव यह रहता है कि न्याय नीति से जितने धन का अर्जन होगा उसका कुछ हिस्सा गुजारे के लिए रहेगा, बाकी हिस्सा धर्म के कार्यों में लगाऊंगा । यदि उसका यह भाव है तो समझो कि धनार्जन करते हुए भी उसके धर्मपालन चल रहा है । यदि धनार्जन करते समय मात्र उद्देश्य रहे अपने परिवार के गुजारे का, धर्मायतनों में खर्च करने का भाव न रहे तो समझो कि वहाँ धर्मपालन नहीं हो रहा । सद्गृहस्थ की भावना रहती है धर्मायतनों में धन को खर्च करने की, इस कारण उसके निरन्तर धर्मपालन चल रहा है । तो ऐसा धर्मपालन करते हुए गृहस्थ का जीवन धन्य है । वह आगे अवश्य ही उत्तम संग पायगा और जल्दी ही बड़ा कल्याण पायगा । तो यहाँ इस श्लोक में बतला रहे कि जो निर्मोह गृहस्थ है वह मोक्षमार्ग में स्थित है और जो मोही मुनि है वह मोक्षमार्ग में स्थित नहीं है । बाहर से तो यों लग रहा कि गृहस्थ बड़े कीचड़ में पड़ा है पर उसका

अंतरंग आशय इतना विशुद्ध है, वह मोक्ष मार्ग में लगा हुआ है । किसी-किसी मुनि का ऊपर से यह दिख रहा है कि यह बड़ा निर्लेप है, शुद्ध है । प्रभु का रूप है, पर अंतरंग में वह कीचड़ में फंसा है, क्योंकि उसमें भीतर में अज्ञान बसा है । तो ऐसे मोही मुनि की बात कही जा रही है कि उस मुनि से निर्मोह गृहस्थ श्रेष्ठ है, तो इस सद्गृहस्थ को श्रेष्ठता मिली कैसे? इस सम्यक्त्व के प्रभाव से, इसलिए इस मनुष्य जीवन में सम्यक्त्व पाने का पौरुष करना चाहिए ।

सम्यक्त्व बिना शान्ति के सर्व उपायों की व्यर्थता जानकर सम्यक्त्वलाभ का यत्न करने का अनुरोध—सम्यक्त्व की महिमा में यह बताया जा रहा है कि यदि सम्यग्दृष्टि गृहस्थ है, निर्मोह गृहस्थ है तो वह मोक्षमार्ग में लगा हुआ है । यदि सम्यग्दृष्टि नहीं है मुनि अर्थात् निर्मोह नहीं है मुनि तो वह मोक्षमार्ग में स्थित नहीं है । निर्मोह कहो, ज्ञानी कहो, सबका एक अर्थ है । जिसके मोह नहीं रहता वही सम्यग्दृष्टि कहलाता है । राग और द्वेष तो रह जायेंगे पर सम्यग्दृष्टि के मोह रंच नहीं रहता । मोह कहते हैं बेहोशी को । जहाँ आत्मा को होश है आत्मा के स्वरूप का प्रकाश है वहाँ बेहोशी नहीं है अर्थात् मोह नहीं है । जो पुरुष सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है वह ही पुरुष वास्तव में भ्रष्ट है । कोई चारित्र से भ्रष्ट हो गया, सम्यक्त्व से भ्रष्ट नहीं है तो उसका उत्थान सम्भव है, वह पुन: चारित्र पा लेगा, पर जो सम्यक्त्व से रहित है उसकी उन्नति का कोई उपाय नहीं है । चाहे कोई कितने ही शास्त्र जानता हो, ११ अंग ९ पूर्व तक का जिसका अध्ययन हो गया हो वह भी यदि सम्यक्त्व से रहित हैं तो वह आराधना से रहित है । किसकी आराधना करेगा? ऐसा पुरुष संसार में ही भ्रमण करता है । हजारों, लाखों, करोड़ों वर्षों तक भी यदि कोई तप कर रहा है, लेकिन है सम्यक्त्व से रहित तो वह कभी रत्नत्रय का लाभ, सम्यग्ज्ञान का लाभ, केवल शान का लाभ पा नहीं सकता । चारित्र से भ्रष्ट को भ्रष्ट कहेंगे और सम्यक्त्व से भ्रष्ट को महाभ्रष्ट कहेंगे । भला जहाँ जड़ कट गई वहाँ कोई वृक्ष का परिवार रह सकता है क्या? वृक्ष वृद्धि को प्राप्त हो सकता है क्या? नहीं, ऐसे ही जहाँ मोक्षमहल की जड़ कट गई, सम्यक्त्व नहीं है वहाँ समाधि का लाभ, मुक्ति का लाभ कैसे प्राप्त हो सकता है? तो बहुत ध्यान से अपने आपको इस संसार में अकेला जानकर अपनी दया का भाव रखना चाहिए । मैं इस जगत में अकेला ही दुःख सुख भोगने वाला हूँ, और अकेला ही मुक्त हो सकूंगा । सर्व स्थितियों में मैं अकेला हूँ, मेरा साथी कोई दूसरा नहीं है । ये जो व्यर्थ के राग प्रेम मोहादि के परिणाम बढ़ रहे हैं परिजनों के साथ ये सब आपत्ति हैं, इनसे जीव के चैतन्यस्वरूप का घात हो रहा है । उनके लगाव में अपने को अकेला जानें और अपने आप में जैसे आपका कल्याण हो वह उपाय बनायें, उन उपायों में सर्वप्रथम उपाय है सम्यक्त्व का लाभ ।

सम्यक्त्वलाभ का उपाय वस्तुस्वरूपविज्ञान—सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए मुख्यतया वस्तु की स्वतंत्रता का ज्ञान करना होता है । मेरे आधीन दूसरा कुछ नहीं, किसी दूसरे के अधीन, मैं कुछ नहीं । जहाँ विकार भी जगता है तो वहाँ भी कर्म का उदय उपस्थित भर है, वह कहीं अपनी परिणति से जीव को विकारी नहीं करता, किन्तु उसका निमित्त पाकर यह जीव अपनी परिणति से विकृत होता है । तो वहाँ भी स्वतंत्रता निरखिये, यदि कोई दूसरा मेरे को विकारी बनाता तो मेरा कुछ वश न चलता कि मैं उस विकार से अलग होऊंगा, क्योंकि वह मुझ से बलवान हो गया जो मुझे विकारी बना देता, अब मैं उससे कैसे पेश पा सकता? पर ऐसा नहीं है कि

कोई मुझे विकारी बना दे । विकार निमित्त है अन्यथा विकार मेरा स्वभाव बन जायगा । पर उपाधि के सन्निधान बिना जीव में विकार नहीं बनते, यह बात निश्चित है । स्थिति वहां यह है कि कर्म उपाधि के सान्निध्य में यह जीव अपनी परिणति से अपने में विकारभाव करता है । जहाँ वस्तु का यह स्वातंत्र्य भी जाना, विकार का निमित्त पाकर जाना वहाँ यह भव्य स्वभाव के अभिमुख होकर अपने स्वरूप की दृष्टि कर लेता है । यह जिन्होंने पाया उन्होंने सब कुछ पाया, बाकी तो बाह्यपदार्थों की तृष्णा में, अर्जन में समय गंवाया तो वह बेकार ही गया । स्वभावदृष्टि में जितना समय बीते उतना समय सफल है । और सम्यक्त्व का उपाय करना यह इस मनुष्यभव में आवश्यक और प्रथम कर्तव्य है । अथवा यही एकमात्र काम है प्रारम्भ में कि मैं अपने सहजस्वरूप का दर्शन और अनुभव करूं ।

सम्यक्त्वरहित व ब्रतरहित होकर भी अपने पैरों में दूसरे को पड़ने देने का दुष्फल—जो जीव सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है और अपने मन में सब जानता ही है, अथवा उद्दण्डता का भाव भी है और मान लो कोई भेष भी रख लिया धर्मात्मापने का और यह आकांक्षा रही कि मैं दूसरों से नमस्कार चाहूं, दूसरा मेरे पैर छुवे तो ऐसा जीव परभव में लूला, लंगड़ा, मूर्ख आदिक होकर दुर्दशा को प्राप्त होता है । सम्यक्त्वरहित पुरुष के पैरों में पड़ना अथवा सम्यग्दृष्टि पुरुषों को अपने पैरों में पड़ाना यह सब एक मोक्षमार्ग की प्रक्रिया से बाहर प्रक्रिया है । यहाँ यह जानना कि सम्यक्त्व का परिचय कौन करता है । अगर जानबूझकर समझ में आये कि इसके सम्यक्त्व नहीं है, इसने सम्यक्त्व किया है मोटे रूप से समझ में आता है तो उसको ऐसी क्रिया न करना चाहिए किन्तु सम्यक्त्व के लाभ के लिए प्रयास करना चाहिए । देखिये व्यवहार पद्धति में यह बात बहुत कही गई है कि जैन शासन में ३ लिङ्ग ही उत्कृष्ट कहे गए है । तीन लिङ्ग ही पूज्य माने गए हैं । (१) एक तो मुनि का रूप । (२) दूसरा उत्कृष्ट श्रावक क्षुल्लक ऐलक का रूप और (३) तीसरा अर्जिका का रूप । चौथा लिङ्ग जैन दर्शन में पूज्य नहीं बताया गया है । तो इन लिङ्गों के सिवाय बाकी जो जीव है वे अपने को सम्यग्दृष्टि घोषित करें और अपने पैरों में दूसरों का सिर धरावें तो उनके बारे में बताया गया है कि अन्य भवो में वे दुर्गति के पात्र होते हैं । देखिये देह भी वंदनीक बन गया यदि उस देह में रत्नत्रयधारी आत्मा विराजमान है । बताते ना कि मुनि का स्वर्गवास हो गया, मृतक देह पड़ा हुआ है तो भी उसे अजीव मंगल कहा गया है । उसके प्रति कुछ थोड़ी बहुत एक आस्था की बुद्धि रहती है । आस्था तो आत्मा में थी मगर उसके प्रति भक्ति की कुछ बात चित्त में आती तो है । यद्यपि यह देह तो हाड़ मांस का पुञ्ज है, उसमें पूज्यता की क्या बात, मगर उसमें गुण रत्न से भूषित आत्मा बसा हुआ है इसलिए वह वंदनीक बताया गया है ।

अपनी भलाई के लिये जीवन में एकमात्र सम्यक्त्वलाभ का आवश्यक कर्तव्य—सम्यग्दर्शन सम्यक में सम्यक के द्वारा सम्यग्दर्शन करना कल्याण का प्रथम सोपान है । समीचीन है मेरा आत्मस्वरूप, उसमें सम्यक द्वारा अर्थात् शुद्ध परिणाम के द्वारा मन और इन्द्रिय से कुछ ज्ञान करके जहाँ मन और इन्द्रिय का आलम्बन भी छूट जाता है, ऐसी अपनी ज्ञानानुभूति द्वारा उस सम्यक्त्वरूप का दर्शन अनुभव करना सम्यग्दर्शन है । सम्यक्त्व की महिमा जानकर अपने में एक ऐसा निर्णय बनावें कि मेरे को सम्यक्त्व लाभ हो, बाकी जो संग है, समागम है वह चाहे किसी भी दशा को प्राप्त हो, उससे मेरा क्या मतलब है? मेरा तो प्रयोजन मेरे आत्मा से है । मेरा सही

आत्मस्वरूप मेरे ध्यान में रहे तो मुझे कोई आकुलता नहीं है । जब अपने स्वरूप को भूलकर बाह्य पदार्थो में विश्वास जमाकर उनके अनुरागी बनते हैं तो वहाँ कष्ट होना प्राकृतिक बात है ।

श्लोक 34

न सम्यक्त्वसमं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ।।३४।।

देहधारी प्राणियों को तीन लोक तीन काल में सम्यक्त्व के समान श्रेयस्कर अन्य कुछ नहीं है और मिथ्यात्व के समान विपत्ति कारक अश्रेयस्कर अन्य कुछ नहीं है । कल्याण और अकल्याण में लगने का सर्व कुछ आधार अपने अन्दर है । बाहरी पदार्थों से कोई दुःखी नहीं होता । सुखी भी नहीं हो सकता, किन्तु बाह्य पदार्थों के विषय में अपने आप में कल्पनायें बनाकर यह जीव और दुःखी होता है । तो कल्याण और अकल्याण का मूल कहां निकला? बाहर नहीं निकला, अपने आत्मा में ही । इस जीव का स्वरूप अमूर्त चैतन्यमात्र ज्ञान और आनन्द से परिपूर्ण है, किन्तु आज की यह दशा बन रही है कि ज्ञान भी नहीं पूरा है, अति स्वल्प है और आनन्द का तो ठिकाना ही नहीं है । है ही नहीं । सुख और दुःख इन दोनों में चलते रहते है तो ऐसी जो स्थिति बनी है उस स्थिति का मूल कारण, साक्षात् कारण तो अपने आपके स्वरूप की बेहोशी है जिसके कारण अनेक तरह की कल्पनायें उठती हैं, पर यह बेहोशी अनैमित्तिक नहीं है । मिथ्यात्व प्रकृति का उदय है जिसका निमित्त पाकर उसकी यह दशा बन रही है । बात बिल्कुल स्पष्ट है । मैं स्वभाव से बुरा नहीं हूँ, किन्तु कर्मोदय का सन्निधान पाकर मैं बुरा परिणमन किया करता हूँ । सो यदि मैं अपनी शक्ति को सम्हालूँ तो उस कर्म में भी अन्तर आ जायगा उन कर्मों की भी निर्जरा बनेगी और मैं कभी निकट काल में ही उन कर्मों से भी छूट जाऊंगा । तो अपना पौरुष यह है कि हम निज सहज स्वभाव की दृष्टि का प्रयत्न करें । सम्यक्त्व के बराबर तीन लोक तीन काल में कोई सारभूत बात नहीं है ।

अपने भविष्य पर दृष्टिपात करने का परिणाम—आखिर सोचिये—यह एक प्रश्न करते जाइये कि फिर क्या होगा । पढ़ते हैं बच्चे लोग, स्कूलों में पढ़ जायेंगे, फिर क्या होगा? डिग्री पास कर लेंगे, फिर क्या होगा? सर्विस पा लेंगे, या व्यापार पा लेंगे, फिर क्या होगा? परिवार बसेगा फिर क्या होगा? खूब सम्पदा जुड़ जायगी फिर क्या होगा? वृद्धि हो जायगी फिर क्या होगा? बस मरण हो जायगा, यहाँ से कूच करना पड़ेगा । सारे जीवन भर श्रम किया मोह की पुड़िया पूरी और अन्त में इसे छोड़कर जाना ही पड़ा । अच्छा फिर क्या होगा? शरीर तो यहाँ ही छूट गया, इसे तो लोगों ने जला डाला । कोई उस मृत शरीर को १० मिनट भी रखना नहीं पसंद करता क्योंकि कुछ ही देर में उस शरीर में से बदबू निकलने की सम्भावना होती है । तो आप इस अपने शरीर को छूकर बोलो जिस शरीर को लोग जला देंगे, जो जलकर राख हो जायगा और जो मैं हूँ, जिसका भीतर में अहं-अहं का बोध हो रहा है वह मैं यहाँ से निकल जाऊंगा, निकलकर कहां जाऊंगा? जैसे मैंने जीवन में पुण्य और पापकर्म किया उसके अनुसार मेरा नया जन्म होगा, फिर वहाँ वैसा फल भोगना पड़ेगा, इस कारण अपने भावों को सही शुद्ध रखिये । एक निरन्तर प्रयास रखिये कि कभी भी किसी जीव पर ईर्ष्या विरोध करने का, दुःखी करने का भाव न रखिये, क्योंकि खोटे भाव रखे जाने का फल कोई दूसरा भोगने न आयगा

। खुद ही कर्म के अनुसार दुख भोगना पड़ेगा । इस कारण अन्तरंग में तो आत्मा के सही स्वरूप की सुध रखिये, प्रवृत्ति में अपने भावों को निर्मल रखिये, स्वच्छ रखिये ताकि अपने मन से, वचन से किसी को अहित न हो । अपने भावों को सही रखें तो आगे भी सद्गति मिलेगी, धर्म का प्रसंग मिलेगा, आत्मदृष्टि बनेगी, आत्मरमण कर सकेंगे, संकटों से छूट सकेंगे । यदि अपने भावों को खोटा रखा तो उससे आपका काम बन ही जाय यह नियम नहीं है । किसीने भाव किया कि मैं अमुक को दु:खी कर डालूँ तो उसके भाव करने से वह दु:खी हो जायगा, यह कोई संभव नहीं है । वह दुखी होगा तो अपने किए हुए पाप के उदय से दु:खी होगा, आपके सोचने से दुखी न होगा । तब फिर बुरा विचारना यह निरर्थक ही तो रहा । इससे कुछ लाभ मिला क्या? तो भावों को सही रखना, अपने आत्मा के स्वरूप की सुध रखना, ऐसा यह जीवन गुजरे तब तो भला है और यदि यह जीवन अटपट रखने में, खोटी हठों में, विषयों की प्रीति में गुजरता है तो मनुष्यभव पाना न पाना समान सा रहा ।

तीन लोक में तीन काल में सम्यक्त्व की श्रेयस्करता—इस मनुष्यभव में एक सम्यक्त्व का ही लाभ लूटिये । कितना काल व्यतीत हो गया? अनन्तकाल । कितना काल व्यतीत होगा? अनन्तकाल । यह लोक कितना बड़ा है? ३४३ घनराजू प्रमाण । उसमें यह त्रसनाली कितनी बड़ी है? १४ राजूप्रमाण । उसमें भी यह मध्यलोक कितना बड़ा है? तिर्यकलोक, एक राजू प्रमाण, चौड़ाई में कम । इतने बड़े लोक में, इतने अपरिमित काल में सारी चीजों पर दृष्टि डालकर देख लीजिए, कुछ भी सार न मिलेगा । सार है तो एक अपने आत्मा का भाव, आत्मा का उपयोग आत्मा के स्वरूप को निरखें और आत्मा के ही चैतन्यस्वरूप में रम जाय, सदा के लिए शरीरों का मिलना खतम हो जाय, कर्म का बन्धन समाप्त हो जाय तो इससे बढ़कर और आप क्या चाहते है? सदा के लिए कोई संकट न रहे यह चाहते है, तो उसका उपाय है सम्यग्दर्शन । उसके लिए अपना सर्वस्व समर्पित हो जाय तो भी कुछ गया नहीं आपका । सम्यक्त्व पाया तो समझिये आपने सर्वसमृद्धि प्राप्त कर लिया । इस सम्यक्त्व के प्रति, आत्मा के सहज भाव के प्रति जिनकी धुन नहीं बनती उनपर क्या विपत्ति छायी हुई है कर्मोदय की कि जिससे वह बेहोशी में पड़ा हुआ है । बेहोशी को त्यागना है और अपने सहज स्वरूप का दर्शन करना है । इस लोक में सम्यक्त्व के समान अन्य कुछ भी उपकार करने वाला नहीं है । देखिये—सम्यग्दर्शन जगने पर यदि संसार में कुछ समय रहना भी पड़े तो भी इन्द्र, अहिमिन्द्र, बलभद्र, तीर्थंकर जैसी विशाल विभूतियां प्राप्त होंगी और फिर निकट काल में ही मुक्ति भी प्राप्त होगी । खूब ध्यान में लाये कि मेरा सम्यक्त्व यह ही मेरे लिए देव है, शरण है, मेरा सर्वस्व है । यह यदि है तो मेरे को कोई आकुलता नहीं है और मेरा आत्मा ही मेरी निगाह में न रहा, बाहरी पदार्थ ही मेरे लिए सब कुछ कहलाये तो वहाँ आकुलता है, कर्मबन्धन है, संसार में रुलना है । तो जानों कि सम्यक्त्व के समान इस जीव का श्रेयस्कर अन्य कुछ नहीं है और मिथ्यात्व के समान इस जीव का बुरा करने वाला जगत में अन्य कुछ नहीं है ।

श्लोक 35

सम्यग्दर्शन शुद्धा नारकतिर्यङ् नपुंसकस्त्रीत्वानि ।
दुष्कुल विकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिका:।।३५।।

सम्यग्दृष्टि का दुर्भवों में अनुत्पाद—जो जीव सम्यग्दर्शन से शुद्ध हुआ है, सम्यग्दृष्टि है वह पुरुष मरण करके कहां-कहां जन्म धारण नहीं कर सकता, उसका वर्णन इस आर्याछन्द में कहा गया है । सम्यग्दृष्टि जीव नरक में जन्म नहीं लेता, केवल एक अपवाद है कि जिसके क्षायिक सम्यक्त्व हो और उससे पहले नरकायु का बंध किया वह सम्यक्त्व में मरकर प्रथम नरक तक जा सकता है । तो इस अपवाद को छहढाला में स्पष्ट किया है । प्रथम नरक बिना षट्भू, पहले नरक को छोड़कर शेष ६ पृथ्वियों में सम्यग्दृष्टि पुरुष का जन्म नहीं होता । किसी को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है और पहले नरकायु का बंध कर लिया तो उसके मरण समय में क्षयोपशम सम्यक्त्व नष्ट हो जायगा और वह तीसरे नरक तक जन्म ले सकता है । पर क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव का सम्यक्त्व छूटता ही नहीं, मरण भी सम्यक्त्व में होगा और उसका पहले नरक से नीचे गमन नहीं हो सकता । वहाँ जन्म नहीं होता । तो सम्यग्दृष्टि जीव का नरक में जन्म नहीं होता, तिर्यञ्च में भी जन्म नहीं होता । सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्व में मरण करके तिर्यञ्च का कोई भी भव धारण नहीं कर पाते । अगर कोई तिर्यञ्च सम्यग्दृष्टि है तो वह भी मरण करके तिर्यञ्च में जन्म न लेगा । सम्यग्दृष्टि जीव नपुंसक और स्त्री पर्याय में जन्म नहीं लेता । भले ही कोई नपुंसक अपने जीवन में सम्यक्त्व प्राप्त करले, भले ही कोई स्त्री अपने जीवन में सम्यक्त्व प्राप्त करले पर सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्व में मरण कर उन भवों में उत्पन्न नहीं होता । सम्यग्दृष्टि जीव खोटे कुल में, खोंटे अङ्ग वाले अर्थात् लंगड़े, लूले, बहिरे जैसे अङ्गों वाले क्षुद्र आयु में उत्पन्न नहीं होता । उसके दरिद्रता भी नहीं होती ।

सम्यग्दृष्टि के दरिद्रता की अप्राप्ति—जिसके सम्यग्दर्शन हो, सम्यक्त्व में मरण हो तो आगे भव में जब उत्पन्न होगा, तो सम्पन्न घर में उत्पन्न होगा, और कोई दरिद्र घर में हो, वहाँ सम्यग्दर्शन हो जाय तो दरिद्रता वहाँ नहीं रहती । दरिद्रता कहते किसे हैं, और धनवान होना कहते किसे हैं? आप उसकी कोई सीमा रख सकते हैं क्या? बताओ कितना धन हो तो धनिक कहलाये? सारे विश्व के धनिक लोग एक गोष्ठी करके यह निर्णय तो दे दें कि कितना धन हो जाये तो धनिक कहलाये । तो धनिक कहलाने की कोई सीमा नहीं होती । एक हजारपति लखपति के आगे अपने की निर्धन अनुभव करता, लखपति करोड़पति के आगे अपने को निर्धन अनुभव करता..., यों अपने से अधिक धनिकों के आगे लोग अपने को गरीब अनुभव करते है । यह धन वैभव कितना ही हो जाय पर इससे अपना बड़प्पन न मानिये । सबसे बड़ा धन तो है संतोष धन । चाहे कैसी ही स्थिति हो, यदि संतोष धन है तो सब कुछ है, नहीं तो कुछ नहीं है । क्या साधारण स्थिति वाले लोगो का गुजारा नहीं होता? क्या वे नहीं खाते पीते पहिनते ओढ़ते? अरे उनका भी सब गुजारा चल रहा है । साधारण रोटी कपड़े के गुजारे के लिए कोई अधिक परिश्रम करने की जरूरत नहीं । अधिक परिश्रम करके धन का संचय तो लोग इस पर्यायबुद्धि के कारण करते है । मैं दुनिया में बड़ा कहलाऊं सेठ साहूकार कहलाऊँ..., सेठ का अर्थ है श्रेष्ठ पर रूढ़ि हो गई सेठ शब्द बोलने की । तो सम्यग्दृष्टि पुरुष जब अपना ही प्रकाश पाये हुए है, उसे किसी भी पर पदार्थ के प्रति आशा का भाव नहीं रहा, फिर उसके लिए दरिद्रता क्या है? आत्मानुशासन में बताया है कि निर्धनत्वं धनं येषां मृत्युरेथ हिजीवितम् । किं करोति विधिस्तेषां येषामाशा निराशता । निर्धनता को जिसने धन समझा याने मुनि महाराज, परिग्रह ही कोई धन नहीं, उस निर्धनता को ही अपना धन समझ रहे, संतोष है ना

उन्हें, मृत्यु ही जिनके लिए जीवन बन गया, आत्मस्वरूप को समझने वाले पुरुष को मृत्यु क्या चीज हैं? जैसे कहीं बैठे हुए किसी पुरुष से कहा गया कि आप यहाँ बैठ जाइये, तो वहाँ से उठकर वह वहाँ बैठ गया, बताओ इससे उस पुरुष का क्या घट गया? ऐसे ही यह आत्मा अभी इस मनुष्य भव में है, इस शरीर में न रहा अन्य नये शरीर के स्थान में पहुँच गया तो इस आत्मा का क्या घट गया? कुछ भी नहीं घटा । ज्ञानी पुरुष के लिए मृत्यु-मृत्यु नहीं है, वह तो उसके लिए नया जीवन है । तो ऐसे जीव का कर्म अब क्या कर लेंगे? कर्म अधिक से अधिक दो खोटी बातें कर सकते थे कि निर्धन बना दें या मरण करा दें, पर जो मरण में प्रसन्न हैं, निर्धनता में प्रसन्न हैं, उन पर कर्म अपना क्या प्रभाव बनायेंगे? तौ ऐसी दरिद्रता की बात कही जा रही है कि जो अपने स्वभाव को देखकर परमात्मस्वरूप की तरह मान रहा, ज्ञानानन्द से सम्पन्न समझ रहा उसे कैसे दरिद्र कहा जा सकता? जिसको अपने ज्ञानानन्द सम्पन्न आत्मा की सुध नहीं वह करोड़पति हो तो भी दरिद्र है और जिसको अपने ज्ञानानन्दस्वभाव की सुध है वह कैसी ही अवस्था में हो तो भी सम्पन्न है । तो सम्यग्दृष्टि पुरुष ऐसी दुर्दशावों में जन्म नहीं लेता ।

अविरतसम्यग्दृष्टि जीव के संवृत ४१ प्रकृतियों में मिथ्यात्वप्रत्ययक १६ प्रकृतियों का नाम निर्देश—सम्यग्दृष्टि पुरुष चाहे व्रतरहित भी हो याने अविरत सम्यग्दृष्टि है उसके भी ४१ कर्म प्रकृतियों को बंध नहीं होता । उन ४१ प्रकृतियों में कुछ तो है मिथ्यात्व के कारण बनने वाले और कुछ हैं अनन्तानुबंधी कषाय के कारण बनने वाले । सम्यग्दृष्टि पुरुष के न मिथ्यात्व का उदय है न अनन्तानुबंधी कषाय का उदय है इस कारण इन प्रकृतियों की वजह से बनने वाली कर्म प्रकृतियों का सम्यग्दृष्टि के बंध नहीं होता । वे प्रकृतियाँ कौन हैं जो मिथ्यात्वप्रकृति के कारण बंधती हैं? मिथ्यात्व । मिथ्यात्व प्रकृति का बंध मिथ्यात्व के उदय से ही सम्भव है । जब मिथ्यात्व का उदय नहीं रहता तो मिथ्यात्व प्रकृति का बंध नहीं होता । इस सम्बन्ध में एक बात और समझ लीजिए कि जिस प्रकृति का, आगे उदय न आ सकेगा उसके बंध की जरूरत क्या है? वे प्रकृतियाँ प्राय: नहीं बंधती । मिथ्यात्व के उदय में ही हुंडक संस्थान का बँध होता है । हुंडक संस्थान छठा संस्थान है । कीड़ा मकोड़ा एकेन्द्रिय पशु पक्षी इनमें हुंडक संस्थान ही तो पाया जाता है । इससे शरीर का आकार सुन्दर नहीं रहता, विडरूप रहता है । कैसा ही कितना फैला हो, कैसी शाखायें बन रही, कैसे लम्बे-लम्बे केंचुवे कैसा विडरूप आकार रहता है तो हुंडक संस्थान के उदय में खोटा आकार रहता है । तो मिथ्यात्व प्रकृति के न रहने पर इसके हुंडक संस्थान नहीं रहता । नपुंसकवेद यह बहुत खोटा वेद है इसमें बड़ा खोटा भाव होता है । नपुंसक वेद मिथ्यात्व के उदय में होता है । मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व नहीं है इसलिए नपुंसक वेद का संवर है । उसके यह कर्मप्रकृति नहीं बंधती । असृपाटिका संहनन छठा संहनन है । यह हम आपके मौजूद है पंचमकाल में, और जो पशु पक्षी हैं उनके भी यह संहनन चल रहा है । यह संहनन बहुत दुर्बल संहनन है । थोड़ा सा भी झिटका लग जाय तो कहो शरीर की हड्डी टूट जाय । वह मिथ्यात्व के उदय में ही बंधता है । जिन जीवों के मिथ्यात्व का उदय नहीं उनके ऐसा संहनन नहीं बनता । एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप, सूक्ष्मपना, अपर्याप्त, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय इन साधारण, प्रकृतियों का संवर सम्यग्दृष्टि के होता है । इससे यह भी जानें कि सम्यग्दृष्टि पुरुष इन जगहों में उत्पन्न नहीं होता । उदय ही न आयगा । तो ऐसे सम्यग्दृष्टि के एकेन्द्रिय,

दोइन्द्रिय आदिक प्रकृतियों का संवर चलता है । नरकगति नरकगत्यानुपूर्वी और नरकायु आदिक का बंध नहीं होता । सम्यग्दृष्टि जीव के मिथ्यात्व नहीं है सो इन प्रकृतियों का संवर होता है । कर्म ८ बताये गए है और विनतियों में लोग सुनते हैं, उन ८ कर्मों के और भेद होने से १४८ कर्म प्रकृतियां हो जाती हैं । जीव के साथ ये प्रकृतियां बंधी रहती है । उनका उदय होता है और जीव को अनेक प्रकार की वेदनायें होने लगती है । विकार हो जाते हैं । तो ये प्रकृतियाँ तो हम लोगों के संसार संकट का कारण है, इनका क्षय हो तो मुक्ति मिले । तो इन कर्मों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, ऐसी माला जपने से या मंत्र आदिक बोलने से या इनकी चर्चा करने से कर्मों का क्षय न होगा किन्तु आत्मा का अविकार स्वभाव यह मैं हूँ चैतन्यमात्र हूँ मैं अन्य कुछ नहीं हूं, इस प्रकार की अनुभूति के बल से कर्मो का क्षय अपने आप होता है ।

अविरत सम्यग्दृष्टि के संवृत ४१ प्रकृतियों में अनन्तानुबन्धीकषाय प्रत्ययक २५ प्रकृतियों का नाम निर्देश—सम्यग्दृष्टि जीव के उक्त १६ प्रकृतियों का संवर है और अनन्तानुबंधी कषाय के कारण जिन प्रकृतियों का बंध होता है उनका भी संवर है । वे प्रकृतियों कौन हैं? तो अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ जहाँ अनन्तानुबंधी कषाय न रही ज्ञानी पुरुष के उसके यह कषाय क्यों बंधेगी? स्त्यानगृद्धि ,निद्रा निद्रा, प्रचला प्रचला ये तीन नींद की खोटी प्रकृतियाँ हैं । नींद आने पर भी नींद आती रहे, इसकी प्रकृति से बहुत तेज नींद आये वह निद्रा निद्रा है । नींद में ही लार बहे, अनेक प्रकार की जहाँ अङ्ग की चेष्टायें होती रहे यह प्रचला प्रचला है । सोते हुए में कोई बड़ा काम कर आये, काम करके फिर सो गए और जगने पर उसका कुछ ख्याल ही न रहे । जो किया सोते में किया, जगने पर उस किए हुए का कुछ पता ही न रहे, यह स्त्यानगृद्धि है । बचपन में हमारे एक साथी ने बताया था—जब हम सागर विद्यालय में पढ़ते थे तब की बात है तो उस साथी ने मेरे से बताया कि आज रात्रि को तुम १२ बजे के करीब उठकर मंदिर के द्वार तक जाकर मंदिर के किवाड़ खटखटा रहे थे । पूछा कि रात्रि में तुम क्यों गए थे? तो मैने कहा—कहा मैं गया था, मुझे तो कुछ नहीं मालूम । तो ऐसी स्थिति बन जाती है स्त्यानगृद्धि में । मे नींद की तीन खोटी प्रकृतियां सम्यग्दृष्टि पुरुष के नहीं होतीं । इनका संवर होता है । और भी जो खोटी प्रकृतियां हैं—दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान, स्वातिसंस्थान, कुब्बज संस्थान, वामनसंस्थान, वज्रनाराचसंहनन, नाराच संहनन, अर्द्धनाराचसंहनन, कीलकसंहनन, अप्रशस्तविहायोगति, स्त्रीपना, नीचगोत्र, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, तिर्यञ्चआयु, उद्योत इनका भी सम्यग्दृष्टि पुरुष के संवर होता है ।

सम्यग्दृष्टि के कर्मप्रकृतियों के संवर के अनुसार फलित अर्थ का प्रकाश—सम्यग्दृष्टि पुरुष केवल वज्रवृभषभनाराचसंहृन का बंध कर सकता है । इस प्रकृति के उदय में शरीर का आकार बड़ा सुन्दर होता है जैसा कि तीर्थकर महाराज का शरीर बताया जिसकी हड्डी बज्र जैसी मजबूत होती हैं, इस संहनन से मोक्ष होता है, अन्य संहनन वाले पुरुष का मोक्ष नहीं होता, कारण यह है कि इतना ऊंचा ध्यान अन्य संहनन में नहीं बनता जिससे आत्मा-आत्मा में ही मग्न हो सके । इसके अतिरिक्त अप्रशस्त विहायोगति, स्त्री वेद, नीच गोत्र, इन प्रकृतियों का बंध सम्यग्दृष्टि के नहीं है और तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी और तिर्यञ्चायु इनका भी बंध नहीं है ।

इसी से ही यह बात जानी जा सकती कि जब सम्यग्दृष्टि के इन प्रकृतियों का बंध नहीं है, पहले से ही रुक गया तो तिर्यञ्चायु में जाने का सवाल क्या? सो ही बात बतायी गई थी । सम्यग्दृष्टि जीव मरकर नरक में नहीं जाता । यदि कोई ऐसी स्थिति हो कि उस जीव ने पहले नरकायु बांधा, बाद में क्षायिक सम्यक्त्व हो गया तो वह पहले नरक में जा सकता, उससे नीचे नहीं, इसी प्रकार यदि किसी जीव ने तिर्यञ्चायु, खोटी भी आयु बांधी पर सम्यग्दर्शन होने पर क्षायिक सम्यक्त्व होने पर वह तिर्यञ्च में तो जायगा मगर भोगभूमिया तिर्यञ्च में उत्पन्न होगा ऐसे ही सम्यग्दृष्टि मनुष्य सम्यक्त्व में मरकर कर्मभूमिया मनुष्य नहीं बनता । जैसे सम्यग्दृष्टि मनुष्य सम्यक्त्व में मरकर विदेह क्षेत्र में भी नही जा सकता । हां जितने जीव विदेह क्षेत्र में जायेंगे ज्ञानी पुरुष, उनके मरणकाल में सम्यक्त्व न रहेगा । वहाँ जाकर ८ वर्ष बाद सम्यक्त्व हो जाय यह उनकी योग्यता की बात है । हां तो किसी कर्मभूमिया सम्यग्दृष्टि मनुष्य ने पहले मनुष्यायु बांध ली, याद में क्षायिक सम्यक्त्व हुआ तो वह भोगभूमिया मनुष्य होगा । क्षायिक सम्यक्त्व क्षयोपशम सम्यक्त्व के बाद ही होता है । इन सब प्रकरणों से यह जानना कि सम्यग्दर्शन होने पर फिर दुर्दशा नहीं होती ।

सम्यग्दृष्टि जीवों की उदात्तता—वे पुरुष धन्य है जिन्होंने इस शरीर से निराले अपने आपके आत्मा में उस सहज चैतन्यस्वभाव का अनुभव किया है । मैं यह हूँ, जिसको सम्यक्त्व हो जाता है वह इस शरीर के मान और अपमान के विकल्प नहीं करता । वह तो योग्य बात ही करेगा । अयोग्य बात कभी न करेगा । अयोग्य कार्य करने में तो अपमान होता ही है । अज्ञानी जीव ज्ञानी जीव को प्राय: भली निगाह से नहीं देख सकते क्योंकि अज्ञानी की प्रकृति है अज्ञान में रमने की । तो अज्ञान में रमने वाले योग उस अज्ञानी के नित्य हुआ करते हैं, इसलिए अज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में ज्ञानी पुरुष घृणा के योग्य होते है । और कहने भी लगते है कि ये लोग तो बेकार हैं, इनसे देश को क्या लाभ है? यदि ये खुद कमाने लगते तो देश का कुछ अंश तो ठीक होता... इस तरह बोलने लगते । तो अज्ञानीजन ज्ञानीजनों का कभी समान नहीं कर सकते, संसार में अज्ञानियों का समुदाय विशेष है, ज्ञानी तो बिरले ही होते हैं । तो अज्ञानीजनों के द्वारा किया गया अपमान ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पर कुछ प्रभाव नहीं उत्पन्न करता । वह तो अपने ज्ञान की ही धुन में रहा करता है । इसी तरह अज्ञानीजन या कोई भी पुरुष ज्ञानी का सम्मान भी करें तो समझो कि ज्ञानी ने अपने धर्म का सम्मान किया है, किसी व्यक्ति का नहीं । और जिसका सम्मान होता वह सम्यग्दृष्टि जीव उससे प्रभावित नहीं होता । अपने देह के मान अपमान का ज्ञानी जीव को कोई असर नहीं होता । वह अपनी ही योग्य साधना में रहा करता है । ऐसा सम्यग्दृष्टि पुरुष चाहे क्रोध सहित हो तो भी दुर्दशा को प्राप्त नहीं होता ।

ज्ञानी की अन्त: निरापदता—देखिये कर्मबंध ज्ञानी सम्यग्दृष्टि के प्राय: पुण्य प्रकृति का होता है । भले ही पूर्व पाप के उदय से ज्ञानी पुरुष को कोई उपसर्ग सहना पड़े पर चूंकि पाप प्रकृति का बंध नहीं हो सकता इसलिए उसके अगले भव में किसी प्रकार की विपत्ति नहीं आ सकती । और जो आज वर्तमान में विपत्ति आयी हो, जैसे सुकुमाल सुकौशल आदिक को गीदड़ी ने चीथा तो भी उनके पूर्वकृत पापकर्म का उदय है । ज्ञान का दोष नहीं है और ज्ञान के कारण उपसर्ग समय भी वे अपने आपके स्वरूप में मग्न रहे । तो इस जगत में सम्यग्दर्शन से बढ़कर अन्य कुछ वैभव नहीं है । एक निर्णय हो जाय जिसका कि मेरा जीवन धर्म के लिए है, धर्म के लिए

ही मेरा सर्वस्व है ऐसा जिसका निर्णय हो जाय उस पुरुष के पुण्य प्रकृतियों का ही बंध होगा, पापप्रकृतियों का बंध न चलेगा । यद्यपि जब तक संसार में हैं तब तक पुण्य के साथ पाप भी चलते हैं मगर मुख्यतया उसके पुण्य का ही आस्रव होता है । जो भीतर में मोक्षमार्ग में बढ़ रहा है उसके शुद्ध ज्ञान ध्यान बन रहा है । तो सम्यग्दर्शन की अपूर्व महिमा है । एक इस भव में जिस किसी भी उपाय से सम्यक्त्व उत्पन्न कर लिया तो समझो कि मैंने कुछ कमायी की और भविष्य में मैं सब संकटों से बच गया ।

श्लोक 36

ओजस्ते जो विद्यावीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः ।
महाकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः ।।३६।।

सम्यक्त्व से पवित्र जीवों के मानवतिलकता की उद्भूति—जो आत्मा सम्यग्दर्शन से पवित्र हो चुका है वह मनुष्यभव में उत्पन्न हो तो कैसे प्रताप वाला होता है इसका वर्णन इस श्लोक में किया गया है । वह पुरुष मनुष्यों में श्रेष्ठ है । महान पदवी के धारक जितने पुरुष हुए हैं वे सम्यक्त्व के प्रताप से हुए । तीर्थकर, इन्द्र, बलभद्र, तीर्थकर आदि ये सब सम्यक्त्व के प्रताप से हुए, और यहाँ तक कि नारायण भी चाहे नारायण के भव में सम्यक्त्व न रहा और मिथ्याभाव के कारण उनपर घटनायें घटी और कुछ घटेगी, लेकिन पूर्वभव में सम्यग्दर्शन था और उस सम्यक्त्व के प्रताप से स्वर्ग में उनका जन्म हुआ था और वे स्वर्ग से आकर नारायण हुए हैं । तीर्थंकर तो नरक से भी आकर तीर्थंकर बन जाये, पर नारायण नरक से आकर नहीं बनता । नारायण, स्वर्ग से आकर ही नारायण बनता है तब ही तो देखो नारायण की कितनी महिमा लोक में गायी जा रही है । वह आत्मा पहले सम्यग्दृष्टि था, पर नारायण के समय राज्य वैभव में मस्त होकर एक भाव ऐसा बनाया कि वे तत्काल निर्वाण को न प्राप्त हुए पर निकटकाल में ही वे निर्वाण को प्राप्त होंगे । तो ऐसी बड़ी-बड़ी पदवियां सम्यक्त्व के प्रताप से मिला करती हैं । ऐसे मनुष्य जिनका पराक्रम अद्भुत हो, जिनका प्रताप अद्भुत हो ऐसे मनुष्यभव में जन्म लेना यह सम्यग्दर्शन से पवित्र पुरुषों का कार्य है । जिन में अतिशय विद्या है, अतिशय सुन्दरता है, उज्ज्वल यश है, वैभव आदिक की वृद्धि है, गुणों में वृद्धि है ऐसे बालक जब उत्पन्न होते है वे सब सम्यग्दृष्टि जीव थे पहले और उन्होंने धर्म की आराधना की । उनके साथ शेष रहे राग के कारण जो पुण्यबंध हुआ उसका प्रताप है ।

बड़प्पन का आधार समीचीन भाव—लोग चाहते है कि मैं बहुत बड़ा बनूं, मगर बहुत बड़ा बनना कोई संक्लेश करने से होगा क्या? अधीरता से होगा क्या? बड़ा बनना यह शुभ और शुद्ध भावों के प्रताप से होगा । जीव भाव ही कर सकता है, और कुछ कार्य नहीं कर सकता । बाकी जो कार्य होते हैं वे सब आटोमैटिक याने निमित्त नैमित्तिक योग पूर्वक होते ,हैं परजीव की करतूत है तो केवल अपने भाव करना । जब भाव ही जीव करता है तो अपने आप में सोचिये कि अशुद्ध खोटे भाव करने से क्या लाभ है? उसका फल बुरा है । पाप का बंध है, भविष्य अच्छा नहीं । इसलिए शुभ भाव ही करें । सब जीवों के सुखी होने की भावना रखिये । धर्म के प्रसारण के लिए अपनी उमंग रखिये—तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो, ऐसा अपने आपका प्रयत्न करें जगत के जीवों को तत्त्वज्ञान बने, उसका उपाय बनाइये । ऐसे शुभ और शुद्धभाव होते रहें तो आपका यह जीवन भी आनन्द में

गुजरेगा, पर कर्म का उदय विचित्र है । पापकर्म के उदय से ही तो जीव की दुर्गति होती है, दुःख होता है और जीव उन दुःखों में व्याकुल रहता है । ऐसे व्याकुल हृदय में अच्छी बात समाना यह बहुत बड़े ज्ञान का ही प्रताप हो सकता है । अन्यथा दुर्दशा में उसके दुर्भाव ही हुआ करता है । प्रायः ऐसा ही अनादि से चला आया, पर ज्ञानबल यदि हो तो पूर्व पाप के उदय से चाहे दुर्दशा हो, पर सही भाव आज हो तो आगे दुर्दशा न होगी । जब हम आप केवल भाव कर सकते है तो फिर ये खोटी भावनायें न बनाये, उत्तम भावनायें ही बनाये उसके फल में सारा भविष्य अच्छा जायगा । खुद ही खुद के कर्ता हैं, खुद ही खुद के भोक्ता है । कोई किसी दूसरे का मददगार नहीं । तो अपना भविष्य उज्ज्वल बने इसका उपाय यह है कि हम अपने भाव शुद्ध रखें । सब जीवों के प्रति सुखी होने की भावना रहे । गुणीजनों को देखकर हर्ष जग जावे, विपरीत चेष्टा वालों में माध्यस्थभाव हो, दुःखी जीवों को देखकर दया का भाव उमड़े, ऐसी वृत्ति यदि आपकी है, तो आप अपने पर दया कर रहे है, और यदि अशुभ परिणाम है, क्रूर परिणाम है, धर्म के विपरीत परिणाम चल रहे हैं तो यह अपने आपकी आप हिंसा कर रहे हैं, जिसका फल भविष्य में खोटा ही भोगना पड़ेगा । जो जीव सम्यग्दर्शन से पवित्र है वे सर्वत्र पूज्य हैं । वे वैभव से युक्त होते है, महान् पूज्य विशिष्ट कुल में उनका जन्म होता है । वे चार पुरुषार्थों के स्वामी होते है जिनके सम्यग्दर्शन हुआ है । जब कभी गृहस्थ दसों कामों में एक काम को अधिक लाभदायक समझता है तो बाकी उन १ कामों को गौणकर लाभदायक काम में ही अपना पूरा समय देता है । अब आप जरा अपने लाभदायक कार्यों में समझो कौनसा कार्य लाभदायक है? क्या परिजनों के पीछे मोही बने रहना लाभदायक है आपके आत्मा के लिए? क्या धन वैभव आदिक में तृष्णा करना लाभदायक है? क्या दुनिया में इस भव के देह की इज्जत बना देना, यश प्रतिष्ठा पा लेना, यह लाभदायक है आत्मा के लिए? अरे ये कोई आत्मा के लिए लाभदायक नहीं, आत्मा के लाभ का साधन केवल अपना सहजस्वरूप है । मैं हूँ । जब मैं हूँ तो स्वयं ही पूरा हूँ । कोई भी है । कोई भी अस्तित्व अधूरा नहीं रहता । मैं हूँ परिपूर्ण हूँ जो मुझ में असाधारण गुण है उन गुणों में तन्मय हूँ । मैं अमर ई मेरा कहीं विनाश नहीं है ।

जगवैभव की भव की अविश्वास्यता अरम्यता—मैं आज यहाँ हूँ, कल को न रहा यहाँ, किसी दूसरें भव में चला गया तो मैं आत्मा तो वही हूँ । इसको तो एक सराय जानें, एक धर्मशाला मानें । यहाँ अपना कुछ नहीं है । एक सन्यासी किसी नगर में एक गली से जा रहा था । रास्ते में उसे एक बड़ी हवेली दिखी । उस हवेली के द्वार पर एक पहरेदार खड़ा था । तो सन्यासी ने उस पहरेदार से पूछा भाई मैं यह जानना चाहता हूँ कि यह धर्मशाला किसकी है । तो पहरेदार बोला—महाराज यह धर्मशाला नहीं है, धर्मशाला तो इस गली में थोड़ी दूरी चलकर आगे है । यह तो अमुक सेठ की हवेली है । तो फिर सन्यासी बोला—भाई मैं तो यह पूछता हूँ कि यह धर्मशाला किसकी है । तो पहरेदार उसके मनकों बात ठीक-ठीक न समझ सका सो फिर वही उत्तर दिया । इतने में ऊपर से देखा उस मकान मालिक ने, वह सन्यासी को देखकर नीचे आया और पूछा—महाराज आप क्या पूछ रहे हो? तो सन्यासी बोला—मैं यह जानना चाहता हूँ कि यह धर्मशाला किसकी है? तो सेठ बोला—महाराज यह धर्मशाला नहीं है । धर्मशाला आगे है, यह तो आपकी हवेली है । हां यदि आप ठहरना चाहते हों तो इस हवेली में ठहर जाइये । तो सन्यासी बोला—भाई हमें ठहरना नहीं है । हम तो जानना भर

चाहते है कि यह धर्मशाला किसकी है । तो सेठ ने फिर वही बात कही । आखिर सन्यासी ने पूछा—बताओ इसको किसने बनवाया था?.... मेरे बाबा ने ।.... वह इसमें कितने वर्ष तक रहें?.... महाराज वह तो पूरी बनवा भी न सके थे तभी मर गए थे ।.... फिर पूरी किसने बनवाया?.... हमारे पिताजी ने ।.... वह इसमें कितने वर्ष रहे?.... महाराज वह तो कुल ३ वर्ष रहे ।.... और आप इसमें कितने वर्ष रहेंगे? तो वहाँ वह सेठ निरुत्तर रह गया और ज्ञान जग गया कि सचमुच यह धर्मशाला है । सन्यासीजी ने ठीक ही बताया । बल्कि धर्मशाला में तो ऐसा भी हो सकता कि यदि कोई १०-५ दिन ठहरना चाहे धर्मशाला में तो मंत्री या अध्यक्ष से मिन्नत करके और भी ठहर सकता है पर यहाँ कोई कितनी ही मिन्नत करे एक दिन भी ठहरने को नहीं मिल सकता । मरण हुए बाद इसमें कोई एक मिनट भी नहीं ठहर सकता । तो यह सारा जगत रमने योग्य नहीं, विश्वास किए जाने योग्य नहीं ।

सहजपरमात्मतत्त्व की विश्वास्यता—भैया ! विश्वास कीजिए अपने आत्मा में बसे हुए परमात्मस्वरूप पर । वह मैं अमर हूँ, अविकार हूँ, वहाँ कोई कष्ट नहीं, मेरा स्वभाव ज्ञानानन्द से परिपूर्ण है । मुझे अब जगत में करने को कुछ नहीं रहा । मैं अपने स्वरूप को ही निरखूं और इस ही में यह मैं उस ही की भावना कर करके निर्विकल्प होऊं । बस यह ही एक कर्त्तव्य शेष रह गया, बाकी तो इस अनन्त काल में न जाने क्या-क्या उद्दण्डतायें बनाया, कितने ही अपने अधिकार बनाया, सब कार्य कर डाला, पर यह ही एक काम शेष रह गया कि मैं अपने आपको जानूं, अपने आपको मानूं और इस ही स्वरूप में मग्न हो जाऊं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का धारण बस यह ही काम नहीं कर पाया जीव ने, बाकी तो प्रत्येक प्रदेश पर अनन्त बार जन्म ले चुके, कितने-कितने परिवर्तन कर चुके जो आज भोगते हैं वे अनेक बार भोगे जा चुके, ये सबके सब जूठे ही भोगे जा रहे हैं । सब काम अनेक बार हुए मगर सम्यग्दर्शन का लाभ इस जीव को नहीं हुआ । तो एक जरा चित्त की स्वच्छ और स्थिर करके एक ही धुन बना लें कि अन्य कार्य जैसे हों सो हों पर मुझ को तो अपने स्वरूप का अनुभव करके ही रहना है । उसके लिए चाहे कितना ही उत्सर्ग करना पड़े पर मैं अपने स्वरूप को जानूंगा और उसी स्वरूप में रमूंगा । यह ही एकमात्र मेरा काम है ।

श्लोक 37

अष्टगुणपुष्टि तुष्टा: दृष्टिविशिष्टा: प्रकृष्टशोभाजुष्टा: ।
अमराप्सरसां परिषदि, चिरंरमन्ते जिनेन्द्रभक्ता: स्वर्गे ।।३७।।

जिनेन्द्रभक्त सम्यग्दृष्टि जीवों का देवभव में ऐश्वर्य—जिनेन्द्र के भक्त सम्यग्दृष्टि जब स्वर्ग में उत्पन्न होते है और ऐसे जिनेन्द्र भक्त जीव देवांगनाओं की परिषद में चिरकाल तक रमण करते हैं । यद्यपि यह कोई सम्यक्त्व का खास गुण नहीं है, प्रभाव नहीं है कि सांसारिक सुख मिले, मगर सम्यक्त्व के होते सन्ते जो अवशिष्ट रागादिक भाव रहते है उनका प्रभाव है यह । यों समझिये कि जैसे किसी बड़े मिनिस्टर या आफीसर के साथ कोई क्लर्क हो तो उस क्लर्क का भी बड़ा महत्व है और लोग उससे भी मिलने का प्रयत्न करते है और उसके द्वारा वे कुछ अपना काम सिद्ध करना चाहते हैं, अथवा जैसे बड़े जज का क्लर्क । तो जैसे बड़े नेताओं के साथ, राज्याधिकारियों के साथ रहने वाले सेवक का भी इतना प्रभाव होता है ऐसे ही सम्यग्दर्शन के साथ रहने

वाले पुण्यभाव का भी बड़ा प्रभाव है । यद्यपि पुण्यबंध मिथ्यादृष्टि भी करता है और सम्यग्दृष्टि भी करता है पर मिथ्यादृष्टियों का पुण्य निरतिशय होता है और सम्यग्दृष्टियों का पुण्य सातिशय होता है । जैन शासन में हम आप लोग अपना जीवन बिता रहे हैं । तौ इतनी दृढ़ता और निश्चितता तो होनी चाहिए कि मेरा जीवन सम्यक्त्वलाभ के लिए है और यथोचित चारित्रपालन के लिए है । बाकी सारे दंदफंद सब मेरे लिए बेकार है । उनसे मेरे आत्मा की कुछ सिद्धि नहीं होती । व्यर्थ के विकल्प होते, अन्य जीवों पर आसक्ति, व्यामोह ये सब थोथे ऊल जलूल तथा अटपट चेष्टायें है । यह ही तो एक पौरुष करना है कि मेरा जीवन सम्यक्त्वलाभ के लिए रहे । मोही जीवों को अपने परिजन ही सर्वस्व दिखते है, धर्म या धर्मात्माजनों के प्रति उनको अनुराग नहीं जगता, पर जो ज्ञानी पुरुष है उनके धर्म और धर्मात्मावों पर अनुराग होता है, परिजनों पर उनके अन्त: अनुराग नहीं होता, केवल एक गुजारे का साधन होने से परिजनों से उस प्रकार की प्रीति भर है । ऐसी जिनेन्द्रभक्त ज्ञानी जीव की वृत्ति होती है ।

ज्ञानी देवों की अणिमा ऋद्धि—ज्ञानी जीव ८ गुणों की पुष्टि से पुष्ट रहते है । देवों में ८ गुण ऋद्धि वाले उनके जन्मत: होते है । (१) पहिला गुण है अणिमा, विक्रिया से अपने शरीर को कितना ही छोटा बना लें । छोटा बनाकर भी उनका वजन थोड़ा हो, ऐसी बात नहीं है । छोटा भी शरीर हो और बड़ा वजन हो जाय यह तो देवों में एक नैसर्गिक ऋद्धि है । श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्नकुमार जो कि कितने ही वर्ष बाद अपने घर आये, उनको जन्म से ही कोई देवता हर ले गया था और प्रद्युम्न दूसरे राजा के यहाँ रहे, वहाँ अनेक विद्यायें प्राप्त कीं । जब वे अपने घर आये तो बड़े पुरुष यों ही सीधे सादे अपने घर आ जायें यह बात तो उनसे नहीं बनती, उनका कोई ढंग होना चाहिए । तो उन्होंने अपनी विद्या का प्रताप फैलाना शुरु किया, और जब वे राजद्वार के निकट पहुंचे तो अपना एक बहुत बड़ा शरीर धारण कर के लेट गए । उनको उठाने के लिए बड़े-बड़े बलवान आये पर कोई उठा न सके । बाद में छोटा शरीर बनाकर लेट गए फिर भी कोई लोग उसे उठा न सके । उस समय उनका बड़ा यश फैला और यह तथ्य प्रकट हुआ कि यह प्रद्युम्नकुमार हैं । इसका एक बड़ा कथानक है । जब मनुष्यों में ऐसी बात देखने को मिलती तब फिर देवताओं की तो बात ही क्या है? उनमें तो ऋद्धियां स्वभावत: होती हैं । देखिये आज हम आप मनुष्य हैं । देवताओं की बात सुनकर चित्त में यह बात आती है कि मेरा भी जन्म देवगति में हो । जहाँ हजारों वर्ष तक भूख नहीं लगती और कभी भूख लगे तो उनके कंठ से अमृत झड़ जाता है । उनका है वैक्रियक शरीर, हम आप लोगों का है औदारिक शरीर । कभी हम आप भी विश्राम से बैठे हों तो थूक का गुट का कंठ में उतर जाता है, उस समय बड़ा आनन्द मालूम होता है । उन देवों के हजारों वर्ष बाद कंठ से अमृत झड़ जाता, जिसकी जितनी आयु है उस अनुरूप सीमायें हैं, कंठ से अमृत झड़ जाता है और उनकी क्षुधा शान्त हो जाती है । वैक्रियक शरीर होने से रोग का भी काम नहीं, पसीने का भी काम नहीं ऐसा सुनकर आता होगा चित्त में कि ऐसा ही देह मुझे मिले तो अच्छा है, लेकिन जिसको जो देह मिला है उस काल में उसके लिए वह न कुछ की तरह रहता है । और मिले हुए को लोग कुछ अधिक संतोषप्रद महत्व नहीं देते । जैसे यहाँ जिसको जितना धन मिला है उसके चित्त में यही बात रहती है कि मेरे को तो बहुत कम धन मिला है । ऐसा कोई नहीं मिलता जो यह मानता हो कि मेरे पास तो आवश्यकता से अधिक

धन है । ऐसे ही उन देवों को भी वैक्रियक शरीर मिला है, देवांगनायें मिली हैं, ८ प्रकार की ऋद्धियां मिली हैं फिर भी उन्हें संतोष नहीं होता । और लोभ कषाय तो देवों के मनुष्यों से अधिक बतायी गई है । तो जहाँ लोभ और तृष्णा आ गई वहाँ सुख सब खतम हो जाता है । हम लोग ऐसा सोचते हैं कि देवताओं को बड़ा सुख होता होगा मगर देवता लोग तृष्णावश दूसरों की ऋद्धियों को देखकर अपने में कम जानकर भीतर दाहअग्नि से जलते रहते है । खैर यह तो है एक मोक्षमार्ग की दृष्टि से बात मगर लौकिक प्रसंगों में स्वर्ग में उत्पन्न होना और ऐसी बड़ी ऋद्धि वाले देव होना एक बड़ी बात मानी गई है । यह पुण्य का फल बताया जा रहा है । वैसे जो सम्यग्दृष्टि देव होते है वे संतुष्ट रहते है । उनके संतोष का कारण है ज्ञानबल । तो उन देवों की पहली ऋद्धि है अणिमा । अपने शरीर को अत्यन्त छोटा बना देना ।

ज्ञानी देवों की महिमा ऋद्धि—कैसा वह वैक्रियक शरीर है कि वह आपको आँखों से दिख भी सकता और नहीं भी दिख सकता । शरीर देखने में बड़ा हो पर कहीं भींट के छोटे छिद्र में से निकल जाय । यों न जाने क्या-क्या उनकी ऋद्धियाँ हैं । यही तो सम्पन्नता है । तो वैक्रियक देव अपनी अणिमा ऋद्धि के कारण अपने में एक सुख का अनुभव करते हैं । जिसमें कलायें अधिक होती वह अपनी कलावों से शान्ति और सुख तो अनुभवता ही है । देवताओं में एक महिमा ऋद्धि है बड़प्पन, बड़ा देह बना लेना । कहीं इतना बड़ा देह बना लें कि आपकी निगाह पूरे देह में न पहुंच सके । कहीं आपको आंखें घुमानी पड़ें या गर्दन घुमानी पड़े । इतना बड़ा तो आकार हो शरीर का फिर भी कहीं दिखाई न पड़े । तो ये कलायें है ना, ये सब बातें बड़े पुण्य प्रताप से प्राप्त होती है । भले ही सम्यग्दृष्टि जीव उन कलावों का आदर नहीं रखते, ये तो सांसारिक बातें है । इनसे आत्मा का उद्धार नहीं है मगर है तो पुण्य का फल । सम्यग्दृष्टि जीव कभी दु:खी नहीं रह सकता । चाहे किसी भी स्थिति में हो, स्वर्गों में हो तो वहां भी उसको क्षोभ अधिक नहीं है । भला आप थोड़ा विचार तो कीजिए, यहाँ जो बड़े आचार्य हो गए—कुन्दकुन्दाचार्य, समन्तभद्राचार्य, धरसेनाचार्य, पुष्पदंत, भूतबलि, अकलंक देव आदिक बड़े-बड़े दिग्गज आचार्य हुए जिन्होंने बड़े-बड़े राजपाट ऐश आराम छोड़ा, विरक्त हुए, मुनि हुए उनके उपकार का बदला हम आप नहीं चुका सकते । हमारे पास कोई ऐसी कला नहीं कि हम उनके उपकार का बदला चुका सकें, जिन्होंने जिनवाणी का इतना उद्धार किया, युक्ति और आम्नाय के अनुसार जिन्होंने वह तत्त्व दिखाया जिससे स्वपर का भेदविज्ञान जगे, मोह दूर हो, अपने आपके स्वरूप की सुध मिले, उनके उपकार का बदला कोई किसी प्रकार चुका सकता है क्या? यदि उनके उपकार को कोई न माने तो वह तो एक बड़ा पाप करता है कृतघ्न है संसार में रुलने वाला है । हम अपने पूर्वाचार्यों का किसी भी उपाय से बदला नहीं चुका सकते । हां तो वे ऋषिजन जो कि इतना विरक्त थे और ज्ञानध्यान में जो इतना अधिक रत रहे वे इस समय हम आपके बीच नहीं है फिर भी अंदाज तो होता है कि वे इस समय स्वर्ग में होंगे । अब स्वर्ग में जाकर ८वें स्वर्ग से ऊपर तो जा नहीं सकते इस पंचम काल में, इतना ऊंचा संहनन नहीं है कि इससे ऊपर के स्वर्गो में उत्पन्न हो सके, तो वे उन स्वर्गो में अब क्या कर रहे होंगे, इसका अंदाज तो करो । अरे वे बड़ी-बड़ी देवांगनाओं के बीच बैठकर बड़ा गान तान सुन रहे होंगे, बीच-बीच अपना सिर भी हिला रहे होंगे, राग रागनी के अनेक प्रसंगों के बीच रह रहे होंगे । आखिर अब वे खोटे भव तो धारण कर न सकेंगे, पशु, पक्षी या दीन दरिद्र

भिखारी मनुष्य बनें ऐसी बातें तो अब नहीं बनती तो उनको कैसा भव मिला करता है? यह भव बताया जाता है कि मनुष्य हो तो मनुष्यों में उत्तम देव में हो तो देवों में भी महान् ऋद्धि वाले देव बनेंगे ।

ज्ञानीदेवों की लघिमा व गरिमा ऋद्धि—एक ऋद्धि है लघिमा । शरीर को अत्यन्त हल्का बना लेना । शरीर चाहे कितना ही बड़ा हो पर उसे कहीं कोई फूल की तरह उठाकर अंगुली पर धर ले । जैसे यहाँ आप हाथ पैर हिलाये यह कुछ करने में आपको अधिक श्रम नहीं करना पड़ता, ऐसे ही देवों को इसमें कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ती, भाव किये कि उसके अनुरूप विक्रिया हो गई । हर एक की विचित्र-विचित्र बातें हैं । गाय की पीठ पर मक्खी बैठ जाय तो गाय को पूंछ से भी मक्खी भगाने की जरूरत नहीं पड़ती, यो ही खाल हिल जातीं है । हम आप लोग तो ऐसा न कर पायेंगे । सब जीवों की एक विचित्र-२ बात है । कर्मोदय से स्वयं हो जाता है । देवताओं को अपने शरीर की ऋद्धि विकसित करना हो तो उनको कोई चेष्टा नहीं करनी होती । इच्छा भर की कि बस परिणमन भी वैसा ही चल उठा । यह ऋद्धि उन देवों को प्राप्त है जिनकी धर्म में रुचि है । एक ऋद्धि है गरिमा । कहो शरीर को अत्यन्त छोटा बना लें फिर भी इतना वजनदार कि उसे कोई योद्धा भी तिल भर न हटा सके । ऐसी ऋद्धि भी जिनेन्द्र देव के भक्त के प्रकट होती है ।

ज्ञानी देवों की प्राप्ति और प्राकाम्य ऋद्धि—एक ऋद्धि है प्राप्ति । इसके फल में चाहे कितनी ही दूर वस्तु हो पर वहीं बैठे-२ उस चीज की प्राप्ति हो जाती है । एक ऋद्धि है प्राकाम्य, इसकी वजह से जैसा सुन्दर रूप चाहे वैसा बना लें । ऋद्धि के सम्बंध में एक दृष्टांत आया है कि कोई एक सेठ था, वह विद्याधर था उसको यह ऋद्धि प्राप्त थी । उसने अष्टाह्निका के दिनों में अपनी सेठानी से कहा कि हम तो नन्दीश्वर द्वीप की वंदना करने जायेंगे । तो सेठानी ने कहा कि वहाँ तुम नहीं जा सकते ।... क्यों? इसलिए कि मानुषोत्तर पर्वत से आगे मनुष्यों की गति नहीं है । ढाईद्वीप जिसे कहते, मानुषोत्तर पर्वत से इधर ढाईद्वीप कहलाता, एक जम्बूद्वीप, उसे घेरकर लवण समुद्र, फिर उसे घेरकर धातकी खण्ड, उसे घेरकर कालोदधि इसे घेरकर पुष्करद्वीप इस द्वीप के ठीक बीचों बीच मानुषोत्तर पर्वत है, उसके आगे मनुष्यों की गति नहीं है । यह सब सेठानी ने समझाया पर सेठ ने न माना । आखिर उसके पास विद्या तो थी ही, चल दिया अपने विमान में बैठकर । जैसे ही मानुषोत्तर पर्वत की सीमा आयी उसके विमान में ऐसी गहरी टक्कर लगी कि उसका विमान उलट गया और सेठ का वहीं देहान्त हो गया । चूंकि उस समय उसके शुभ भाव थे, जिनेन्द्रदेव की भक्ति में प्रेम था इसलिए वह मरकर देव हुआ, और अन्तर्मुहूर्त में ही जवान बनकर अवधिज्ञान से पूर्वभव की सब बात विचारकर एकदम उसका भाव हुआ कि नन्दीश्वर द्वीप वंदना करना चाहिए । अब देव होने पर तो वह जा ही सकता था । सो उसने नन्दीश्वर द्वीप की वंदना किया और वंदना करने के बाद उसके मन में एक कौतूहल आया कि मैं अपने पूर्वभव की सेठानी से जाकर बता दूं कि मैं नन्दीश्वर द्वीप की वन्दना करके आ गया । सो वह झट उस सेठ का रूप रखकर सेठानी के पास पहुंचा । (देखिये यह सब काम कोई डेढ़ घंटे के अन्दर ही हो गया) हां तो सेठानी ने उसे सेठ ही समझा पर जब वह बोला कि हम आ गए नन्दीश्वर द्वीप की वंदना करके तो वहाँ सेठानी ने उत्तर दिया कि आप झूठ कहते । यदि आप मनुष्य हैं तब तो आपकी नन्दीश्वर जाने की बात झूठ है और यदि आपकी बात सच है तो आप मनुष्य नहीं हैं । आप तो देव है । तो वहाँ उस सेठ ने अपना

असलीरूप प्रकट किया और सारा हाल बताया कि मैं मानुषोत्तर पर्वत में विमान टकरा जाने से मर गया, मरकर देव हुआ तब नन्दीश्वर द्वीप की वन्दना कर सका । धन्य है तुम्हारे दृढ़ श्रद्धान को । तो बात यहाँ यह कह रहे थे कि प्राकाम्य ऋद्धि के प्रताप से जैसा चाहे वैसा रूप रख ले, यह तो देवताओं में एक स्वाभाविक बात है । एक ऋद्धि होती है ।

ज्ञानी देवों की ईशित्व व वशित्व ऋद्धि एवं महती विभूति—ईशित्वऋद्धि—इस ऋद्धि के प्रताप से महान ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है । एक होती है वशित्वऋद्धि—इस ऋद्धि के प्रताप से जिस चाहे को अपने वश में कर लिया जाता है । इस वशित्वऋद्धि के कारण देव अपनी देवांगनाओं में यथेष्ट रमण करते है । यह सब महिमा है सम्यग्दर्शन की । वे देव सम्यग्दर्शन से विशिष्ट हैं उनकी बड़ी उत्कृष्ट शोभा है उनके इन्द्रतुल्य वैभव हैं । न भी इन्द्र हो सकें तो भी सामानिक, लोकपाल आदिक ये भी बड़े वैभव वाले देव कहलाते है । सामानिक देव ऐसे रहते जैसे यहाँ किसी बड़े परिवार का कोई बड़ा बुजुर्ग आदमी । हुक्म चलेगा सब इन्द्र का इन्द्र पर किसी का हुक्म नहीं चलता । सामानिक देवों में इन्द्र का जैसा सारा वैभव पाया जाता है, पर सब पर उनका हुक्म नहीं चलता । इन्द्रादिक के वैभव ये सब बातें सामानिक देवों में पायी जाती है । केवल हुक्म नहीं रहता । इन्द्र बने, सामानिक बने, त्रायस्त्रिंश बने । शायद ये त्रायस्त्रिंश ३३ ही होते होंगे तभी इनका नाम त्रायस्त्रिंश पड़ा । कोरम भी देखो, ११ का बन गया तिगुना, बाहरी प्राकृतिक घटना । त्रायस्त्रिंश वे धर्मक्रियावों में संविधान, मंत्रणा देने में कुशल, बड़ी ऋद्धि वाले देव है । लोकपाल भी बड़े वैभव वाले होते हैं, ये मनुष्यभव धारण करके मोक्ष जाते है लोकपाल की इतनी महिमा है । लोकपाल का अर्थ है—जैसे यहाँ का कोतवाल । लोकपाल का बड़ा पवित्र भाव है पर यहाँ के कोतवाल का भाव पवित्र होता या नहीं होता, आप लोग ज्यादह समझते होंगे । अरे लोकपाल तो नगर के पिता की तरह होता है । कोतवाल को नगरवासियों के प्रति बड़ा पवित्रभाव रखना चाहिए । जैसे घर का कोई बुजुर्ग, बच्चों का पिता बच्चों पर बड़ा पवित्रभाव रखता हैं ऐसा ही भाव नगर के कोतवाल को नगरवासियों के प्रति रखना चाहिए । कोतवाल को बड़ा न्यायप्रिय होना चाहिए, पर वह तो अन्याय करने पर भी उतारू रहता है । खैर मनुष्य चाहे कैसा ही करें पर देवों में जो लोकपाल देव होते वे बड़े न्यायप्रिय होते । तो जिनेन्द्रभक्त सम्यग्दृष्टि जीव ऐसे-ऐसे पुण्यवान होते कि जिनके समान ऋद्धि वैभव, यश अन्य असंख्याते देवों में नहीं होता ।

देवों की गणना व आयु—देखिये देवों की संख्या मनुष्य और नारकियों से भी अधिक है । तिर्यञ्चों की संख्या के बाद दूसरा नम्बर आता है देवों का । देवों की बहुत अधिक संख्या है । अभी ये जो तारे दिखते है उनकी ही गिनती करना अशक्य है । ये तारे तो असंख्यात द्वीप समुद्रों के ऊपर रह रहे है, एकएक तारा के विमान में अनेकों देवी देवता रहते हैं । यह तो एक ज्योतिषी देवों की बात है भवनवासी आदि फिर अन्य देव फिर वैमानिक देव । १६ स्वर्ग ९ ग्रैवेयक, ८ अनुदिश, ५ अनुत्तर यों देवों की संख्या बहुत अधिक है, वे बहुत बड़ी-बड़ी ऋद्धि समृद्धि वाले है । ऐसे वैभव, ऋद्धि आभरण इस जिनेन्द्रभक्त सम्यग्दृष्टि जीव को प्राप्त होते है । इनकी आयु सागरों पर्यन्त की होती है । १० सागर २० सागर और सागर भी कितना? जिसकी हद हम नहीं मान पाते हैं, है जरूर हद जिसको बताया है कि मान लो कोई दो हजार कोश का लम्बा चौड़ा, गहरा गड्ढा हो ।

उसमें उत्तरकुरु भोग भूमि के बच्चे मेढ़े के बारीक रोम के टुकड़े इतने छोटे-छोटे उसमें ठसाठस भरे जायें कि जिनका दूसरा टुकड़ा कैंची आदिक से न किया जा सके । फिर उन टुकड़ों को प्रत्येक १०० वर्ष में एक टुकड़ा निकालें तो जितने काल में वे सब रोमखण्ड निकल सकें उतने काल का नाम है व्यवहारपल्य । उससे असंख्यातगुना होता है उद्धारपल्य उससे अनगिनते गुणा होता है अद्धापल्य और एक करोड़, अद्धापल्य का एक करोड़ अद्धापल्य में गुणा करने से जितना आये उसे कहते है एक कोड़ाकोड़ी अद्धापल्य ऐसे १० कोड़ाकोड़ी अद्धापल्य का एक सागर होता है । ऐसे १०-२० आदि सागर पर्यन्तवे देव अप्सराओं के परिषद में यथेष्ट प्रसन्न रहता करते हैं । यह बतलाया जा रहा है एक पुण्य का फल, ऐसा पाकर क्या करना चाहिए, यह उन सम्यग्दृष्टि देवों की अलग बात है, पर जो मिला है वह पुण्य का फल है । ऐसा पुण्य जिनेन्द्रभक्त सम्यग्दृष्टि जीव प्राप्त किया करते हैं ।

श्लोक 38

नवनिधिसप्तद्वयरत्वाधीशा: सर्वभूमियतयस्श्चक्रं ।
वर्तयितुं प्रभवन्तिस्पष्टदृश: क्षत्रमौलिशेखरचरणा: ।।३८।।

सम्यग्दृष्टि के स्वर्ग से चयकर मनुष्यभव में हुए चक्री को प्राप्त नवनिधि में कालनिधि का निर्देश—सम्यग्दृष्टि जीव सागरोंपर्यन्त स्वर्ग में सुख भोगकर वहाँ से आयु पूर्ण करके मनुष्यलोक में आते हैं तो उनमें कितने ही चक्रवर्ती बनते हैं, इस श्लोक में चक्रवर्ती का संकेत किया गया । चक्रवर्ती ९ निधि और १४ रत्न के स्वामी होते हैं, ये सम्पूर्ण भरत क्षेत्र के राजा होते हैं । जो कि ६ खण्ड में विभक्त हैं, इनमें मुख्य चक्ररत्न उत्पन्न होते हैं और उस चक्र रत्न के स्वामी होने से इन्हें चक्रवर्ती कहते है । जम्बूद्वीप के दक्षिण किनारे भरत क्षेत्र है जो ५२६, ६/१९ योजन है । एक योजन २ हजार कोश का होता है, इतना विशाल क्षेत्र है जिसके बीच में विजयार्द्ध पर्वत होने से छह खण्ड हो जाते हैं उन समस्त छह खण्डों के ये अधिपति होते हैं । इनके ९ निधियां उत्पन्न होती है जिनके नाम और कार्य इस प्रकार हैं । (१) काल—इस काल निधि के द्वारा उनको अपने ऋतु के योग्य द्रव्य प्राप्त होते रहते हैं । जैसे यहाँ लोग एयर कंडीशन, कूलर, हीटर आदिक ऋतुवों के अनुकूल रख लेते ऐसे ही जिन-जिन ऋतुवों में जो-जो पदार्थ चाहिए उन ऋतुवों के योग्य पदार्थ उन्हें इस कालनिधि से प्राप्त होते हैं । यहाँ यह जानना कि चक्रवर्तियों को जो निधियां उत्पन्न होती हैं उनकी रक्षा करने वाले, व्यवस्था करने वाले देवगण होते हैं । तीर्थंकर के बाद पुण्य वैभव का कोई स्वामी है तो ये चक्रवर्ती हैं । ये सब चक्रवर्ती स्वर्ग से आते हैं । ये सम्यग्दृष्टि होते हैं । भले ही चक्रवर्ती काल में कोई चक्रवर्ती मिथ्यादृष्टि रह जाय और कितने ही चक्रवर्ती मोक्ष जाते हैं, कितने ही चक्रवर्ती पुन: ऊर्ध्वलोक में जाते हैं, और कितने ही चक्रवर्ती तो नरक गए । जिसकी जैसी भावना होती उसके अनुसार वह फल पाता । कितने ही चक्रवर्तियों ने इतना विशाल चक्रवर्ती का वैभव पाया, यह बहुत बड़े पुण्य का फल है । भला बतलावो अपने ही नगर में कोई एक चेयरमैन हो गया तो उसका ही लोग कितना बड़ा महत्त्व मानते हैं, फिर जो पूरे जिले का नेता है, वह कितना बड़ा, फिर पूरे देश का नेता है वह कितना बड़ा, फिर पूरे विश्व का कोई अधिपति है वह कितना बड़ा, फिर कोई छह खण्ड का अधिपति है वह कितना बड़ा इसका विचार तो करो । ऐसा छह खण्ड का अधिपति

होना यह बहुत बड़े, पुण्य का फल है । अब पुण्य के फल में हर्षित न हो, पुण्यफल पाकर भरत चक्रवर्ती जैसे उन सबमें उदास रहे यह उनका ज्ञानबल का काम था जो कि भविष्य के लिए उनको लाभदायक था, पर लोक में चक्रवर्ती का वैभव वर्तमान में बड़ा आनन्ददायक माना जाता है । ऐसा ऊंचा पुण्य सम्यग्दर्शन होने पर ही प्राप्त हो पाता है । चक्रवर्ती पूर्वभव में उस काल में सम्यग्दृष्टि थे और उस सम्यक्त्वकाल में रहने वाले भक्ति राग आदि के कारण ऐसा विशेष पुण्यबंध हुआ कि उनको छह खण्ड का वैभव प्राप्त हुआ ।

चक्री के महाकाल, पाण्डु व मानवनिधि का निर्देश—चक्रवर्ती की दूसरी निधि है महाकाल । इस निधि के द्वारा मनमाने भाजन वर्तन प्राप्त होते हैं । नहाने धोने के लिए, रसोईगृह के लिए, अनाथालय के लिए तथा अन्य कार्यों के लिए जहाँ जितने बर्तन चाहिए वे सब इस निधि के प्रताप से उन्हें प्राप्त होते हैं । भला बतलावो जिनके पुण्य के कारण देव उनके सेवक बनते उनका कितना विशाल पुण्य है । सो ऐसा विशाल पुण्य सम्यग्दर्शन होने पर ही प्राप्त होता है । मिथ्यादृष्टि को ऐसा विशाल पुण्य नहीं प्राप्त होता । यद्यपि पुण्य मिथ्यादृष्टि को भी प्राप्त होता मगर इतना विशाल नहीं । मिथ्यादृष्टि जीव के इतना ऊंचा परिणाम कहां है? (३) चक्रवर्ती की तीसरी निधि है पाण्डु । इस निधि के प्रताप से धान्यादिक की भारी उत्पत्ति होती है । अनाज की समस्या वहाँ नहीं रहती, प्रजाजनों में बड़ा सुख बर्तता है । (४) चौथी निधि है मानव । इसके प्रताप से सर्वप्रकार के आयुध याने शस्त्रादिक की प्राप्ति होती है ।

चक्रवर्ती के शङ्ख, पद्म व नैसर्प निधि का निर्देश—(५) पांचवीं निधि है शंख, जिसकी वजह से वादित्व बाजों की प्राप्ति होती है । देखिये आत्मा के भावों को परिणाम । यह सब ठाठ किसका है? पुण्य का, और पुण्य बना कैसे है? आत्मा के उच्च भावों से । जिन्हें अपने आप पर दया हो अपने आपकी उन्नति की वाञ्छा हो उनका कर्तव्य है कि वे अपने भावों को बिगड़ने न दें, भावों को ऊंचा बनायें । किसी भी जीव के प्रति विरोध की बात रंच भी चित्त में न रहे, यह सबसे बड़ी भारी विशुद्धि है । अपना विरोधी कोई है ही नहीं । जो विरोधी है वह अपनी शान्ति के लिए अपना प्रयास करता है । जब मेरे प्रति कोई कुछ कर ही नहीं सकता तो फिर वह मेरा विरोधी कैसे? यदि विरोध भावना जगती है तो वह उसका भाव है । उसकी योग्यता है, उसके लिए है, मेरे लिए नहीं । सब लोग अपने लिए सोचिये कि इस जगत में मेरा कोई विरोधी नहीं, ऐसी एक सद्भावना बने । सब जीवों में उस सहज परमात्मतत्त्व के दर्शन हो, यह ही है उच्च भावना । हम भावना के सिवाय अन्य कुछ नहीं कर पाते । अपने ही भाव सही बनायें रहें बस यह ही हमारा वैभव है, यह ही मेरा सर्वस्व है । (६) चक्रवर्ती की छठी निधि है पद्म । इसके प्रताप से मनमाने वस्त्रों की प्राप्ति होती है । राजघराने को, सेवकों को, सेना को या जिस किसी को भी जितने वस्त्र चाहिए वे सब इस निधि के प्रताप से प्राप्त होते है । (७) सातवीं निधि है नैसर्प, इस निधि के द्वारा हम्यभवनों की प्राप्ति होती है । देखिये तो सही यह तो चक्रवर्ती की बात है । श्रीरामचन्द्रजी को वन में एक बार ऐसी जगह भी ठहरना पड़ा जहाँ कि कोई पुरुष तो था नहीं, सिर्फ एक स्त्री थी, तो वहाँ उस स्त्री ने उन्हें बड़े अपशब्द सुनाया । वहाँ लक्षण तो उस स्त्री पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए पर श्रीराम ने लक्ष्मण को समझा बुझाकर शान्त कर दिया । वही श्रीराम जब जंगल में जाकर ठहरे तो उनके पुण्य प्रताप से वहाँ नगरी बस गई, जिसका नाम रखा गया रामनगर । उसी नगरी में एक बार वह सी भी पहुंची

तो वहाँ श्रीराम ने उस पर द्वेषभाव नहीं किया बल्कि क्षमाभाव रखा । देखिये—महापुरुष बड़े क्षमाशील हुआ करते है । यही गुण तो उनको बड़ा बनाता है । बड़े पुरुष छोटे लोगों से द्वेष नहीं रखते बल्कि उनके प्रति क्षमाभाव रखते । तो हम सदैव क्षमाशील रहे, किसी बात में घमंड न आये, मायाचारी से भरा हुआ हृदय न बनाये, लोभ लालच की बात अपने चित्त में न बसाये, समय-समय पर अपने में एक त्याग वृत्ति रखें । क्रोधादिक चारों प्रकार की कषायों के दूर होते ही अपने भावों में एक उदात्तपना आता है । भाव ही अपना एक धन है, जिसके कारण हम इस लोक में भी सुखी रह सकते और अन्य लोक में भी । यहाँ चक्रवर्ती की ऋद्धियां बतायी जा रही हैं कि सम्यग्दर्शन के प्रताप से अविशिष्ट राग के कारण कितना विशिष्ट पुण्यबंध हुआ करता है जिसके फल में ऐसा वैभव प्राप्त होता है ।

चक्री के पिङ्गल व नानारत्न निधि का वर्णन—(८) आठवीं निधि है पिङ्गल—इसके प्रताप से बड़े-बड़े स्वर्ण रत्न आदिक जड़ित आभूषण प्राप्त होते है । (९) नवमी निधि है नानारत्न—इस निधि के प्रताप से बड़े-बड़े रत्नसमूहों की प्राप्ति होती है । अब देखिये यह सब वैभव कितना कूता जायगा? क्या करोड़ों का, या अरब, खरब, नील आदिक का? अरे कुछ कह ही नहीं सकते । यह सब वैभव चक्रवर्ती के सामने पड़ा है, पर उससे चक्रवर्ती के आत्मा को क्या लाभ? ये सब बाहर पड़े हैं । पौद्गलिक ठाठ हैं, उनसे इस आत्मा का कौनसा हित होता है? मगर वह सब पुण्य वैभव है जिसके प्रति लोग ललचाते रहते हैं । यहाँ ललचाया जाने योग्य कोई वस्तु नहीं है । इनका लालच ही तो इस जीव को संसार में रुलाता है । हां देखिये यह भी एक विचित्र बात है कि ज्यों-ज्यों वैभव की चाह कम होती जाती हैं त्यों-त्यों वैभव की वृद्धि होती रहती है । इस आने वाले वैभव को देखकर उसमें मस्त न हों । उसके प्रति निर्लेप रहें ऐसा भाव रहता है भव्यात्मा का । चक्रवर्ती की ये ९ निधियां होती हैं । इतना विशाल पुण्य सम्यग्दृष्टि जीव के बंध करता है, इतने पर भी पुण्य का जो फल प्राप्त होता है वह रमने योग्य नहीं है । जो इनमें रमा सो संसार में रुला ।

चक्रवर्ती के १४ रत्नों में ७ सजीवरत्नों का निर्देश—चक्रवर्ती के १४ रत्न होते हैं, जिन में ७ रत्न तो सजीव हैं और ७ रत्न अजीव है । (१) पहला रत्न है पवनंजय—इसके प्रताप से पवन के समान उड़ने वाले अश्व (घोड़े) प्राप्त होते हैं । (२) दूसरा रत्न है विजयगिरि—इस रत्न के प्रताप से विशाल बलशाली गज (हाथी) प्राप्त होते हैं । वैसे लोग तो सिंह को हाथी से भी अधिक बलशाली बताते पर हाथी का बल और किस्म का है सिंह का बल और किस्म का । सिंह में फुर्तीलापन होता है, हाथी में गम्भीरता होती है । सिंह को लोग पंचमुख कहते हैं । उसके ५ मुख होते, कैसे कि एक मुख तो रहता ही, बाकी चार पंजे भी उसके मुख का जैसा ही काम करते हैं । वे पंजे दांतों की तरह तीक्ष्ण नुकीले होते हैं, इससे सिंह हाथी पर भी हमला कर बैठता । वैसे बल में सिंह हाथी से कम होता है । हाथी एक गम्भीर प्राणी है, उसमें बल बहुत अधिक होता है । (३) तीसरा रत्न है भद्रमुख । इसके प्रताप से गृहपति ऐसा मिलता है कि जो राज्य की सारी व्यवस्था बहुत सही बनाता है । बड़े घर के लोग राजागण या चक्रवर्ती ये स्वयं अपने घर की व्यवस्था में नहीं रहते, इनका तो एक विशाल कर्तव्य होता है । घर की व्यवस्था के लिए उनका एक सुपरिन्टेन्डेट (गृहपति) होता है जो कि गृहकार्य की व्यवस्था करने में बड़ा कुशल होता है । (४) चौथा रत्न है कामवृष्टि—इसकी वजह से स्थपति याने कुशल

कारीगरों की प्राप्ति होती है । ऐसे-ऐसे कुशल कारीगर प्राप्त होते हैं जो कि लौकिक सब व्यवस्थायें तुरन्त बड़ी कुशलता पूर्वक कर देते हैं । (५) पांचवां रत्न है अयोध्य—इसके प्रताप से ऐसा कुशल सेनापति प्राप्त होता है जो किसी दूसरे से जीता नहीं जा सकता । जैसे भरत चक्रवर्ती के समय में जो जय कुमार नाम का सेनापति था उससे किसी कारण से भरत चक्रवर्ती का पुत्र अर्द्धकीर्ति भिड़ गया था तो वह भी उससे हार गया था । वहाँ कोई वैतनिक सेनापति नहीं होता, स्वयं कोई बड़े राजघराने का होता है और चक्रवर्ती का सेनापति बनने में, अपना महत्त्व समझकर वह सेनापति बनता है । तो वह सेनापति अयोध्य होता याने वह किसी के द्वारा युद्ध में जीता नहीं जा सकता । (६) छठा रत्न है सुभद्रा—इस रत्न के प्रताप से सुभद्रा युवती याने कुशल सुभग पट्टरानी की प्राप्ति होती है, उसमें इतना बल होता कि कहो रत्नों का चूरा मुट्ठी में रत्न भरकर यों ही हाथ से मल देने में हो जाय और उस चूरा से चौक आदि पूर दे । इतना बल पट्टरानी में होता है । पट्टरानी के अतिरिक्त अन्य १६ हजार रानियाँ होती है । (७) सातवां रत्न है बुद्धि समुद्र—इस रत्न के प्रताप से बड़ा बुद्धिमान पुरोहित प्राप्त होता है जो सलाहकार का काम करे, मंत्री के साथ बैठकर मंत्रणा करे, जो सब प्रकार के कार्यों की बड़ी कुशलतापूर्वक व्यवस्था करे ऐसा पुरोहित प्राप्त होता है ।

चक्रवर्ती के १४ रत्नों में ७ अजीव रत्नों का निर्देश—उक्त ७ रत्न तो चक्रवर्ती के सजीव होते हैं और ७ ही अजीव रत्न होते है । (१) पहला रत्न है छत्र, उसमें सूर्य जैसी प्रभा होती है । यह छत्ररत्न उनकी आयुधशाला में उत्पन्न होता है । (२) दूसरा रत्न है असि जिसका नाम है भद्रमुख, ऐसी तलवार प्राप्त होती जिसके धारण करने से वह सुभट किसी दूसरे के द्वारा जीता नहीं जाता सकता । (३) तीसरा रत्न है दण्ड । चक्रवर्ती के पहरेदार बड़े बलशाली होते हैं वे ऐसे प्रवद्धवेग वाले दण्ड धारण करते हैं कि जिनकी वजह से शत्रु उन पर विजय नहीं पा सकते । (४) चौथा रत्न है चक्र—यह चक्रसुदर्शन ऐसा यंत्र होता कि यदि चक्रवर्ती किसी शत्रु का लक्ष्य करके उसे फेंक दे तो शत्रु उसके अधीन बन जाय । (५) पांचवां रत्न होता है काकिणी—इसके प्रताप से शत्रु के हृदय में ऐसा प्रभाव पड़ता कि उसमें चिन्ता व्याप जाती है जिससे वह पराजय को प्राप्त होता है । (६) छठा रत्न है चिन्तामणि—यह चिन्तामणि रत्न ऐसा अद्भुत होता है कि इसके प्रताप से जो कुछ मन में विचारा गया उस काम की सिद्ध हो जाती है । (७) सातवां रत्न है चर्म—यह एक बड़ा मजबूत विशाल पंडाल सा समझिये । इसका उपयोग चक्री कब करता है जबकि मानों वह चक्री अपनी विशाल सेना सहित कहीं जा रहा है । कहीं मानों मेघ वर्षा तेज होने लगी या बिजली चमकने लगी, ऐसी कोई परिस्थिति आये तो उस समय उस चर्मरत्न का उपयोग होता है । वह ऊपर बड़ा विशाल अनेकों कोशों तक ऐसा ऊपर छा जाता है कि उनको फिर कोई प्रकार की बाधायें नहीं होतीं । ऐसे १४ रत्न चक्रवर्ती को प्राप्त होते हैं । यह सब सम्यग्दर्शन के होते सन्ते शुभ भावों का प्रताप है, जिसका सारे भरत क्षेत्र पर एकछत्र राज्य है । तो अब आप समझिये कि छह खण्ड के अन्दर जो कुछ भी वैभव पड़ा है वह सब, उस चक्रवर्ती का है ।

चक्रवर्ती के अन्य वैभवों का दिग्दर्शन—चक्रवर्ती पर ३२ यक्ष चमर ढोरते हैं । एक-एक यक्ष के बन्धु कुल साढ़े तीन करोड़ हैं । ऐसे ३२ यक्ष चक्रवर्ती पर चमर ढोरते हैं, एक-एक यक्ष के बन्धुकुल साढ़े तीन करोड़ होते हैं । चक्री जब जाता है तो शंख ध्वनि होते मालूम पड़ता लोगों को । शंख २४ होते हैं जो कि दक्षिण की तरफ

आवर्त किए हुए होते हैं । इनमें बड़ी ऊंची ध्वनि होती है जो ४८ कोश तक सुनाई देती है । अब यहाँ चक्रवर्ती का और भी वैभव देखिये—जैसे यहाँ मान लो किसी किसान का वैभव बताना है तो कहते कि इसके इतने हल चलते हैं, मान लो चार हल चलते, ५ हल चलते । जब उससे बड़े जमींदार का वैभव बताना है तो बताते कि इस जमींदार के २० हल चलते, २५ हल चलते, जब उससे बड़े किसी राजा का वैभव बताना है तो कहते कि इस राजा के हजारों हल चलते, ऐसे ही चक्रवर्ती का वैभव बताना है तो कितने बताये जायेंगे? एक कोड़ा-कोड़ी हल । याने एक करोड़ में एक करोड़ का गुणा करने पर जितनी संख्या आवे उतने हल । देखिये इतने बड़े छह खण्ड के राज्य में एक कोड़ा-कोड़ी हल चलना असम्भव बात नहीं । चक्रवर्ती केवल भरतक्षेत्र में ही होते हों सो बात नहीं, भरतक्षेत्र के चक्रवर्ती अलग है, ऐरावत क्षेत्र के अलग हैं और विदेह क्षेत्र के अलग है । जैसे बताया है कि १६० तीर्थंकर विदेह क्षेत्र में एक साथ हो सकते हैं । वैसे बताया है २० तीर्थंकर, २० से कम तीर्थकर तो होंगे नहीं, पहले २० कह दिया है पर सभी नगरियों में जो वहाँ की महानगरियां हैं वे बड़ी विशाल हैं, वहाँ एकएक तीर्थकर एकएक नगरी में हो सकता है । एक समय में १६० तीर्थकर हो सकते हैं, उसी समय ५ भरत में ५ तीर्थकर होते, ५ ऐरावत में ५ तीर्थंकर होते, तो कोई समय ऐसा भी हो सकता है कि जिस समय ढाई द्वीप के अन्दर १७० तीर्थकर विराजे हों । तो छह खण्ड की पृथ्वी पर जगह-जगह उनके फार्म्स हैं, सब कुछ उनकी व्यवस्था है । तो चक्रवर्ती के एक कोड़ाकोड़ी हल होते हैं । उनका राज्य छह खण्ड की पृथ्वी पर है ना? वहाँ रमणीक १२ भेरी बजती हैं । उनकी ध्वनि इतनी तेज होती है कि ४८ कोश तक सुनाई देती है । चक्रवर्ती के पास गायें तीन करोड़ होती है । आखिर छह खण्ड में सर्वत्र उनके स्थान बने है उनके गायें ३ करोड़ होती हैं । अब जरा चक्रवर्ती के बर्तनों का अंदाज लगाइये—थालियां एक करोड़, जब केवल थालियां ही एक करोड़ होतीं तो फिर लोटा, कटोरी, गिलास, चम्मच आदि कितने होते होंगे इसका अंदाज तो लगाइये । देखिये कहां कहा होता है उस चक्रवर्ती का उपयोग । उसके पास ८४ लाख हाथी, ८४ लाख भद्ररथ, १८ करोड़ घोड़े, ८४ करोड़ वीरपुरुष, कई करोड़ विद्याधर, ८८ हजार म्लेच्छ राजा, ३२ हजार मुकुटबद्ध राजा, ३२ हजार नाट्यशाला, ३२ हजार संगीतशाला, ४८ करोड़ पदाति सेना, ३२ हजार देश, ये सब वैभव होते हैं चक्रवर्ती के । ये सब वैभव जानकर हमें ललचाने की शिक्षा नहीं लेना है । ये सब बाहर पड़े हुए पौद्गलिक पदार्थ हैं । उनसे चक्री के आत्मा का क्या भला होता? पर सम्यक्त्व होने पर शुभ भाव होने के कारण ऐसा विशाल पुण्यबंध होता है जो कि मिथ्यादृष्टियों के नहीं हो सकता । ऐसे ये चक्री राजा जिनके राज्य में ९६ करोड़ गांव थे, ७५ हजार नगर थे और १६ हजार छोटे-छोटे खड़े थे, याने कितना विशाल उनका राज्य था जिनकी रक्षा की जगह ५६ तो ऐसे अन्तर्द्वीप थे कि समुद्र के बीच टापू वगैरह जहाँ हर एक का जाना अशक्य है, और २८ हजार दुर्ग थे । देखिये सभी जगह छह खण्ड मौजूद था, सब जगह की बराबर व्यवस्था बनी हुई थी । कहां कौन लोकपाल रहता है, किस राजा को कहां नियुक्त किया है, ऐसे विशाल वैभव वाले चक्रवर्ती इस सम्यक्त्व के प्रताप से उन शुभ भावों के कारण होते हैं । सम्यग्दर्शन का काम नहीं है वैभव दिलाना । वह तो मोक्ष का मार्ग है, पर उसके होते हुए जो शुभ भाव हुए भक्ति आदिक के उन्हें इतना विशेष पुण्य का लाभ होता है ।

श्लोक 39

अमरासुरनरपतिभिर्यमधरपतिभिश्च नूतपादाम्भोजाः ।
दृष्ट्या सुनिश्चितार्था वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः ।।३९।।

सम्यक्त्व की महिमा के सम्बन्ध में गत वर्णन का संक्षिप्त स्मरण—सम्यग्दर्शन की महिमा का प्रसंग चल रहा है । अब तक बताया गया कि जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध जीव हैं वे नरक तिर्यञ्च, नपुंसक, स्त्री पर्याय, खोटे कुल वाले, विकृत अङ्ग वाले, अल्प आयु वाले और दरिद्र नहीं होते । कुछ अपवाद हैं—जिसने पहले नरकायु का बंध कर लिया हो और पीछे सम्यक्त्व प्राप्त हो और क्षायिक सम्यक्त्व हो जाय तो वह पहले नरक जायगा, नीचे नहीं, ऐसे ही जिसने पहले तिर्यञ्च आयु का बंध कर लिया हो और बाद में सम्यक्त्व हो, क्षायिक सम्यक्त्व हो तो वह भोग भूमि तिर्यञ्च होगा । ऐसे ही किसी ने मनुष्यायु का पहले बंध कर लिया हो, पीछे सम्यक्त्व हो जाय, क्षायिक सम्यक्त्व हो जाय तो वह भोगभूमिया मनुष्य होगा । इन तीन अपवादों के सिवाय बाकी ये सब व्यवस्थित हैं । फिर बताया गया कि जो सम्यग्दर्शन से पवित्र हैं वे मनुष्यों में भी ऊंचे मनुष्य हैं । जिनका ओज, तेज, विद्या, शक्ति, यश, वैभव, कुल ऊंचा हुआ करता है, जो पुरुषार्थी होते हैं, बताया गया कि जो सम्यग्दृष्टि हैं, जिनेन्द्रभक्त हैं, वे स्वर्गों में अच्छे देव होते है इसके बाद कहा गया कि सम्यग्दृष्टि पुरुष, जीव देव स्वर्ग से चलकर चक्रवर्ती होते हैं ।

सम्यग्दृष्टियों के तीर्थङ्कर होने के वर्णन में गर्भ व जन्मकल्याणक का निर्देशन—आज बतला रहे हैं कि सम्यग्दर्शन से शुद्ध जीव तीर्थंकर हुआ करते हैं । तीर्थंकर शब्द का अर्थ है जो तीर्थ को करे । धर्मतीर्थ में प्रवृत्ति करें उसका नाम तीर्थकर है । १४८ कर्मों की प्रकृतियों में तीर्थंकर नाम की एक प्रकृति है । जिसका उदय तीर्थंकर के भव में १३वें गुणस्थान के प्रारम्भ में हो जाता है मगर वे तीर्थंकर उस भव में जन्म से ही कहलाने लगते हैं, क्योंकि उनका पुण्य वैभव इतना विशाल है कि गर्भ जन्म तप कल्याणक तीर्थंकर होने से पहले भी होने लगते है । वास्तव में तीर्थंकर १३वें गुणस्थान में कहलायेंगे, क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति का उदय १३वें गुणस्थान में ही होता है । किन्तु जब पहले से इन्द्र को पता पड़ गया और पुण्य वैभव भी अनूठा है तो जैसे जिसे राजा होना होता है उसका लाड़ प्यार उसकी कुमार अवस्था से ही चलने लगता है ऐसे ही जिसको तीर्थंकर होना है उसके गर्भ में आने से ६ माह पूर्व से ही रत्नों की वर्षा होने लगती है । ५६ कुमारियां, देवियां, ६ प्रकार की महादेवियां वहाँ आकर माता के मन को बहलाती हैं और १५ महीने तक रत्नवर्षा होती रहती है । जब प्रभु का जन्म होता है तब जन्मकल्याणक मनाया जाता है । जन्म कल्याणक का लोक में बड़ा प्रभाव समझा जाता हैं । आजकल भी जहाँ पंचकल्याणक होता है वहाँ जन्म कल्याणक में जितनी भीड़ और उमंग जनता में मिलती है, उतनी अन्य कल्याणकों में नहीं मिलती । तो लोगों को जैसे अपना बालक होना यह प्रिय है तो ऐसी ही भावना के कारण तीर्थंकरों के जन्म के समय की उमंग बहुत अधिक होती है । अब प्रभु का जन्म होता है तो अपने आप ही इन्द्र का आसन कम्पायमान होता है । स्वर्ग में भवनवासियों के भवन में, व्यन्तरों में, ज्योतिषियों में कहीं घंटा, कहीं भेरी, कहीं शंख के शब्द होने लगते हैं । कर्मप्रकृति के उदय का निमित्त नैमित्तिक योग भी अथाह है, उसे कोई यों प्रकट नहीं बता सकता । कितनी ही बातें है । जैसे एक

रेडियो ही बोलता है तो दिल्ली, लंदन या कहीं की भी बात आप सुन लीजिए । भले ही रेडियो के निर्माणकर्ता लोग जानते है कि कहाँ कैसे तार लगाना, क्या करना, पर उसका स्पष्ट परिचय उन तक को भी नहीं हो पाता । कहा शब्द होते हैं कैसे वे कैच करते हैं, किस ढंग से आते है पर सामान्यतया जानते हैं । तो भला प्रभु का जब जन्म हुआ उस समय में पुण्यविपाक का निमित्त पाकर ये घंटा घड़ियाल आदिक स्वयं बजने लगते है । यहाँ भी जिनका पुण्योदय होता है उनके पास वैभव सम्पदा कहां किस तरह आने को है वे कुछ नहीं जानते । अपनी कल्पनायें करते हैं पर सर्व योग अपने आप जुड़ते हैं ।

पराधीन संयोगों का विकल्प न कर स्वाधीन एकत्वनिश्चयगत अन्तस्तत्त्व की उपासना का कर्तव्य—यहां संसार में जितने भी जीवों को सुख दु:ख लगे हुए हैं वे सब कर्मोदयानुसार चलते हैं । कर्तव्य तो अपना यह है कि कर्मोदय से होने वाली बातों को असार जानकर, कर्मोदयजन्य विकार को असार जानकर इन सबसे उपेक्षा करना चाहिए और अपने स्वभाव को सारभूत जानकर यह ही दृढ़ दृष्टि रखना चाहिए और मोक्षमार्ग का ऐसा ऊंचा काम है । निशंक, धोखारहित काम की जो आत्मस्वभाव की रुचि करके, सहज परमात्मस्वरूप की भक्ति करके जो अपने मोक्ष मार्ग की साधना में लगा है, उसका जब तक संसार शेष है तब तक अच्छे कुल में जन्म होगा । यहाँ भी उसे आपत्ति नहीं सहनी पड़ती, तो मोक्षमार्ग तो चल ही रहा है । मुक्ति के मार्ग में वह बढ़ रहा है, इसलिए जीवन में एक ही निर्णय बनाइये कि मुझे अपने आत्मा में बसे हुए सहज परमात्मस्वरूप की उपासना करना मुख्य काम है । एकै साधे सब सधै, सब साधे सब जाय, एक यह न रहे साथ में और बाकी आप सब क्रियायें करते रहे, वे धर्म के नाम पर भी करते रहे, ऊंचे तपश्चरण भी करते रहे, पर एक मूल यह आत्मस्वभाव न जान पाया तो समझिये कि संसार की ही वर्तना करने वाले है । संसार संकट मिटा सकने वाले नहीं है । इसलिए एक ही निर्णय हो । प्रधान कार्य एक मात्र यह ही है कि मैं अपने आत्मस्वभाव को नजर में रखूं दृष्टि में लूं । चैतन्यस्वभावमात्र, जिसकी दृष्टि में आने पर बाह्यविकल्प मिट जाने के कारण अलौकिक सहज आनन्द जगता है । कर्मों का क्षय आनन्द के कारण हुआ करता है कष्ट से नहीं होता । पर वह आनन्द होना चाहिए आत्मीय सहज आनन्द । तो कर्मों की निर्जरा, कर्मों का क्षय आनन्द से होता है क्लेश से नहीं होता क्लेश संक्लेश में तो ध्यान बिगड़ा हुआ होता है, पर जहाँ सहज आनन्द का अनुभव चल रहा हो वहाँ ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक योग है कि कर्म अपने आप अपनी परिणति से झड़ने लगते हैं । जैसे यहाँ लोक में स्पष्ट निमित्त नैमित्तिक योग दिखाई दे रहा है—अग्नि जलाया, तवा रखा, उस पर रोटी चढ़ाया तो रोटी सिक जायगी । कोई शंका नहीं करता, ऐसा ही योग है, जानते है, और ऐसा ही पौरुष करते हैं । तो यहाँ भी ऐसा ही योग है कि जब हम अपने आपको सम्हालेंगे, अपना उपयोग सहज-सहज चैतन्यस्वभाव दृष्टि में रखेंगे, अनुभवेंगे कि यह हूँ, मैं तो वहाँ जो एक सहज आनन्द जगता है उसके निमित्त से ये कर्म अपने आप झड़ने लगते हैं । तो अपने को करने योग्य काम केवल एक ही है । न कर्म पर दृष्टि देना है कि कर्म मेरे बैरी हैं, न बाहरी क्रियाकाष्ठों में दृष्टि देना है, कि मैं ऐसा ही शरीर चलाऊं, ऐसे ही वचन बोलूं तो मेरे कर्म कटेंगे । होगा उसके सहज, मन, वचन, काय कहाँ जायेंगे? जब लगे हुए है साथ? यदि शुद्ध दृष्टि बनेगी तो उसके अनुरूप मन, वचन, काय चलेंगे पर मैं मन, वचन, काय को ऐसे चलाऊ और कर्म काटुं इन भावों से कर्म न कटेंगे ।

कल्याण के मूल साधनभूत अन्तस्तत्त्व दृष्टि की सुगमता व स्वाधीनता का दिग्दर्शन—भैया, हम आपको कितनी सुगमता है कि केवल एक ही कार्य करना है इसे । जो अपना सहजस्वरूप है उसको अनुभवना है कि मैं यह हूँ दूसरा ख्याल ही न लाइये, और कोई झगड़े की जरूरत ही नहीं है । मैं आत्मा हूँ, मैं अमर हूँ, सदा रहूंगा, जैसा मुझ में भाव जगे वैसा ही मेरा भविष्य बनेगा । मैं खुद अपना ही अपना जिम्मेदार हूँ । ऐसा भाव करके एक इस एकत्व निश्चयगत आत्मा को निरखिये मैं क्या हूँ । बस इसका सही उत्तर आ जायगा, कल्याण हो जायगा । जो भी तीर्थंकर हुए हैं उन्होंने क्या किया था पूर्व भव में? बस यह ही आत्मस्वभाव की साधना की थी । जितने भी जीव अब तक मोक्ष गए हैं उन्होंने क्या किया था? इस सहज आत्मस्वरूप की उपासना की थी । अब आप देख लीजिए कि धर्मपालन बिना किसी का ठीक-ठीक गुजारा न चलेगा । संसार में नाना कुयोनियों में जन्ममरण होंगे और वह धर्म पालन कितना सुगम है और कितना अपनी दृष्टि के वश है कि जब ही दृष्टि निर्मल हुई, दृष्टि में अपना आत्मस्वरूप हुआ, यह ही मैं हूँ इस प्रकार का अनुभव जगा तो सारे काम जैसे होने हैं वे सब आटोमैटिक ढंग से होने लगेंगे । जैसे किसी बड़े मिल में एक बटन ही नीचे किया कि सारे काम अपने आप चल रहे हैं । भले ही उनकी व्यवस्था में बड़ा प्रयत्न पहले करना होता है मगर जब व्यवस्थित ढंग रहता है तब वहाँ सिर्फ एक बटन दबाया कि सारे काम होने लगे, तो ऐसे ही पहले तो तत्त्व का श्रद्धान करने के लिए तत्त्व का परिचय करना, वस्तु का स्वरूप समझना ये सब बातें करनी होती है, पर जब व्यवस्थित ढंग बन जाता है तब केवल एक बटन ही नीचे करना होता है अर्थात् अपनी दृष्टि में इस सहज आत्मस्वरूप को ही अनुभवना होता है । कर्म कैसे कटते? कट जाते हैं विकार कैसे हटते? हट जाते हैं । संस्कार कैसे टलते? टल जाते हैं । आपका केवल एक ही काम है, मगर यह काम उस ही के होता है जिसका कि पवित्र चित्त हो, जिसका कि निर्मल आशय हो ।

स्वभावदृष्टि पाने के पात्र जीवों का अन्तरङ्ग आचरण—धर्म और धर्मसाधनों के प्रति जिसकी अतिशय उमंग हो वह दृष्टिमात्र में अपने स्वभाव के अभिमुख हो जाता है । तो ऐसी स्वभाव अभिमुखता पाने के लिए अपना आचरण भला होना चाहिए, नहीं तो वह पात्रता न आयगी कि जहाँ आत्मा के सहजस्वरूप का अनुभव बन सकता है । सदाचार में किया, पर वे चार भावनायें हृदयंगम कर लीजिए । (१) सब जीवों में मैत्री भावना रहे, किसी जीव में कषाय न जगे, किसी के प्रति विरोधभाव न आये । कषाय और विरोधभाव तो ये फाल्तू से काम हैं । मैं अपने परमात्मा का क्यों घात करूं? परमात्मा का घात न हो और किसी जीव के प्रति विरोधभाव न रहे, सर्व जीवों में मैत्री भाव रहे । (२), दूसरी भावना यह रहे कि गुणीजनों को देखकर हर्ष हो जाय । देखिये यह द्वितीय भावना जिसके नहीं है उसमें स्वानुभव की पात्रता नहीं आ सकती । कोई भीतर का कलंक कषाय ही तो है, कोई अज्ञान भ्रम ही तो है जिससे गुणी जीवों को देखकर हृदय में प्रेम नहीं उत्पन्न होता, प्रमोद नहीं जगता, हर्ष नहीं होता । आप उसकी तुलना करें । घर के बच्चों को निरखकर या विषय कषायों में लगाने वाले मित्रों को निरखकर जैसे आप हर्ष और उमंग करते हैं, उससे भी कहीं अधिक उमंग गुणी जीवों को देखकर होना चाहिए । यह अपने आप पर दया करने की बात कही जा रही । इससे न कहीं समूह पर एहसान है न गुणों पर एहसान है, न कोई उलाहने की चीज है । यह तो अपने आप में पात्रता कैसे आये और मैं स्वानुभव

का अधिकारी कैसे बनूं ऐसी अपने आपकी दया की बात है । जितना तन, मन आदिक जो कुछ अर्पण आप किसी दूसरे के लिए कर सकते है उससे भी अधिक उमंग यदि धर्म और धर्मसाधन के प्रति हो तब समझिये कि हम इस स्वानुभव के अधिकारी है । गुणीजनों में प्रमोद भावना होनी चाहिए । (३) तीसरी भावना है दुःखी जीवों को देखकर दया उमड़ जाना । जो दुःखी जीवों को देखकर भी हर्ष मानता, खुश होता वह तो उसकी कठोरता है ही जो उपेक्षा कर जाता उसके भी कठोरता समझिये । सर्व जीवों को अपने स्वरूप के समान निरखने की कला जिसमें नहीं आयी वह मोक्षमार्ग का पात्र नहीं होता । दुःखी जनों को देखकर दया का भाव आये । (४) चौथी भावना है विपरीत वृत्ति वाले पुरुषों को देखकर माध्यस्थ भावना जगता । न राग न द्वेष, क्योंकि उद्दंडों से राग में भी आपत्ति है द्वेष में भी आपत्ति है, उद्दंड पुरुषों के प्रति प्रीति करे या विरोध करे, दोनों में संकट है अतएव माध्यस्थ भाव हो । जिसने जीवन में ऐसी भावना पुष्ट की है उसको वह पात्रता मिलेगी कि वह तत्त्वज्ञान के बल से इस सहज परमात्म तत्त्व की दृष्टि कर सकता है ।

तीर्थंकर प्रभु के जन्म व तप कल्याणक का दिग्दर्शन—जिन जीवों ने सहज परमात्मतत्त्व की दृष्टि की उन्होंने दर्शनविशुद्धि भावना के प्रताप से तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया और जिस भव में तीर्थंकर होंगे उस भव में उनके कल्याणक मनाये जाते हैं । हां जन्म कल्याण के समय इन्द्र देवतावों के साथ बड़े समारोह ठाठ से उस नगरी में आता है और वहाँ इन्द्राणी प्रसूति गृह में जाकर मायामयी बालक सुलाकर उस बालक को ले आती है । इन्द्र के हाथ में वह इन्द्राणी उस तीर्थंकर बालक को देती है । उस समय जो उनके चरणों में चिह्न दिखाई देता है उस चिह्न की प्रसिद्धि करते हैं, ध्वजायें बनाते हैं और मेरु पर्वत पर ले जाते हैं । कवि कहता है कि चूंकि तीर्थंकर बालक का प्रथम दर्शन इन्द्राणी को होता है और उस समय उसके निरखने की उमंग से उसके बड़े ऊंचे भाव होते हैं । कितने ही तीर्थंकर बालक के दर्शन किया है इन्द्राणियों ने वे इन्द्राणी भी पुरुष भव पाकर मनुष्य होकर मोक्ष चली जाती हैं । एक इन्द्र का जितना समय है स्वर्ग में उतने समय में करोड़ों नहीं, अरब नहीं, नील महानील की संख्या से इन्द्राणियां मुक्त हो जाया करती है, जन्म कल्याणक मनाया, क्षीर समुद्र के उस प्राकृतिक प्रासुक जल से अभिषेक किया भक्तिगान करके उसी महल में माता पिता को सौंपा और अपने-अपने स्थान चले गए । देखिये बताया है कि जन्मकल्याणक के समय स्वर्ग खाली हो जाता है । रहते थोड़े देव मगर बहुत देव यहीं आ जाते हैं इसलिए सब देवों का आना कहा जाता है? उनका मूल शरीर नहीं आता, वैक्रियक शरीर यहाँ आता है मूल शरीर तो वहीं रहता है । जन्म कल्याणक के बाद प्रभु गृहस्थी में रहे, किन्हीं का कैसा ही जीवन गया, आखिर एक समय ऐसा आता है कि उनके विरक्ति होती है और राजपाट सब त्यागकर वे वन जाने की तैयारी में हो जाते हैं । लौकांतिक देव जो कभी भी मध्यलोक में नहीं आया करते, प्रभु के गर्भ, तप, ज्ञान, निर्वाण कल्याणक में भी नहीं आ पाते, क्योंकि वे लौकांतिक देव द्वादशांग के पाठी हैं ब्रह्मर्षि हैं । ब्रह्मचारी हैं, वे सदा तत्त्वचिन्तन में लगे रहते हैं उनको उसी में संतोष है, पर जिस समय तीर्थंकर को वैराग्य होता है, वैराग्यप्रिय होने से वहाँ सब आते है । तीर्थंकर के वैराग्य का समर्थन करके चले जाते हैं, वहाँ तप कल्याणक मनाया जाता है ।

मनुष्यभव की श्रेष्ठता का एक चित्रण—जिस समय इन्द्र पाल की सजाकर तीर्थंकर महाराज को उसमें बैठाकर

ले जायेंगे उस प्रसंग में एक कवि की भावना के अनुसार एक झगड़ा विशेष हो जाता है वह झगड़ा क्या है? मनुष्य और देव का । मनुष्य कहते हैं कि तीर्थकर प्रभु को पालकी में बैठालकर हम ले जायेंगे, देव कहते है कि तुम्हारी क्या ताकत है? हमने तो गर्भ कल्याणक मनाया, जन्म कल्याणक मनाया, मनाते चले आये, तप आदिक भी मनाते हैं, तुम में क्या शक्ति है, इसका अधिकार तो हम को है । उस समय मनुष्य भी हठ कर गए बोले आप इसे नहीं छू सकते । पालकी ले जाने का ऐसा विवाद होने पर एक दो प्रमुख पंच बनाये गए । दोनों ने अपने-अपने बयान दिये । बहुत कुछ सुनने के बाद पञ्चों का न्याय होता है कि इस पालकी को वह ले जायगा जो भगवान की तरह दीक्षा ले सके । यह बात सुनकर वे देव बड़े अप्रसन्न हुए, अपना माथा धुनने लगे, और अपनी झोली फैलाकर मनुष्यों से भिक्षा मांगने लगे कि हे मनुष्य, तुम मेरा सारा देवत्व ले लो सारे वैभव ले लो और अपना मनुष्यत्व मुझे दे दो । भला बताओ यह मनुष्यत्व क्या भीख मांगने से मिलता है? नहीं, बड़ा दुर्लभ है यह मनुष्य भव का पाना । इस मनुष्यभव को पाने के लिए बड़े-बड़े देव देवेन्द्र तरसते हैं । ऐसे दुर्लभ मानवजीवन को पाकर यदि विषय कषायों में इस मनुष्यपने को खो दिया तो यह कोई विवेक नहीं है । यह तो महा मूढ़ता है । उसका कर्तव्य इस प्रकार का है कि जैसे किसी को बर्तन मलने के लिए राख चाहिये थी तो उस राख को पाने के लिए चंदन की लकड़ी जलावे । अरे चंदन तो एक मूल्यवान लकड़ी है, उसे राख के प्रयोजन के जलाना एक मूर्खता भरी बात है, ऐसे ही मनुष्यभव जो कि इतना दुर्लभ भव है किं जिसे पाने के लिए बड़े-बड़े देव देवेन्द्र तरसे उसे पाकर विषय कषायों में गंवाना एक मूर्खता भरी बात है । तो अपने मन में एक ऐसी दृढ़ता लाइये कि मेरा यह मानवजीवन विषय कषायों के लिए नहीं है, किन्तु धर्मधारण के लिए है । धर्मात्मावों की प्रीति के लिए धर्मसाधना के अनुराग के लिए मेरा जीवन होगा, और मूल में आत्मस्वभाव की दृष्टि करना ही लक्ष्य होगा ।

तीर्थंकरों के चरित्रपरिचय से अपने लिए शिक्षण—तीर्थंकर प्रभु का तप कल्याणक भी ठाठ से मनता है । वे तपश्चरण मौन पूर्वक करते । उनको केवल ज्ञान उत्पन्न होता है । केवलज्ञान के समय भी कल्याणक, समवशरण की रचना, उनके दिव्योपदेश के कल्याणक कुछ काल बाद और योगनिरोध बाद अयोग केवली होकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं । वहाँ निर्वाण कल्याणक मनाया जाता है । तो ऐसे ये तीर्थकर जिनके कल्याणक मनाये जाये, देव, राजा आदिक १०० इन्द्रों के द्वारा जो पूज्य हो, ऐसे तीर्थकर होते हैं सम्यग्दर्शन के प्रभाव से । सम्यग्दृष्टि जीव तो विशुद्ध भावना में आते हैं । उनके तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है । तो यह सम्यक्त्व की महिमा का प्रकरण है । सम्यग्दर्शन के प्रभाव से इस आत्मा में कैसे-कैसे अतिशय प्रकट होते है, वैसे आनन्द में बढ़ते हैं यह सब प्रसंग जानकर चित्त में एक ही निर्णय करें कि इस जीवन में मुझे सम्यक्स का लाभ करना है और बातें इस मुझ आत्मा के लिए इस प्रकार हैं जैसे कि अनन्त भवों में ये बेकार बातें होती चली आयी है । सो भाई जिस धर्म के प्रताप से तीर्थकर आदिक मुक्त होते हैं वह धर्म हमारे लिए शरण है । वह धर्म मेरे में मेरे अन्त: विराजमान है, उसकी रुचि हो जाय तो कल्याण का मार्ग अवश्य ही मिलेगा ।

श्लोक 40

शिवमजर मरुजमक्षय-मव्याबाधं विशोकभयशङ्कम् ।

काष्ठागतसुखविद्या-विभवं विमलं भजन्ति दर्शनाशरणा: ।।४०।।

सम्यग्दृष्टिजीव के मोक्षपद का लाभ—सम्यग्दर्शन का शरण जिसको मिल चुका है अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव उस सम्यक्त्व के प्रताप से इसही स्वभाव दृष्टि में बढ़कर सम्यक्चारित्र पाकर सम्यक्चारित्र की पूर्णता से मोक्ष पद को प्राप्त करते है । वह मोक्षपद कैसा है? अनेक लोग ऐसा सोचने लगते है कि जितना संसार में सुख है उससे कई गुना सुख मोक्ष में है पर संसार का सुख है अन्य जाति का, क्षोभ वाला तो क्षोभ वाले सुख से अनन्तगुना सुख है इसका क्या अर्थ हुआ? सांसारिक सुख से कई गुना सुख है ऐसा न सोचना किन्तु उनका आनन्द विलक्षण जाति का है । इस सुख से बिल्कुल विपरीत जाति है । केवल आत्मा से ही विशुद्ध आनन्द प्रकट होता है, जहाँ आकुलता का क्षोभ का नाम नहीं है । प्रथम तो यह विचारें कि उस जीव के शरीर नहीं है, केवल ज्ञानपुञ्ज आत्मा । ज्ञानमात्र आत्मा जो ज्ञानमात्र आत्मा है उसके शरीरजन्य सुख का क्या काम है? आत्मा स्वयं आनन्दस्वरूप है, इसलिए परम आल्हाद पूर्ण निराकुलता, केवल ज्ञाता दृष्टा रहना यह स्थिति होती है मोक्ष में । जहाँ पूर्ण निराकुलता है और ऐसी निराकुलता अनन्तकाल तक बर्तती रहेगी, ऐसा पद है मोक्ष ।

अजर अरोग अक्षय अव्यावाध विशोक विभय अशङ्क शिवपद का गुणगान—मोक्षपद में जीर्णता का नाम नहीं है । आत्मा में कोई कमजोरी या जीर्णता नहीं आती इसलिए वह शिवपद अजर है, रोग रहित है । रोग का आधार है शरीर और शरीर से अत्यन्त जुदा हो गया है, उस मोक्ष में रोग का क्या काम? वह शिवपद अनन्य है, अविनाशी है । जो अनन्त चतुष्टय प्रकट हुआ है, अनन्त ज्ञान, केवलज्ञान उसका कभी विनाश न होगा । समय-समय प्रति समय केवलज्ञान-केवलज्ञान रूप के परिणमन चलते रहेंगे, ऐसे ही अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द ये सदा बर्तते रहेंगे, ऐसा अक्षय है वह शिवपद । जिस मोक्ष में बाधा का नाम नहीं । बाधा का यहाँ कारण था शरीर, मन, अनेक शारीरिक कष्ट थे, अनेक मानसिक कष्ट थे, जहाँ शरीर न रहा, वहाँ मानसिक कष्ट का भी काम नहीं, वह आत्मा है, ज्ञानमात्र है, परिपूर्ण सत् है वह शुद्ध विकास है, दोष का नाम नहीं, धर्मादिक द्रव्यों की तरह अब वह पूर्ण शुद्ध अवस्था है । वहाँ बाधा का काम नहीं है, वह शिवपद शोकरहित है । शोक का भी कारण है तन, मन और वचन । तो वचन से होने वाला जो कष्ट है वह मानसिक कष्ट में ही शामिल होता है और शरीर में होने वाले कष्ट शारीरिक कष्ट हैं । तो जहाँ शरीर नहीं वहाँ शंका का आधार कुछ रहा ही नहीं, मन नहीं तो शोक का आधार कुछ रहा ही नहीं । वह आत्मस्वरूप स्वयं सहज ज्ञान और आनन्द से भरा हुआ है । जैसे यहाँ पुद्गल देखते हैं तो पुद्गल क्या? जो रूप, रस, गंध, स्पर्श का पिण्ड हो, तो आत्मा को बतलावो आत्मा क्या? जो ज्ञान और आनन्द का पुञ्ज हो । आत्मा का रहस्य बड़ा अद्भुत है जिसकी दृष्टि आत्मा के अंतस्तत्त्व पर पहुंच जाती है वह पुरुष धन्य है । आत्मा अमूर्त है, पर जैसे आकाश अमूर्त है किन्तु सत् है, प्रदेशवान है ऐसे ही आत्मा स्वयं सत् है प्रदेशवान है और उसका असाधारण स्वरूप है ज्ञान और आनन्द । ऐसा ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा जहाँ शुद्ध हुआ है, अकेला रह रहा है वह परिपूर्ण विकसित है, वहाँ शोक का क्या काम? भय भी किस बात का? विकल्प ही कुछ नहीं है और अमूर्त आकाश में आपत्ति क्या आती? जैसे लाठी मारी गई तो बताओ आकाश में लगेगी क्या? आग जलाया तो आकाश जलेगा क्या? जैसे अमूर्त आकाश को किसी पर पदार्थ से कोई बाधा नहीं आती, ऐसे ही अमूर्त आत्मा को किसी भी प्रकार

से कोई बाधा नहीं आती । बहां भय का कोई अवकाश ही नहीं, और फिर निर्विकल्प है । तो वह शिवपद भयरहित है और इसी प्रकार शंकारहित है ।

शिवपद की काष्ठागतविद्याविभवता—इस शिवपद में ज्ञान और आनन्द का वैभव उत्कृष्ट से भी उत्कृष्ट बन गया है । आत्मा ज्ञानस्वरूप है, पर ज्ञानावरण कर्म का उदय होने पर यह ज्ञान कम हो जाता है । न्याय के ढंग से विचार करें, जब ही आवरण हटता है तो वह ज्ञान बढ़ता है, तो एक ही नियम है कि पर पदार्थ के कारण जो चीज घटी और पर पदार्थ के हटने से जो चीज बढ़ी वह वस्तु कभी किसी के एकदम उत्कृष्ट बढ़ी हुई भी होती है । सामान्यतया यह दृष्टि दें कि जो चीज घटती है वह घटकर कभी बिल्कुल भी मिटती है, जो चीज बढ़ती है वह बढ़-बढ़कर कभी भी पूर्ण बढ़ जाती है । अभी इसमें दोष आयेंगे, उन दोषों का निराकरण करने के लिए विशेषण आयगा, पर सामान्यतया अभी यह जानें कि जो चीज घटा करती है वह घट-घटकर एकदम घट सकती है । जैसे रागद्वेष विकारभाव ये घटा करते है । किसी जीव में राग कम है किसी में और कम है, तो कोई जीव ऐसे भी होंगे कि जिन में राग बिल्कुल न रहेगा । दूसरी बात ज्ञान में दिखती है कि इसका ज्ञान अधिक है, इसका ज्ञान और भी अधिक है तो कोई आत्मा ऐसा भी होता होगा जिसके पूर्ण अधिक परिपूर्ण ज्ञान हो गया? सामान्यतया एक युक्ति लगावो, पर इसमें एक आपत्ति आती है कि हम उल्टा फेरकर रोक लगा दें कि ज्ञान किसी में कम है किसी में बहुत कम है तो किसी में बिल्कुल भी ज्ञान खत्म है । तथा किसी में राग अधिक है किसी में और अधिक है तो कोई ऐसा होता होगा कि जिसमें परिपूर्ण व सदा राग रहेगा । क्या ऐसा भी होता होगा कि जहाँ ज्ञान बिल्कुल न रहेगा? या राग सदा के लिए परिपूर्ण रहेगा । भैया, यह आपत्ति यों नहीं आती कि यहाँ यह समझना होगा कि आवरण के हटने पर, जो घटे वह कभी पूर्ण घट सकता है, आवरण के मिटने पर जो बढ़े वह कभी पूर्ण बढ़ा हुआ हो सकता । ये दो विशेषण साथ लेने से यह समस्या ठीक बैठती है । आवरण के हटने से राग बढ़ता है क्या किसी के आवरण के हटने से तो राग घटता है । इसलिए जब आवरण पूरा हट गया तो राग कहीं पूरा मिट गया । आवरण के हटने से ज्ञान बढ़ता है । तो जहाँ आवरण पूरा हट गया वहाँ ज्ञान पूरा हो गया । इस युक्ति से आप यह जानें कि कोई आत्मा ऐसा है कि जहाँ ज्ञान परिपूर्ण हो जाता है । जहाँ ज्ञान परिपूर्ण है वहाँ लोक अलोक सब एक साथ स्पष्ट प्रत्यक्ष ज्ञात होते हैं ।

देखिये—ज्ञान तो है जानने वाला और सारे पदार्थ है विषयभूत । तो विषय और विषयी इन दोनों के सम्बंध को देखा जाये तो कह सकते है कि भगवान के ज्ञान होने का निमित्त कारण सारा विश्व है । है वह निमित्त कारण विषय रूप से पर यह कभी नहीं कहा जा सकता कि पदार्थों के परिणमन होने का निमित्त कारण भगवान का ज्ञान है । जैसे कि आसानी से यह कह दिया जाता है कि भगवान ने जाना सो हो गया याने भगवान ने जाना इसलिए हो गया, यह कारण कार्य न बनेगा पर यह कारण कार्य तो बन जायगा विषयी के रूप से कि चूंकि ऐसा होना था सो भगवान ने जान लिया । तो भगवान का ज्ञान केवल ज्ञाता मात्र है । जो था, जो है जो होगा वह सब भगवान के द्वारा ज्ञात है ।

प्रभु की उत्कष्ट ज्ञान और आनन्द से परिपूर्णता—कोई शंका कर सकता है कि तीन काल की बात भगवान

जानते है । यह बात कैसे समझें? अरे जो वर्तमान में पड़ा होगा सो झलकेगा, भूत भविष्य कैसे ज्ञान में आयगा? तो आप भगवान की बात थोड़ी देर को छोड़ो, अपनी ही बात सम्हाल लीजिए, अपने की किसी भी ढंग से हो, भूत काल की कुछ चीजों का ज्ञान होता है या नहीं? कम से कम इसी भव में ५-७ वर्ष की उम्र तक का अब से पहले का बहुतसा ज्ञान चलता है । जो-जो देखा जो-जो परिचय में आया उस सब विषयक ज्ञान चलता है । तो इसमें भी तो भूतकाल विषयक ज्ञान चलता है, भविष्य का भी चलता है । चाहे वह सही निकले या नहीं, मगर कला है ऐसी कि भविष्य का जाने । किसके सही निकल आता है, तो भूत वर्तमान और भविष्य तीनों काल के पदार्थो का ज्ञान प्रभु के होता है, सबका होता है । स्पष्ट प्रत्यक्ष होता है? यों मोक्षपद उत्कृष्ट ज्ञान से परिपूर्ण है । आनन्द भी वहाँ परिपूर्ण है, क्योंकि आनन्द के बाधक हैं अष्ट कर्म—चार घातियाकर्म, मोहनीयकर्म, वेदनीयकर्म, संसार के विषयों का आश्रय लेना, ये सारी की सारी बातें शिवपथ में नहीं है इस कारण वहाँ सुख में कोई बाधा नहीं है । जो सुख थोड़ा बहुत यहाँ मालूम होता है वह सुख क्या है? वह शान्ति की वस्तु नहीं है, किन्तु कल्पना में बड़ा दुःख न रहा उससे कुछ सुख का अनुभव किया जाता है । जैसे मानों किसी को १०५ डिग्री बुखार है, उतर कर रह गया १०१ डिग्री, अब उससे कोई पूछे कि भाई अब कैसी तबीयत है? तो वह कहता है कि अब तो ठीक है । अरे ठीक कहां है? अभी तो १०१ डिग्री बुखार है, पर वह थोड़ा कम हो जाने से मानता है कि ठीक है, तो ऐसी ही आप संसार की सारी स्थितियों में परख लो कि जिसको हम सुख मानते है वह सुख नहीं है । है वास्तव में दु:खरूप पर अन्य दुःख कुछ कम हो गया इस कारण अपने को सुखी मान लेते । वस्तुत: देखा जाय तो संसार के सभी सुख आकुलता से भरे है । भले ही मोह के कारण उन आकुलतावों पर दृष्टि नहीं डाल पाते । तो जहाँ इष्ट समागम का आश्रय नहीं, वेदनीय कर्म नहीं; मोहनीय नहीं, चार घातिया नहीं, अष्ट कर्म नहीं, शरीर नहीं, वहाँ पर सुख दुःख का क्या प्रसंग है । और सुख दु:ख से रहित जो अवस्था है वह अनन्त आनन्दरूप अवस्था है । तो वह शिवपद उत्कृष्ट ज्ञान और आनन्द से भरा हुआ है ।

जैन शासन का सर्वत्र प्रसार न हो सकने के तीन कारणों में प्रथम कारण का निर्देश—युक्त्यनुशासन में पूज्य समंतभद्राचार्य ने प्रभु की स्तुति करते हुए बताया है कि हे भगवान आपके गुण इतने अपार हैं कि कोई उनका वर्णन कर ही नहीं सकता है । हां हम अगर कुछ कह सकते हैं तो इतना ही कह पाते हैं कि भगवान काष्ठागत ज्ञान और आनन्द वाले है अर्थात् सर्वाधिक ज्ञान और आनन्द से परिपूर्ण हैं । इतना ही हम बोल सकते हैं, इससे अधिक हम कुछ कह नहीं सकते । अब बात देखो कि कह तो सब डाला, इससे अधिक कहने को क्या था? उत्कृष्ट ज्ञान और उत्कृष्ट आनन्द से परिपूर्ण है । खैर यह तो स्तुति की बात है किन्तु वहाँ कोई मानो भगवान की ओर से वकील बोला कि यह तो बताओ कि जब स्तुति में बताया है कि हे प्रभु आप अनन्तज्ञान और अनन्त आनन्दमय हो, और तुम्हारा शासन निर्मल है जीवों को तार देने वाला है तो इतनी बड़ी अच्छी चीज है जैन शासन, किन्तु सारे विश्व में इसका सर्वाधिक प्रचार क्यों नहीं है । याने सर्वत्र केवल एक शासन क्यों नहीं माना जा रहा है? तो उसका उत्तर श्री समंतभद्राचार्य ने कहा है—काल: कलिर्वा कलुषाशयोवा श्रोतु: प्रवक्तुर्वचनानयोवा । त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी प्रभुत्वशक्तेरपवादहेतु: । अर्थात् हितकारी शासन का आधिपत्य

सर्वत्र न होने के क्या है कारण सो सुनो—तीन कारण है उसके । (१) प्रथम कारण तो यह है कि आज का काल पंचमकाल है, कलिकाल है । इस कलिकाल में लोगों की भावनायें खोटी होती हैं, धर्म के प्रतिकूल होतीं हैं विषय सुखों में प्रगति की भावना होती है, धार्मिक चीजों में विघ्न करने में संतोष मानने की प्रकृति बनती है, ये सारी बातें कलिकाल के दोष से होती रहती है । सो प्रभु आपका यह शासन जो सर्वत्र नहीं फैल पा रहा है उसका प्रथम कारण है कलिकाल । पंचमकाल के अन्त से जैन शासन तीर्थरूप में नहीं रहने का । वस्तु में तो धर्म रहेगा पर तीर्थरूप में न रहेगा । जैन शासन ने बताया है कि वस्तु उत्पाद-व्यय धौव्य युक्त है । तो क्या वस्तु का धर्म भी मिट जायगा । जो पदार्थ का धर्म है मेरा असाधारण स्वरूप है, आत्मा का असाधारण चैतन्य स्वभाव है वह कभी नहीं मिटता । धर्म कभी खतम न होगा । धर्म है वस्तु का स्वभाव । धर्म है तो वस्तु में, वस्तु का धर्म सदा रहेगा, पर उसके जानकार न रहेंगे और उस ज्ञान पर अमल करने वाले न रहेंगे, यह स्थिति बनेगी पंचमकाल के अन्त में । यह कहलाता है धर्म का विनाश । तो प्रभु आपका शासन जो एकाधिपति रूप में जगत में नहीं है उसका पहला कारण है कलिकाल ।

जिन शासन का सर्वत्र आधिपत्य न होने का दूसरा कारण है—श्रोतावों का मलिन अभिप्राय होना । यद्यपि एक सभावों के रूप से प्रवचन के रूप से श्रोता वक्ता का सम्बंध चलता रहेगा और सभी श्रोता मलिन आशय वाले हों ऐसा भी नहीं है । श्रोता और वक्ता हित की इच्छा करने वाले भी होंगे मगर वे बहुत कम । बहुत से श्रोताजन तो यही बात देखेंगे कि वक्ता की कोई बात पकड़ें और श्रोतावों के बीचवक्ता से कोई ऐसी चर्चा छेड़ दें कि जिससे श्रोताजन समझलें कि यह श्रोता तो बड़े जानकार हैं, अथवा कोई ऐसा प्रश्न किया जाय कि जिसका उत्तर वक्ता न दे सके तो इससे हमारी महिमा जाहिर होगी या अन्य-अन्य प्रकार के अनेक भाव श्रोतावों के बन सकते हैं । तो जब श्रोतावों का आशय कलुषित है तो फिर जैन शासन की प्रभावना बन कैसे सकेगी? तो दूसरा कारण है—श्रोतावों का कलुषित आशय । एक ऐसी कथा बड़ी प्रसिद्ध है कि एक राजा को एक पुरोहित प्रतिदिन कथा सुनाया करता था । एक दिन उस पुरोहित को किसी काम से कहीं बाहर जाना पड़ा तो उसने अपने बेटे को शास्त्र सुनाने के लिए कह दिया । सो उस पुरोहित का बेटा उस दिन राजा को कथा सुना रहा था । उस कथा में एक प्रकरण ऐसा आ गया कि जो रत्ती भर भी मांस खावे वह नरक जायगा । अब राजा तो मांस बहुत खाता था सो उसको वह बात काफी खटकी । दूसरे दिन जब पुरोहित आया तो राजा नाराज होने लगा उस पुरोहित पर । तुमने कल कैसा कथा बांचने वाला भेज दिया था, वह तो कुछ नहीं जानता ।... अरे कैसे नहीं जानता महाराज? वह तो बनारस का पढ़ा हुआ है । काफी विद्वान है । अरे वह तो कह रहा था कि जो रत्ती भर भी मांस खावे वह नरक जायगा ।... तो राजा के मन की- बात समझ गया पुरोहित और बोला—हां उसने ठीक कहा था महाराज ।... कैसे?... इस तरह कि उसने यही तो कहा था कि जो रत्ती भर मांस खावे वह नरक जायगा । उसने यह तो नहीं कहा कि जो बहुत अधिक मांस खाता हो यह नरक जायगा । तो इस प्रकार का अपने मन माफिक उत्तर सुनकर राजा उस पर बड़ा प्रसन्न हुआ । तो इस काल में श्रोतावों का मलिन आशय है । वे अपने मनपसंद बात सुनना चाहते हैं । यदि मनपसंद बात न हुई तो झट कह उठते कि यह प्रवचन तो बेकार है । इससे किसी को क्या लाभ?

वीरशासन का एकाधिपत्य न होने के कारणों में तीसरा कारण—वीरशासन का एकाधिपत्य न होने का तीसरा कारण है कि वक्ताओं को नयों का ज्ञान नहीं है । अभी कल ही एक जिकर आया था ज्ञप्ति और निष्पत्ति का । चर्चा में था कि ज्ञप्ति की दृष्टि से वर्णन और तरह होता है और निष्पत्ति याने उत्पत्ति की दृष्टि से वर्णन और प्रकार होता है । जैसे एक दृष्टान्त लो—ऊपर पानी खूब बरसा और यहां नीचे हम आप रह रहे, यहाँ पानी का बाढ़ आ गया तो जानकारी की ओर से तो यों कहा जायगा कि यह बाढ़ आयी है तो ऊपर पानी बरसा है । याने बाढ़ आना तो वर्षा की ज्ञप्ति का कारण बन गया और पानी बरसना ज्ञप्ति में कार्य बन गया । साधन से साध्य का ज्ञान हुआ । साधन हुआ बाढ़ का आना और साध्य हुआ पानी का बरसना । पर उत्पत्ति की अपेक्षा देखिये तो यों बोला जायगा कि ऊपर पनी बरसता है, यह तो है कारण और बाढ़ आयी यह है कार्य । अब कोई उत्पत्ति की बात समझाना चाहे और ज्ञप्ति का प्रसंग छोड़कर उसमें बताये कि देखो जब बाढ़ आयी है तो पानी बरसता है यह बात जानने के लिए तो ठीक बैठती है मगर उत्पत्ति के लिए ठीक नहीं बैठती कि देखो बाढ़ आना कारण हुआ ना और पानी बरसना उसका कार्य हुआ । तो देखो एकदम उल्टी बात समझायी गई । जो बात ज्ञप्ति से समझना था उस रूप में उत्पत्ति बात समझा दी गई । तो वहाँ नयों का ज्ञान नहीं है यह ही तो कहा जायगा द्रव्यदृष्टि से जीव नित्यं है । अब कोई अनित्य की बात कहे तो यही तो कहेगा कि पर्याय दृष्टि से जीव अनित्य है । अगर पर्याय न हो तो जीव की सत्ता नहीं रह सकती । पर्यायशून्य कोई-द्रव्य नहीं होता । तो पर्यायदृष्टि से जीव अनित्य है, द्रव्य दृष्टि से नित्य है । अब इन नयों का कोई परिचय न पाये और वक्ता बन जाय तो उससे जगह-जगह त्रुटि होगी । तो वक्ताजनों को नयों को ज्ञान न होने से जैन शासन की प्रभावना नहीं हो पाती । ये तीन कारण हैं जिसकी वजह से हे प्रभो आपके शासन का एकाधिपत्य रहे यह बात नहीं बन पाती ।

काष्ठागतविद्या विभव एवं अमल शिवपद की प्राप्ति का उपाय—तो देखिये—शिवपद की बात कही जा रही है । वहाँ उत्कृष्ट तो ज्ञान है और उत्कृष्ट आनन्द है । ज्ञान और आनन्द का वैभव काष्ठागत है, ऐसा वह शिवपद है, जहाँ कोई मल नहीं रहा । मल तीन प्रकार के होते हैं । (१) द्रव्यकर्म (२) भावकर्म और (३) नोकर्म । द्रव्यकर्म तो ज्ञानावरणादिक अष्टकर्म हैं, वे न रहे मोक्ष में । भावकर्म हैं रागद्वेषादिक विकार । ये भी नहीं हैं मोक्ष में । नोकर्म कहलाता है शरीर, वह भी नहीं है मोक्ष में । इस कारण से सिद्ध प्रभु अत्यन्त निर्मल कहलाते हैं, ऐसा अमल है वह शिवपद । अब उस मोक्षपद में अन्दर की बात देखिये—और यह भी सोचिये कि इन तीन मलों को हटाया कैसे गया? इन मलों की बात चित्त में रखकर मैं इनका नाश करूं, मैं इनको हटाऊं, ऐसा कहकर ये हटाये नहीं जा सकते । उनके हटाने का भी साधन स्वभावदृष्टि है । आत्मा का जो असाधारण स्वभाव है उस स्वभाव की दृष्टि करना यह ही है एक पौरुष जिस पौरुष के बल से यह आत्मा मोक्षपद प्राप्त करता हैं । जो व्यवहारचारित्र है, अणुव्रत, महाव्रत, ऐसी प्रवृत्ति करना, ऐसा चलना, ऐसा निरखना आदिक जो भी स्वाध्याय आदिक व्यवहार धर्म है वे धर्म इस लिए करने पड़ते हैं कि इस जीव पर अशुभ विषयवासना हावी है, क्योंकि अनादिकाल से इनका संस्कार है, सो वे अशुभ विकार विदा हो, मेरे में न आ सकें, शुद्धोपयोग तो अभी बन नहीं रहा, अशुभोपयोग और शुभोपयोग की योग्यता है तो ये विकार हम पर हावी न बन जाये, उस

अशुभोपयोग को टालने का तत्काल सीधा सुगम उपाय शुभोपयोग है । उन व्यवहार धर्मो से हम अशुभोपयोग को टालते और शुद्धोपयोग के पात्र रहते है, उसी शुभोपयोग के प्रताप से कभी शुभोपयोग की सीमा से आगे बढ़कर शुद्धोपयोग में भी पहुंच जायेंगे । तो यह एक स्वभावदृष्टि को दृढ़ बनाने के लिए ये शुभोपयोग के भी प्रयत्न होते हैं और शुद्धोपयोग का पौरुष होता है । कार्य एक ही है हम आपको करने का कि हम अपने स्वभाव की दृष्टि रखें, इस ही के प्रताप से ये दर्शन ज्ञान चारित्रवान भव्य जीव मोक्ष पद को प्राप्त करते हैं ।

श्लोक 41

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमोनं, राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयं ।
धर्मेंद्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकं, लब्ध्वा शिवंच जिनभक्तिरुपैति भव्य: ।।४१।।

सम्यक्त्व के प्रताप से लोक में महिमायुक्त बनकर अन्त में शिवपद का लाभ—जिनकी जिनेन्द्रदेव में भक्ति है ऐसे भव्य जीव सम्यग्दृष्टि ज्ञानीपुरुष कैसे-कैसे भव धारण करके ये मुक्ति को प्राप्त हुए यह वर्णन इस छंद में किया गया है । जैसे एक यह क्रम बताया गया है कि निगोद से निकलकर यह जीव पृथ्वीकाय आदिक में हुआ । वहाँ से दो इन्द्रिय, फिर तीन इन्द्रिय, फिर चार इन्द्रिय, फिर पञ्चेन्द्रिय आदिक बताते हैं, तो ऐसा कोई नियम नहीं है कि निगोद सभी इसी क्रम से उद्धार करते हैं, पर एक क्रम बताया है कि यदि आटोमैटिक एक के बाद जो पास वाला विकास है, उसे प्राप्त कर करके विकसित होगा, तो इस ढंग से विकसित होगा, ऐसे ही यहाँ समझिये कि इस छंद में सम्यग्दृष्टि जीव के उत्थान की बात कही जा रही है, सो कोई ऐसा नियम नहीं है कि इसी ढंग से ही उत्थान हर एक कोई करेगा । किन्तु कोई भव्य प्राणी अच्छे से अच्छे ढंग से लौकिक वैभव को प्राप्त होता हुआ निर्वाण को प्राप्त करे तो उसका चित्रण यहाँ किया गया है । वह सम्यग्दृष्टि भव्य इस मनुष्यभव से चलकर स्वर्गलोक में उत्पन्न होता है । जहाँ ऊंची शक्तियां सुख वैभव है ऐसे ऊंचे देवों में उत्पन्न होता है । इन्द्र होता है, देवेन्द्र समूह में पूज्य होता है, यह सम्यग्दृष्टि की एक पहली बात कही है । उन स्वर्गो में नाना प्रकार के सुख भोगते हुए भी अपने आत्मा की सुध बराबर बनाये रहता है । जब उस देवेन्द्र की आयु पूर्ण होती है, महर्द्धिक देव की आयु का क्षय होता है, नई आयु का उदय होगा मनुष्य का तो वह पृथ्वी पर आकर ३२ हजार राजावों के मस्तिष्क से पूज्य ऐसा चक्रवर्ती बनता है और चक्रवर्ती भव में धर्मपालन कर अहिमिन्द्र लोक की महिमा को प्राप्त होते है । अहिमिन्द्र कहां रहते हैं? लोक के अन्त में । जिसे अन्य लोग बैकुण्ठ कहा करते है वहाँ से अहमिन्द्र प्रारम्भ होता है । उनका बैकुण्ठ किस प्रकार का है सो उनका उन जैसा अभिमत है पर बैकुण्ठ कहो, वैकण्ठ कहो या नवग्रैवयक कहो, शब्ददृष्टि से दोनों का एक अर्थ है । कंठ कहो ग्रीवा कहो, इस कंठ का ही नाम है । और लोक की रचना में यह कंठ पड़ता है स्वर्ग से ऊपर, उनकी अहिमिन्द्र लोक में उत्पत्ति होती है, तो मानों उन्होंने इस सारे लोक को नीचा कर दिया । अधोलोक, मध्यलोक और स्वर्गलोक? इनमें मध्यलोक से ऊपर यह अहिमिन्द्र लोक है, वहाँ यह सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होता है । वहाँ वह आयु को पूर्ण करके मनुष्यलोक में तीर्थंकर होता है जो धर्मेन्द्रचक्र का स्वामी है, तीर्थंकर तीर्थ का करने वाला है, ऐसे उस तीर्थंकर पद को प्राप्त करके मोक्ष को प्राप्त होता है, याने सम्यग्दृष्टि जीव खास ऊंचे भव पायगा तो इस क्रम की बात कही गई है कि वह देवलोक में गया, फिर चक्रवर्ती हुआ, फिर अहमिन्द्र

लोक गया, फिर तीर्थंकर हुआ, इसने तीर्थंकर प्रकृति का कहां बंध किया चक्रवर्ती पद में । ऐसा ही ऊंचा धर्मध्यान दर्शन विशुद्धि हो तो तीर्थकर प्रकृति का बंध कर अहिमिन्द्र लोक गया वहाँ से चलकर तीर्थकर हुआ, । जो तीर्थकर प्रकृति का बंध कर लेता है । उसके प्राय: तीन भव होते हैं ।

सम्यग्दृष्टि की अध्यात्मप्रगति—यहां यह जानना कि उस सम्यग्दृष्टि जीव ने दर्शनविशुद्धि भाव किया तत्त्वार्थ श्रद्धान किया और अनन्तानुबंधी के अभाव से उसकी स्वरूपदृष्टि बनी । यह एक प्रताप जगता है सम्यक्त्व के अम्युदय में । अनन्तानुबंधी कषाय स्वरूपाचरण का घात करती है । अनन्तानुबंधी कषाय न रही तो स्वरूपाचरण प्रकट होता है । स्वरूपाचरण पूर्ण प्रकट नहीं हुआ यहाँ, कुछ अंश में प्रकट हुआ है । पूर्ण स्वरूपाचरण तो कहलाता है स्वरूप में मग्न हो जाना । यह स्वरूपाचरण तो उत्तम कषायरहित जीवों के हुआ करता है, पर वही स्वरूपाचरण है, जिसकी श्रद्धा होने से, स्वरूप की श्रद्धा होने से वह सम्यक्त्वाचरण रूप है । देखिये—स्वरूपाचरण को तो मान लीजिए एक विकास और कम जगह होना, अधिक जगह होना, उत्कृष्ट विकास होना, इन रीतियों से देखिये तो सम्यक्त्वाचरण रूप स्वरूपाचरण चौथे गुणस्थान में होता है । अणुव्रतरूप स्वरूपाचरण ५वें गुणस्थान में होता है । महाव्रतरूप स्वरूपाचरण छठवें सातवें गुणस्थान में होता है । फिर स्वरूपरमण रूप स्वरूपाचरण श्रेणियों में है और स्वरूप मग्नतारूप स्वरूपाचरण कषायरहित जीवों में है । तो स्वरूपाचरण एक आधार मान लीजिए और उनके विकास के इस प्रकार विभाग बना लिये जायें तो कोई विवाद नहीं रहता । अब स्वरूपाचरण चौथे गुणस्थान से होता, स्वरूपाचरण भगवान के होता, ऐसी बात लेकर जो विवाद उठ रहा है वह विवाद इस विकास के भेद से जहाँ जिस भूमिका में जितने अंश में प्रकट है उतना स्वीकार करने में कोई विवाद नहीं है । तो चौथे गुणस्थान में अभी अप्रत्याख्यानावरण का उदय है मायने देश चारित्र को घात करने वाले कषाय का उदय है इस कारण अणुव्रत नहीं हो पाता । देश चारित्र नहीं हो पाता और प्रत्याख्यानावरण का उदय होने से सकल चारित्र नहीं होता फिर भी सम्यग्दृष्टि जीव के दृढ़ भेदविज्ञान है ।

सम्यग्दृष्टि का तत्त्वचिन्तन—मैं क्या हूँ, मैं अपने आप में अमूर्त ज्ञानमात्र परिपूर्ण सत् सामान्य कारण समयसार हूँ । चूंकि जो द्रव्य होते हैं वे परिणमे बिना रह नहीं सकते निरन्तर परिणमते रहेंगे, तो उसके परिणमन में ये गुणस्थान हुए हैं । गुणस्थान परिणमन के निमित्त है, ऊंचे हुए तो वे विकास में निमित्त है । तो यह विकास होता है, गुणस्थान होता है पर मैं स्वयं अपने आप सहज क्या हूं? तो वह हूँ मैं एक सामान्यचैतन्यस्वरूप । वह मैं देह से निराला हूँ, देह मूर्तिक है मैं अमूर्त हूँ । कर्म से निराला हूँ, कर्म मूर्तिक पुद्गल हैं, मैं अमूर्त हूँ, कर्म का उदय होने पर जो विभाव जगते हैं उन विभावों से मैं निराला हूँ, वे विभाव औपाधिक हैं, मैं सहजस्वभाव हूँ ऐसा अपने आत्मा के स्वरूप का जिसके दृढ़ भेद विज्ञान है, परिचय है और यह जीव अपने ज्ञानस्वरूप में ही आत्मबुद्धि लिए हुए है कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानतत्त्व हूँ, ज्ञानी जीव के पर्याय में आत्मबुद्धि स्वन में भी नहीं होती, यह मुख्य बात है । यह भव, यह शरीर यह सब पर्याय है, इस पर्याय के प्रति यह मैं हूँ, ऐसी श्रद्धा ज्ञानी के नहीं जगती । उसकी यह श्रद्धा होती कि इस शरीर से निराला ज्ञानमात्र मैं आत्मा हूँ । ऐसा ज्ञानी पुरुष आत्महित के अर्थ चिन्तन करता है कि हे आत्मन ! तू भगवान के परमागम का शरण ग्रहण कर । वस्तुत: आत्मा के सही सहज स्वभाव का परिचय है । परिचय ही मात्र शरण है और वह परिचय मिलता है भगवान के

आगम के अध्ययन से । इस लिए हम को प्रभु का उपदेश ही शरण है । यह जिनागम परमागम ही शरण है । परमागम का ग्रहण कर उसका शरण लें और ज्ञानदृष्टि के द्वारा अपने अन्दर अवलोकन करें । यह स्पर्श, रस, गंध, रूपमय शरीर तेरा कुछ भी नहीं लगता यह पौद्गलिक है । कर्म भी पौद्गलिक हैं और क्रोध, मान, माया, लोभादिक जो विकार तेरे में उछलते हैं ये भी कर्मोदय जनित हैं, विकार हैं ये भी तेरे स्वरूप नहीं हैं । हर्ष घमंड जो कषायरूप प्रवर्तन ये भी कर्मजनित विकार हैं । ये तेरे स्वरूप नहीं हैं । ''सर्व गतियों में रह गति से न्यारे सर्व भावों में रह उनसे न्यारे ।'' तू जिस गति में रह रहा है उस गति से निराला है, तू जिन भावों में रह रहा है उन भावों से निराला है । यह पर्याय तेरा स्वरूप नहीं ।

ज्ञानी के पर्यायबुद्धि का अभाव—जो अज्ञानी है वह ही ऐसा विकल्प रखता है कि मैं काला हूँ, गोरा हूँ, राजा हूँ, रंक हूँ आदिक । ज्ञानी जानता है कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, गोरा नहीं, काला नहीं, राजा नहीं, रंक नहीं, व्यापारी नहीं, गृहस्थ नहीं, मुनि नहीं, परिवार वाला नहीं, मैं तो स्वतंत्र सत् चैतन्यमात्र हूँ । ये सब बातें हो तो रही है पर मैं नहीं हूँ, कर्मोदय से सब बातें हो रही है, अज्ञानीजनों के ही विकल्प चलते हैं । मैं स्वामी हूँ, सेवक हूँ, बलवान हूँ, कुरूप हूँ, पुण्यवान हूँ, पापी हूँ आदिक अनेक तरह के विकल्प चलते है क्योंकि उसके पर्यायबुद्धि लगी है । पर ज्ञानी जीव के पर्यायबुद्धि नहीं है, इसलिए वह देहादिक सम्बंधी किसी भी पदार्थरूप अपने को मानता नहीं है । परपदार्थों के सम्बन्ध से भी मैं धनी हूँ । न रहे सम्बन्धसंयोग निकट तो मैं निर्धन हूँ आदिक विकल्प करता है । पर अत्यन्त प्रकट परवस्तु से मेरा क्या सम्बंध है ? मेरा तो औपाधिक भावों से भी मेरे स्वरूप का सम्बंध नहीं । तो ज्ञानी जीव के यथार्थ भान रहता है । मैं पुरुष नहीं, मैं स्त्री नहीं, मैं ब्राह्मण नहीं, मैं क्षत्रिय नहीं, मैं वैश्य नहीं, मैं शूद्र नहीं, ये सब विकल्प शरीर के आधार में जगते हैं । मेरे आधार में तो मेरा सहज ज्ञानस्वरूप है । मैं इस रूप नहीं, धार्मिक प्रसंगों में अज्ञानी जानता कि मैं धर्मात्मा हूँ, गुरु हूँ, शिष्य हूँ आदिक पर ज्ञानी जीव के यथार्थ प्रतीति है कि मैं केवल चैतन्यमात्र हूँ । ये सारे कर्मोदय से उत्पन्न हुए ठाठ हैं । मेरा स्वरूप है ज्ञानमात्र, मेरा काम है ज्ञाता दृष्टा रहना । ज्ञानी जीव साधु भी हो जाय तो भी उसकी यह दृढ़ प्रतीति है कि मैं साधु नहीं मैं चैतन्यमात्र अंतस्तत्त्व हूँ, क्योंकि साधुपना पर्याय की चीज है । पर्यायरूप यह आत्मा अपने को मानता नहीं है । यह लोक मेरा नहीं है, देश मेरा नहीं, ग्राम मेरा नहीं, सब कर्मोदय की बात है । कौन-कौन क्षेत्र में कैसे कर्म उत्पन्न करता है । कर्म नहीं उत्पन्न करता, निमित्त नैमित्तिक योग है ऐसा कि जो जैसा कार्य होना होता है उस निमित्त को पाकर इस कर्मविपाक से मैं किन-किन अवस्थावों को प्राप्त होता हूँ? मिथ्यादृष्टि जीव परकृत पर्याय में ममत्व मानता है, मिथ्यादृष्टि जीव अपने को किस-किस प्रसंग की, परसंसर्ग की स्थितियों में मानता है कि यह मैं हूँ, इसी से मेरा बड़प्पन है । इसी से मेरा यश है । इसके साथ मेरी घटी है, वृद्धि है, इस प्रकार नीच ऊंच सब प्रकार के विकल्प करता है ।

ज्ञानी की संचेतना—ज्ञानी पुरुष अपने आप में केवल ज्ञानमात्र तत्त्व को निरखता है । ज्ञानवृत्ति, इस कार्य को देखता है और ज्ञान के साथ आनन्द जुटा है सो उसका अनुभवन यह कर्मफल देखता है । ज्ञानचेतना, कर्मचेतना, कर्मफल चेतना, निश्चय से तो ज्ञान चेतना है ज्ञान में ज्ञान का चेतना । पर उसके दो प्रतिफल बनते हैं—कर्म और कर्मफल चेतना जो ज्ञान द्वारा किया जा रहा है वह ज्ञान का कर्म है । और ज्ञान से किये गये

को जो भोगा जा रहा है वह ज्ञान के कर्म का फल है । पौद्गलिककर्म, पौद्गलिक कर्मफल ये सब व्यवहार से चेते गए हैं पर निश्चय: परमार्थत: क्या देखना—यह है वह परिणमता है और अपने को भोगता है, ऐसा अद्वैत अभेदरूप अपने आपको अन्त: स्वरूप निरखता है ज्ञानी । अज्ञानीजन परवस्तुवों में अपना संकल्प करके आर्तध्यान रौद्रध्यान इनमें ही व्याकुल रहते है, इष्ट का वियोग हो तो उसके संयोग के लिए चिंतन चलता है, अनिष्ट का संयोग हो तो उसके वियोग के लिए चिन्तन चलता है । वेदना से दुर्ध्यान बना, आगे का निदान करके दुर्ध्यान बना । क्यों बना दुर्ध्यान कि उसने परवस्तु में आत्मत्व का अनुभव किया । यहाँ एक बात और भी समझें कि मूल में यह जीव विकार में आत्मतत्त्व अनुभवता है । तो जहाँ जड़ ही खोटी है, भीतर विकार को ही आत्मस्वरूप मानता है तो उस आधार पर इन बाह्य पदार्थो को भी आत्मा मानने लगा । तो जब यह पर तत्त्वों में आत्मत्व मान रहा तो कदाचित यह धर्ममार्ग में लगे, धर्ममार्ग तो नहीं पा सकता, पर व्यवहार में जैसे लोग समझा करते है कि अब यह धर्ममार्ग में लगा, तो वहाँ समझता है कि मैं धर्म का अधिकारी हूँ और कुछ जिनधर्म की बात सीख ली जो अज्ञानी होने के कारण उसमें नवीन-नवीन अपने परिणाम बनाता है, अपनी नई-नई युक्तियां खोजता है लोगों को भ्रम उपजाता है और अपने ज्ञानीपने का अभिमान रखता है और फिर सूत्र विरुद्ध, आगम विरुद्ध अनेक कथनी करता है । जिनागम के प्रसाद से थोड़ा ज्ञान करता है, यह जानकर मिथ्यात्व के उदय में जिनागम का कृतघ्न बन जाता है । उसका उपकार नहीं मानता और अपनी युक्तियां नवीन-नवीन बनाकर नई-नई बातें करता है किन्तु ज्ञानी जीव अपने आप में अपने ही तत्त्व को अनुभवता है । कितने ही अज्ञानी जीव जिनके पर्याय बुद्धि नहीं छूटी जो इस देह में ही आपा मानते चले आ रहे है वे एक भावुकता के कारण सर्व बाह्य परिग्रहों का त्याग कर दें, निर्ग्रन्थ दिगम्बर भेष धारण कर ले और वे कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु का सेवन त्याग दें, तिस पर भी यह मैं हूँ, मैं मुनि हो गया हूँ । मुझ को इस तरह चलना चाहिए, ऐसा पर्याय में आपा मानकर वे अपने को कृतकृत्य मान लेते हैं और जगत के अन्य जीवों की निन्दा करते हैं । मैं अच्छा आचरण करता हूँ, अन्य लोग मुझ जैसा आचरण नहीं कर सकते, इस तरह निन्दा की दृष्टि रखते हुए अपने आप में अपनी प्रशंसा का भाव रखते हुए मिथ्याभाव में वह जाते हैं, किन्तु जिन्होंने अन्दर में स्वभाव और विभाव का भेद पहिचाना वे विभावों से हटकर स्वभाव में रमते हैं । अज्ञानीजन दूसरों के दोष देख देखकर उन दोषों को दूसरों से बता बताकर अपने में मौज मानते है । जबकि सम्यग्दृष्टि जीव प्रत्येक जीव में मूल में उस स्वभाव को निरखते है और ऐसा ध्यान रखते हैं कि मेरे इस आत्मा का कोई विरोधी नहीं है । आत्मा तो स्वभाव से स्वरूप से ज्ञानानन्दमय है । यह जो कुछ हुआ है यह सब उपाधिकृत हुआ है ।

ज्ञानी और अज्ञानी के आशय में महान् अन्तर—ज्ञानी की दृष्टि सहज स्वभाव पर रहा करती है और उसे ही वह आत्मतत्त्व मानता है । कितना अन्तर आ जाता है स्वरूप के निरखने में और स्वरूप से बेसुध रहने में ही सारी पलट हो जाती है । सम्यग्दृष्टि जीव का व्यवहार मोक्षमार्ग के अनुकूल बनता है तो अज्ञानी जीव का व्यवहार संसार में रुलने के अनुकूल बनता है । कदाचित् थोड़ासा कुछ अच्छा पा लिया तो वह धर्म की बड़ी बातें भी करने लगाता और वहाँ अनन्तानुबंधी मान का उदय भी आ जाता जिससे वह अपने आपको तो धर्मात्मा मानता है और अन्य जीवों की निन्दा करता हुआ उनको अधर्मी बताता है । बाहर में अगर कुदेव आदिक को

नमस्कार नहीं किया तो कुदेव आदिक को तो तिर्यञ्च भी नहीं नमस्कार करते । इतने मात्र से बड़पन नहीं बनता किन्तु अपने में सहज स्वरूप का अनुभव करने से महत्त्व बनेगा । मैं क्या हूं? सहज अपने आप सत्त्व के कारण, उसका उत्तर आना चाहिए । उसकी अनुभूति बने तो सम्यग्दृष्टि जीव को बनती है । वह प्रकट करता है । सर्व ओर से पौरुष यही करने योग्य है कि मैं जगत के अन्य सब पदार्थों से, परभावों से निराला इस सहज ज्ञानमात्र को ही अनुभवूँ कि यह मैं हूँ । धर्मपालन करके यह ही तो परीक्षा करें कि मैं अपने चैतन्यस्वरूप को यह मैं हूँ ऐसा मान पाया या नहीं, इसमें दृढ़ हो पाया अथवा नहीं । यदि नहीं हो पाये दृढ़, अपने स्वरूप को हम आप नहीं मान पाये तो अपनी त्रुटि समझना, आगे इसके लिए पौरुष करना, पर किसी थोड़ी सी धर्मक्रिया में संतुष्ट होकर जो अपने को कृतकृत्य मान लेगा उसका तो आगे उद्धार ही नहीं है । तो भाई मिथ्यात्वभाव इस जीव के अनादि से लगा हुआ है और वही ढंग अब भी चलाया तो इस भव के पाने का क्या फल मिला? तो अपने आप पर ही अब कुछ करुणा करके सोचना चाहिए । अपना संसार में रुलना छुटाना ही चाहिए । भैया, अब संसार में रुलना पसंद नहीं तो संसार है पर्याय में आत्मबुद्धि । इसको तज दीजिए । मैं वह हूँ जिसका पहचानने वाला यहाँ कोई नहीं है । ऐसे अपने अन्य लोगों से अपरिचित निज तत्त्व की ओर आना हैं । यह जिसके बुद्धि आयी वही पुरुष धन्य है, महा भाग्यवान है, पूज्य है, पवित्र है और जगत के संकटों से छुटकारा हो सकता है तो इस ही स्वरूप की आराधना से हो सकता है ।

प्रथम अध्याय में सम्यक्त्व के स्वरूप और माहात्म्य का वर्णन—यह रत्नकरण्ड का प्रथम अधिकार चल रहा है, जिसमें पूर्व संकल्प के अनुसार सम्यग्दर्शन का वर्णन किया जा रहा है । सम्यग्दर्शन, सच्चे आप्त, सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरु का श्रद्धान करना, यदि यह बात आ गई तो उसको अपने आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान, आचरण भी आ गया, क्योंकि देव क्या है? जैसा सहज स्वरूप है वैसा ही प्रकट हो जाना, बस यह ही देव है । शास्त्र क्या है? जैसा आत्मा का सहज स्वरूप है उसके समझने के लिए वैसा करना यह हीं आगम है । गुरु क्या है कि जैसा आत्मा का सहज स्वभाव है उसके विकास के लिए जो पौरुष करता है वह गुरु कहलाता है । तो जिन्होंने देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान किया उनको आत्मतत्त्व का सत्य श्रद्धान है ही । तब फलित बात यह है कि जो अपने आत्मा के सहज चैतन्यस्वरूप में यह मैं हूँ, ऐसा विश्वास रखता है, प्रतीति करता है वह जीव सम्यग्दृष्टि है । तो सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व की क्या महिमा है, उस महिमा का यहाँ अन्त में सब वर्णन चल रहा है कि सम्यग्दृष्टि जीव जितने भव संसार में रहेगा उनमें अच्छे ढंग से रहेगा और अन्त में समस्त भवों को त्यागकर उनसे मुक्त होकर, अष्ट कर्मों से रहित होकर, विभाव और शरीर से रहित होकर केवल ज्ञानपुञ्ज रहकर लोक के अग्रभाग में ठहरेगा और वहाँ अनन्तकाल तक के लिए सहज अनन्त आनन्द पायगा । यह सब सम्यक्त्व का प्रताप जानकर जीवन में एक सम्यक्त्व का ही उद्यम हो, ऐसा अपना पौरुष होना चाहिए ।

श्लोक 42

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं बिना च विपरीतात् ।
निस्सन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ।।४२।।

दुर्लभ मानवजीवन की धर्मपालन से ही सफलता—यह रत्नकरण्ड का दूसरा अधिकार चल रहा है । इसमें

सम्यग्दर्शन के स्वरूप का वर्णन है । प्रथम अध्याय में सम्यग्दर्शन का वर्णन है । जीव का भला सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र परिणाम हुए । बिना हो ही नहीं सकता, इसके अतिरिक्त जो कुछ भी भाव बनाये जा रहे हैं विषय के, कषाय के, नामवरी के या अन्य-अन्य, वे सब थोथे हैं, ऊल जलूल हैं, व्यर्थ के हैं, संसार के बढ़ाने वाले हैं । मनुष्यभव जो कि एक बहुत दुर्लभ है संसार की अन्य पर्यायों को देखो कितनी-कितनी पर्यायें हैं । उन सबसे पार मनुष्यभव मिल जाना उतना दुर्लभ है जैसे कि चिन्तामणिरत्न समुद्र में डूब जाय उस एक को निकालना कठिन है । बड़ी जिम्मेदारी से बात सोचना है, ऐसे दुर्लभ मनुष्यजन्म को पाकर, जैन शासन को हमें अपने को क्या करना चाहिए? देखिये जो गृहस्थावस्थायें है उनकी आजीविका चलाये बिना काम चल ही न सकेगा । गृहस्थी है, कुटुम्ब है और गृहस्थी बसायी, क्योंकि मुनि होने का, बिल्कुल एकाकी रहने का सामर्थ्य नहीं है, इस कारण गृहस्थी बसायी है । जब गृहस्थी है तो आजीविका मुख्य समस्या है । यह तो करना ही होगा किन्तु आजीविका का फल कब मिलेगा? जब तक जीवन है तब तक आराम रह लिया, सुख सुविधा बना ली, किन्तु यह सुख सुविधा आपको इस जीवन के बाद आगे कुछ काम न देगी । यह आत्मा अकेला ही जायगा । तो आगे जों आत्मा रहेगा वह किस ढंग में रहे, कैसे रहे, इसकी जिम्मेदारी अपने भावों पर है, अपने भाव यहाँ निर्मल रहे, सबकी भलाई के रहे, अपने आपके स्वरूप को पहिचान कर अपने में संतुष्ट होने के रहें तो अगला भव अच्छा मिलेगा । मुक्ति तो आजकल है नहीं, आगे धर्म के प्रसंग रहेंगे, भला हो जायगा ।

आजीविका और धर्मपालन में गौणता व मुख्यता का निर्णय—भैया, यह सोचिये कि गृहस्थजनों को केवल दो ही काम हैं—एक तो है । टेम्प्रेरी और एक है परमानेन्ट याने एक गौण और एक मुख्य । गौण तो है आजीविका और मुख्य है धर्मपालन । भले ही अनेक लोगो के चित्त में यह बात है कि आजीविका है—मुख्य और धर्मपालन है गौण, मगर ऐसा नहीं है । आजीविका का फल आप कब तक पायेंगे? अधिक से अधिक इस जीवन तक जीवन के बाद यहाँ की सम्पत्ति से कोई सम्बन्ध नहीं । आगे काम देगा यहाँ का धर्मपालन । एक बात और समझिये, आगे ही काम देगा ऐसा ही क्यों कहें? वास्तविक रीति से आप धर्मपालन तो करें, यहां भी सुखी रहेंगे । और इस समय जो अनेक प्रकार के अनुकूल प्रतिकूल वातावरण होने से दिल को बेचैनी रहती हो, अनेक आरम्भादिक के विषयों के कारण जो व्याकुलता रहती है वह बेचैनी को दूर करने में समर्थ वैभव नहीं है । वैभव के सम्पर्क से ही तो बेचैनी हुई और वैभव से ही उस बेचैनी को मिटा दिया जाय यह सम्भव नहीं । तो धर्मपालन से ही बेचैनी मिटती आज भी, अब भी । तो धर्मपालन एक ऐसा अद्भुत वैभव है कि इस भव में भी आपको शान्ति दे और आगे भी शान्ति दे । जब जीवन का मुख्य उद्देश्य धर्म होना चाहिए ।

मनुष्य का धनार्जन पर अनधिकार और धर्मपालन पर अधिकार—और भी सोचिये धन की कमायी आपके भावों पर आज निर्भर नहीं है, यह पूर्वकृत पुण्य के उदय पर निर्भर है । भले ही पूर्व में जो पुण्य बंधा था वह अच्छे भाव होने से बंधा था, तो यों भी कह सकते कि पूर्वभव के अच्छे भावों का फल है जो आज वैभव समागम मिल सके, पर आज के भावों का फल नहीं है कि आप धन को जोड़ सकें । कितना ही विचार करें, कितनी ही भावनायें बनायें, आज के भावों से आज धन मिले ऐसा कोई सम्बंध नहीं । तो यह पूर्वकृत पुण्य का

फल है, उस पर आपका अधिकार नहीं, जोर नहीं, छांट नहीं, पर धर्मपालन में आपका आज से ही अधिकार है । यह भी अन्तर जानें । इसी समय दृष्टि कीजिए अपने आत्मा के सहज स्वरूप की और तत्काल शान्ति लीजिए । धर्मपालन पर आपका आज अधिकार है पर धनार्जन पर आपका अधिकार नहीं है । पुण्य योग से किसी का पौरुष काम दे देता है तो उसे यह न समझना चाहिए कि मैंने ऐसा पुरुषार्थ किया उससे धन आया । धन आया है पूर्व पुण्य के उदय से । तो जब इतनी बात है कि धन सम्पदा इस जीवन के बाद काम नहीं देती और धर्मपालन इस जीवन के बाद भी काम दे देता है ।

वैभवसम्पर्क से हुई अशान्ति को दूर करने का उपाय सम्यग्ज्ञान—और भी समझिये धन वैभव के संयोग से बेचैनी हुआ करती है अनेक तरह की । एक तो आगे की तृष्णा से, दूसरे पाये हुए की रक्षा की चिन्ता से, तीसरे जो कल्पना में मान लिया कि मुझ को इसमें इतना लाभ है और वह न हो सके तो मेरे विचार से आपको यही बेचैनी है । तो वैभव के सम्पर्क से हुई बेचैनी को वैभव के द्वारा दूर नहीं किया जा सकता, उसे धर्मपालन ही दूर कर सकेगा । फिर तीसरी बात यह है कि धनार्जन पर आपका अधिकार नहीं, धर्म पालन पर आपका अधिकार है । ऐसी सब बात समझकर जीवन में यह मुख्यता लाना चाहिए कि मुझे सही ढंग में धर्मपालन करना है । यों तो धर्म की बात बचपन से ही सब करते आ रहे मन्दिर आये, समारोह हुए उनमें भाग लिया, विधान हुए, पूजन हुए, सब बातें धर्म के नाम पर करते चले आये पर वास्तविक यत्न क्या है, यह भी सहयोगी है, मगर सही ढंग में धर्मपालन कहां होता, कैसे होता वह बात समझना है, और उस ढंग से आप अपने अन्दर गुप्त ही गुप्त विधि से धर्मपालन करें, वह काम देगा और मोक्ष के मार्ग में लगायगा तो उस धर्म की बात कही जायगी । यहाँ प्रकरण में यह बात जानना कि धर्मपालन का सम्बंध ज्ञान से है । शारीरिक क्रियायें तो उस ज्ञान का फल है कि इस तरह की सावधानी की और जिनेन्द्र भक्ति की चेष्टायें होती हैं, पर वास्तव में धर्मपालन अपने आपके आत्मा में आत्मा के सहजस्वरूप का दर्शन करने से होता है ।

सम्यग्ज्ञान के साधन और उनका धर्मपालन में सहयोग—सम्यग्ज्ञान के ज्ञान के साधक ४ वेद है । (१) प्रथमानुयोग, (२) करणानुयोग, (३) चरणानुयोग और (४) द्रव्यानुयोग । इनका भली भांति थोड़ा अध्ययन होना चाहिए । ये चारों ही अनुयोग सम्यग्दर्शन के साधन हैं, कोई किसी विधि से ज्ञान बनाता है कोई किसी विधि से, मगर चारों ही अनुयोग सम्यग्ज्ञान के साधन हैं, तो सर्वप्रथम उन अनुयोगों का वर्णन करने के लिए सम्यग्ज्ञान का स्वरूप कह रहे हैं, पदार्थ जैसा है वैसा जानना सम्यग्ज्ञान है, न तो कम जाने न अधिक जाने, न उल्टा जाने, न संदेह सहित जाने, किन्तु सही निःसंदेह यथार्थ जाने उसे सम्यग्ज्ञान कहते है । सुख दुःख होना सब ज्ञान की कला पर निर्भर है । कैसा ज्ञान बने कि सुख हो, कैसा ज्ञान बने कि दुःख हो, आप अनुभव से विचार लें, सब कुछ आपकी ज्ञान कला पर निर्भर है । बाह्य वस्तु का प्रसंग हमारे सुख दुःख का कारण नहीं किन्तु हमारे सुख दुःख भाव बनने का आश्रय है । कारण में और आश्रय में फर्क है । सुख दुःख का कारण तो उस प्रकार का ज्ञान, उस प्रकार का उदय और आश्रय है । जिस पदार्थ को हम दिल बसाकर सुख या दुःख पाते है वे पदार्थ आश्रयमात्र है । वे सुख दुख के कारण नहीं । तो जब सब कुछ बात हमारे ज्ञान पर ही निर्भर है

तो उस ज्ञान की उपेक्षा न करना, अपने जीवन को शान्त गम्भीर पवित्र बनायें, भविष्य में संसार के संकटों से सदा के लिए छूट जायें, अगर ऐसा भाव है तो ज्ञान की आराधना करें । दूसरा कोई उपाय नहीं है कि इस जीव को शान्ति मिल सके । अधिक से अधिक लोक में धन की भावना चित्त में विशेष रहती है उसका ही ख्याल उसके ही अर्जन की तरकीब, वही चित्त में बसती रहती है । तो एक प्राकृतिक बात है कि ऐसा होता है, लेकिन यह तो सोचिये कि उन विकल्प विचारों में ही डूबे रहने से सिद्धि हुई क्या? और एक धर्म की दिशा में बढ़े, धर्मपालन की ओर रहे तो सारे कार्य स्वयमेव होते चले जायेंगे । बहुत पहले के पुरुषों की बात छोड़ो, अपने ही कुटुम्ब के दो चार लोगों को ले लो जो कि अच्छे घराने के लोग थे उनको धर्म से कितनी प्रीति थी और धर्मपालन में उनका कितना समय जाता था । उनके चित्त में कितनी उदारता थी और सब कार्य आसानी से चलता ही था ।

धर्मपालन का महत्त्व समझकर धर्मपालन के लिये सर्व पौरुष की आवश्यकता—भैया, अब कुछ चित्त बदलना होगा यह निर्णय रखना होगा कि धर्मपालन ही सारभूत कदम है दूसरा कोई भी कदम सारभूत नहीं है । बाकी तो गुजारा करने के लिए काम है । उद्धार के लिए तो धर्म काम है, गुजारा भी चाहिए और उद्धार भी चाहिए । गुजारे में तो कुछ घटा बढ़ी भी हो सकती है, कितने से ही गुजारे का काम कर लिया जाय मगर उद्धार के काम में यह घट बढ़ की बात न निभेगी कि ऐसा चलें इसमें भी उद्धार हो जायगा । इस तरह चलें तो इसमें भी उद्धार का काम हो जायगा । गुजारे के काम में तो सैकड़ों बातें निभ जायेंगी पर उद्धार के काम में ये दो बातें भी न निभेगी । कोई चाहे लखपति हो, चाहे करोड़पति हो, चाहे हजारपति हो, चाहे रोज-रोज खोम्चा फेरकर रोज कमाकर उससे रोज-रोज खर्च कर लेता हो, गुजारा सबका चलेगा, पर उद्धार के ढंग नहीं हो सकते । तब फिर गुजारे वाले साधन में चित्त को अधिक क्या लगाना? वह तो सुगमतया होगा । पर उद्धार वाले काम में अनेक प्रकार नहीं हो सकते वह तो एक ही विधि से होगा, उसमें विशेष उपयोग देना चाहिए । उद्धार का प्रारम्भ है सम्यग्ज्ञान से । वस्तु को यथार्थ जानियेगा कि मैं क्या हूँ, शरीर क्या है । कुटुम्ब क्या हैं? ये बाहर में दिखने वाले पदार्थ क्या है? इसके बारे में यथार्थ परिचय तो होना चाहिए । यों तो स्वप्न में भी सब कुछ देखता है । जैसे यहाँ दिख रहा ऐसे ही सारी बातें स्वप्न में भी दिखा करती हैं, और स्वप्न में भी ये दुःखी होना, सुखी होना आदिक सारी बातें निभ जाती हैं, तो उस ही ढंग से जगत में भी देखते रहें तो स्वप्न में भी दुख और सुख पाने की अपेक्षा इस जगत में हमने क्या विशेषता पायी और हम पर बीती हुई एक बात से हम को तो यह निर्णय है कि कोई धर्मपालन स्वप्न में भी कर सकता । जिसको धर्मपालन करने की धुन बनी है वह स्वप्न में भी धर्मपालन किया करता है जिसे कहते है आत्मा का दर्शन, आत्मा की दृष्टि । आत्मा के गुणों को निरखना यह बात कोई स्वप्न में भी कर सकता, एक धुन होनी चाहिए उसकी । तो पहली बात निर्णय में यह रखें कि आजीविका से भी अधिक महत्त्व है धर्मपालन का । सो आजीविका के ही विकल्पों में निरन्तर बने रहना यह काम नहीं है ।

धन वैभव यश कीर्ति की आत्महित में अप्रयोजकता—मान लो कदाचित् थोड़ा धन कम मिला तो लोग यह चिन्ता करते कि लोग मुझे क्या कहेंगे । अरे लोम तो क्या कहेंगे इस पर से आपने जीवन चलाया तो समझो

कि आप धर्म से बिल्कुल अलग हो गए । उनका क्या संकोच? धर्म पर अडिग रहें तो चाहे निर्धनता आये तो उसमें भी प्रशंसा ही है लोगों के और धर्म से डिगकर यदि बड़े-बड़े वैभवों में भी पले तो भी उसे शान्ति नहीं । और ऐसा कोई उपाय नहीं कि जिसको सब लोग भला कह सकें । है क्या कोई ऐसा काम कि जिसमें सारे लोग उसको कहने लगें कि उसने बड़ा अच्छा किया । कोई कितना ही अच्छा चल रहा है अपने जीवन में उसे सभी लोग भला कह सकें ऐसा हो नहीं सकता । आप कहें कि जो बड़े-बड़े तीर्थंकर हुए हैं उनको तो सब भला कहते तो भाई उन्हें भी सब लोग भला नहीं कहते । हां अधिक लोग भला कहने लगे मगर उनकी बुराई करने वाले, उनका विरोध करने वाले उन तीर्थंकरों के जमाने में भी रह आये । किसको आप ऐसा कहेंगे कि इसको सब भला कहने वाले है? देश के नेताओं में भी आप देख लो, बड़े से बड़े नेता हुए, आजकल जैसे गांधीजी प्रसिद्ध हुए तो बताओ उनको सभी भला कहने वाले थे क्या? नहीं थे, उनका भी विरोध करने वाले थे, तभी तो उनको विरोधियों ने उन्हें बान से मारा । यहाँ है कौन ऐसा जिसके सब समर्थक हों? तो इसका विकल्प छोड़ें कि हम अधिक धनी बनेंगे तो सब भला कह देंगे । धन आने दो पुण्योदय से जैसा आता है पर उसमें ही रातदिन विकल्प लगाकर रहे आये तो धर्म से विमुख हो जायेंगे । मुख्यता धर्म को दीजिए ।

धर्म का आधार ज्ञान—धर्म मिलेगा ज्ञान से और ज्ञान वही सम्यक् है जिसमें न कम जाने न अधिक जाने, न उल्टा जाने, न संदेह सहित जाने । जैसे एक आत्मा के बारे में अगर यह जान लिया कि जैसा मेरा ज्ञान बना है बस यह ही मैं आत्मा हूं, शास्त्रीय परिभाषा में मतिज्ञान कह लीजिए, बस यह ही मैं आत्मा हूँ तो उसने भी कम जाना, वह भी एक अंश है आत्मा का, मगर वह परिपूर्ण बात नहीं है । और किसी ने यह जाना कि यह मैं आत्मा हूँ, देह को निरखकर, रूप रस वगैरह को देखकर तो उसने अधिक जान डाला । यह आत्मा नहीं है, यहाँ तक जान डाला । कोई आत्मा को समझे कि यह तो एक उत्पन्न ही होता है कभी और कोई दिन आता है कि मिट ही जाता है तो उसने यह विपरीत जाना, और कोई यों ही संदेह किया करे कि आत्मा है या नहीं तो यह उसका संदेह हो गया । यह सही ज्ञान नहीं है । सम्यग्दर्शन वह है कि जिसमें वस्तु का यथार्थ स्वरूप समाया हो । जब तक वस्तु का यथार्थ ज्ञान न होगा तब तक आकुलता न मिटेगी । आकुलता है मोह और राग की । खूब परख कर लो, राग में प्रेम करने में शान्ति मिलेगी क्या किसी को? पर ज्ञान की कमजोरी है ऐसी कि राग किए बिना नहीं रहा जाता, मोह किये बिना नहीं रहा जाता, पर ये उपाय शान्ति के नहीं है अशान्ति के है ।

प्रभुमार्ग पर चलने की भावना में ही प्रभुदर्शन की वास्तविकता—एक यह ही मोटी बात देखो आप मंदिर में रोज प्रभु मूर्ति के सामने प्रभु के दर्शन करने, प्रभु का गुणगान करने क्यों आते हैं? किसी दिन न आये ऐसा आप से बनता नहीं, पहुंचना ही चाहिए, रोज ही आते, इसीलिए तो आते कि रागद्वेष मोहरहित आत्मा में हमारी दृष्टि जाय । प्रभु रागद्वेष मोहरहित हैं । जैसा उनका निज का स्वरूप है वैसा ही उनके प्रकट हुआ है इसी कारण आप यहाँ मंदिर में आते हैं । तो मंदिर में प्रभु के तो दर्शन करें और अपने आपके बारे में यह निर्णय बनायें कि मेरे को कष्ट मोह और राग से है, ये न होना चाहिये, यदि ऐसा निर्णय न बनाया तो भगवान के दर्शन क्या किये? फिर तो समझिये कि यदि यह उमंग नहीं जगती कि मेरे को मोह राग न चाहिए और फिर

भी दर्शन करने आते है रोज तो उसका मतलब है कि आप प्रभु के दर्शन करने नहीं आते । प्रभु का स्वरूप सही समझा हो तो प्रभु के दर्शन कहलायेंगे, वह तो यों समझ लीजिए जैसे अन्य लोग भी देवी देवता मानते हैं कि इनके प्रसाद से हम को सांसारिक सुख मिलेंगे, कुटुम्ब बढ़ेगा, अनेक-अनेक सम्पन्नतायें होंगी जो जैसे अन्य जन देवताओं की आराधना कर लते हैं ऐसे ही जिन मंदिर में आकर वीतराग प्रभु की आराधना कर ली । वहाँ यदि यह भाव नहीं आता कि हे प्रभु मेरा तो मोह राग का कलंक छूटे और मैं अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूप का दर्शन करता रहूं । जो काम आपने किया सो ही मुझे चाहिए, अगर यह बात नहीं आती चित्त में तो प्रभुदर्शन का क्या अर्थ? तो यह निर्णय करना हैं कि मेरे को जीवन में केवल दोष मेरे मिटें और मेरे गुण ही मेरे में विकसित हो, बस यह चाहिए । बाहरी कीचड़ पंक न चाहिए, क्योंकि बाहरी बात में गुजारा करने के सैकड़ों ढंग हैं, पर मेरा उद्धार हो । मुझे शान्ति मिले, इसका ढंग केवल एक ही है, दूसरा नहीं है, उस ही सम्यक्ज्ञान के विषय में इस अध्याय में वर्णन चलेगा ।

आगम की प्रामाणिकता का संकेत व आगम के अनुसार सम्यग्ज्ञान का लाभ पाने का अनुरोध—जो आगम के जानने वाले है गणधरदेव, श्रुतकेवली, उनको बताया है कि सच्चा ज्ञान वही है जो वस्तु के स्वरूप को यथार्थ जाने । जैन शासन में जो आज शास्त्र उपलब्ध है उनकी परम्परा यों रही कि पहले तो साक्षात् तीर्थंकर थे, इस तीर्थ में महावीर भगवान थे । महावीर भगवान के समय साक्षात् उपदेश मिलते थे, दिव्यध्वनि खिरती थी, लोग अपनी-अपनी भाषा में समझते थे । भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण के बाद गणधर देव से, और-और आचार्यों से श्रुत केवली से भगवान का उपदेश प्राप्त होता रहा, जब ये श्रुतकेवली भी न रहे तो जो थोड़े बहुत अंग पूर्व के ज्ञाता थे उन आचार्यों से मिलता रहा ये सब बातें मौखिक चल रही थीं । जब एक अंग के एक देश के ही जाननहार रहे और थोड़ा ज्ञान सभी उपदेशों का था तो उन आचार्यों ने सोचा कि अब इस ज्ञान को लिपिबद्ध करना चाहिए, नहीं तो आगे परम्परा कैसे चलेगी, सो वे लिपिबद्ध हुए बस उन शास्त्रों से अन्य शास्त्र, उनसे अन्य शास्त्र बनते गए । तो आज जो पूर्वाचार्यों के शास्त्र हैं उनमें वह बात पायी जाती जो कि भगवान महावीर के समय साक्षात् उपदेश में मिलती थी । उपदेश क्यों सुनते । शास्त्र क्यों पढ़ते? सबका एक ही उत्तर है कि मेरे को भेदविज्ञान जगे और अपने आत्मा के स्वरूप में मैं रमूं, इसके लिए है स्वाध्याय । बस दूसरा कोई प्रयोजन नहीं । तो सर्वप्रथम चाहिए भेद विज्ञान, जिनके बीच में रह रहे हों उन सबसे निराला मैं ज्ञानमात्र आत्मा हूँ, यह ज्ञान बसाना है और इस ज्ञान के बसाने के लिए एक बार ज्ञान हो भी जाय तो भी जिन्दगी भर इस ही ज्ञान में रमण करना है, अन्यथा वह विघट जायगा । मेरे में यह ज्ञान जिसमें हो रहा है वह कोई वास्तविक चीज है, तो वह मैं हूँ । केवल ज्ञानस्वरूप, प्रतिभास मात्र, वास्तविक सत् उसको इन बाहरी बातों से अलग करना है और उस ही में अपनी दृष्टि बनाये रहना इसके लिए है स्वाध्याय । स्वाध्याय से तत्काल शान्ति, भविष्य में शान्ति, मोक्ष में पहुँचेंगे, मुक्ति में पहुंचेंगे । तो स्वाध्याय और सत्संग इन दो बातों से विशेष प्रेम होना चाहिए । भीतर से हृदय से भलाई का साधन दूसरा नहीं है, ज्ञान है और ज्ञान के उपाय ये दो है मुख्य (१) स्वाध्याय करना और (२) सत्संग करना । सत्संग मिलने से तत्काल उपयोग हमारा स्वच्छ होता है, बदलता है, उमंग मिलती है, उत्साह मिलता है, प्रेरणा मिलती है और ज्ञान भी मिलता है । स्वाध्याय करने से

भी ज्ञान मिलता है पर उस स्वाध्याय के समय यह ध्यान आता है कि अमुक ऋषि के ये वचन हैं, तो उसमें भक्ति जगती है, हृदय स्वच्छ होता है, इस कारण स्वाध्याय? सत्संग के प्रयोग से ज्ञानवर्द्धन करना हैं, यह अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए ।

श्लोक 43

प्रथमानुयोग-मर्था-ख्यानं, चरितं पुराणमपि पुण्यम् ।
बोधिसमाधिनिधानं, बोधति बोध: समीचीन: ।।४३।।

सम्यग्ज्ञान के साधनाप्रकारों में प्रथम प्रथमानुयोग का निर्देश—इससे पहली गाथा में यह बताया था कि न कम, न ज्यादह, न विपरीत, न संदेहयुक्त ऐसा ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है । सम्यग्ज्ञान में प्रयोजन आत्मा के सही स्वरूप का ज्ञान हैं, अन्यथा सम्यग्ज्ञान न कहलायगा । लौकिक दृष्टि से तो कहलायगा, पर अलौकिक दृष्टि में वह सम्यग्ज्ञान नहीं है जो अपने आत्मा के स्वरूप का स्पर्श न करे, सबका प्रयोजन ११ अंग १४ पूर्व द्वादशाङ्ग जितने भी आगम है सबका प्रयोजन यह है कि आत्मा अपने सहज स्वरूप को जान ले, मान ले और उसमें रम ले । तो ऐसी वृत्ति कैसे बन सकती है? उसका उपाय प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग इन चार प्रकार के अनुयोगों से ज्ञान करना है । प्रयोजन सबका यही मिलेगा कि अपने आपके स्वरूप को जानूं, मानूं और उसमें रमलूं, 'आऊं, उतरूं, रमलूं, निज में, समस्त आगम का प्रयोजन इतना ही है, पर उस तक कैसे पहुंचे, उसके उपाय में यह ४ अनुयोगों द्वारा उपदेश किया गया है । (१) पहला है प्रथमानुयोग । प्रथम पुरुषों के लिए जानकारी का उपाय । प्रथम मायने बहुत-बहुत जो लोग धर्म में आये है या धर्म की बात को जानने का भाव रखते है ऐसे पुरुषों का कैसा विश्वास जमे कि हमें उस ज्ञान में बढ़ना चाहिए । तो यों कहो कि कथा कहानी सबको प्रिय होती है, ऐसी एक आदत है तो कल्पित कहानी न कह कर उन पुरुषों की कहानी बताते है जिन धीर वीर पुरुषों ने धर्मपालन करके आत्मकल्याण किया । उन धीर-वीर पुरुषों की कहानी कहना यह बहुत आवश्यक है ।

प्रथमानुयोग के स्वाध्याय की उपयोगिता का दिग्दर्शन—आज जो कोई भी कुछ अधिक पढ़ लिखकर ऐसा कहा करते है कि प्रथमानुयोग क्यों पढ़ना, वह तो किस्सा कहानी है, उसमें तत्त्व क्या रखा है? तो वे ही सोचें कि उन्होंने भी सर्वप्रथम इन पुराण पुरुषों के चरित्र का वाचन किया था कि नहीं । आज बड़े हो गए, ऊंची समझ आ गई तो कहने लगे कि कथाओं में, प्रथमानुयोग में क्या धरा है? अरे उन्होंने स्वयं प्रथमानुयोग पढ़ा था, उससे प्रेरणा मिली थी । तो प्रथमानुयोग चार अनुयोगों में प्रथम अनुयोग है । अनुयोग कहो, वेद कहो एक ही बात है । वेद का अर्थ है जिसके द्वारा ज्ञान बने सो वेद । सो यह प्रथम वेद कहा प्रथमानुयोग को, प्रथमानुयोग में यथाख्यान है धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं । इन चारों पुरुषार्थों का वर्णन प्रथमानुयोग में मिलता है । कैसे धर्मप्रवृत्ति करना, कैसे धन कमाना, कैसे राज्य करना, कैसे प्रजाजनों का पालन करना, कैसे घर का बर्ताव रखना और फिर कैसे अपना हित करना, मोक्ष का पुरुषार्थ बनाना, ये सब बातें इस प्रथमानुयोग में मिलती हैं । और, इसमें चारित्र है एक-एक व्यक्ति का । त्रेशठशलाका पुरुषों का वर्णन है, इस कारण कहलाता है यह पुराण । पुराण पुरुषों का इसमें कथन है और केवल एक-एक व्यक्ति का अलग-अलग

जितना बना उतना चारित्र बताया है । इस कारण प्रथमानुयोग चारित्र है और वह पुण्यवर्द्धक है ।

महापुरुषों के चरित्र के परिचय से आत्मप्रगति की प्रेरणा—जब कोई कथानक सुनते हैं जैसे कि इस तीर्थ के लम्बे काल में सर्वप्रथम आदिनाथ भगवान हुए, ऋषभनाथ, मरुदेवी के नन्दन, नाभिराजा के नन्दन, कैसा वह समय था कि तीसरे काल का अन्त हो रहा था, कल्पवृक्ष का अन्त हो रहा था, लोग भूख प्यास की बाधा को, ठंड गर्मी की बाधा को दूर करने में किंकर्तव्यविमूढ़ हो गए थे, क्या करना, जहाँ हाथी, शेर आदिक जानवर विरुद्ध होने लगे थे, तीसरे काल में ऐसा न था, शेर रहें, पुरुष रहें, पास बने रहें, पर कोई बात न थी, मगर अब सिंह दहाड़ने लगे, कुत्ते गुर्राने लगे, ऐसी परिस्थिति थी, खाने पीने का कोई उपाय समझ में न आ रहा था । उस समय ऋषभदेव ने गृहस्थावस्था में लोगों को मार्ग बताया । अधिकार तो था नाभिराजा का बताने का, क्योंकि वे १४वें कुलकर हुए । कुलकर ही सब व्यवस्था बनाते हैं, मगर जिस कुलकर के घर में तीर्थंकर उत्पन्न हुए वे आगे-आगे बढ़े लोग आये नाभिराजा के पास और विनती करने लगे कि हम लोग भूखों मर रहे हैं, कोई उपाय हो तो बताओ । तो उन्होंने भेजा ऋषभदेव के पास, कहा कि जावो ऋषभदेव के पास वे ही तुम्हारी समस्या का सब समाधान करेंगे? तो उन्होंने षट्कर्म रचना का उपाय, बताया ६ आवश्यक कर्तव्य बताया और अवधिज्ञान तो था ही जन्म से, सो सबकी योग्यता भी पहिचान ली, तो बताया कि देखो कुछ लोग कार्य करेंगे रक्षा का, शस्त्र चलाना सीखेंगे, दुष्टजन बाधा दें तो वहाँ रक्षा करेंगे, कुछ को ये काम बताया, और कुछ को बताया कि ये शिल्पकला करेंगे, और ये सेवा करेंगे ऐसी तीन भागों में बांट कर दी, जिसके आधार पर बने—क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र । शूद्र घृणा के योग्य नहीं हैं वह तो मिलजुलकर सेवा की बात बनी थी, पर कालान्तर में मांस भक्षण, शराब खोरी, जीववध आदि अनेक खोटी बातें होने लगी थीं । तब से अच्छे लोग उनसे दूर होने लगे । पर स्वयं देखो मनुष्य हैं, मनुष्य के नाते और एक जैसे कार्य चल सके उस बंटवारे के काल में सब अपना अपना कार्य कर रहे थे, उनमें घृणा के योग्य कैसे थे, पर आचरण बिगड़ने से वह कुल और जाति घृणा के योग्य मान ली गई । उस समय तो सब एक ढंग की प्रजा थी, सब काम ठीकठीक चलता था । तो क्षत्रियों को असिका काम दिया, वेश्यों को मसि कृषि , वाणिज्य का काम दिया और शिल्पी और सेवा का काम रहा शूद्रों का । शूद्र शब्द कोई बुरे अर्थ वाला नहीं है । पर क्या करें, कोई बड़ा भी पुरुष हो और वह नीच काम करने लगे तो उसका नाम भी बदनाम हो जाता है । शुद्ध वातावरण में त्रिवर्ण व्यवस्था ऋषभदेव ने बनायी थी ।

श्री ऋषभदेव के चारित्र से शिक्षा—वे ऋषभदेव बहुत गृहस्थी का राज्य वैभव भोगने के बीच जब उनकी राज्य सभा में नीलांजना नृत्य कर रही थी तो उस नृत्य करते हुए के बीच में ही नीलाञ्जना का मरण हो गया, उस समय इन्द्र के हुक्म से तुरन्त ही दूसरी देवी उस रूप की धारणकर नृत्य करने लगी । इस रहस्य को अन्य दर्शक लोग नहीं समझ पाये क्योंकि उनका तुरन्त का काम हुआ कोई जान ही न सका कि एक, देवी मरी और दूसरी आयी । अरे नृत्य करते-करते भी तो लोग बैठ जाते है कोई लेटकर भी नृत्य करते हैं, वहाँ तो तुरन्त काम हुआ, और लोग न समझ सके, पर ऋषभदेव जान गए सारा रहस्य । उनको जन्म से अवधिज्ञान था, सो उस घटना को देखकर उनके वैराग्य जगा । बारह भावनाओं का चिन्तन किया । संसार की असारता

जाना, आत्मतत्व की ओर विशेष दृष्टि दृढ़ की, विरक्त हुए, मौनपूर्वक तपश्चरण किया केवलज्ञान हुआ, केवलज्ञान होने पर विशाल समवशरण की रचना हुई, उनका दिव्योपदेश हुआ । देखिये- कितने बड़े-बड़े उपकार किया ऋषभदेव ने । वे तो गृहस्थी के समय के उपकार थे । अब भगवान होने के समय के जो उपकार हुए सो सुनो । अन्य लोग तो किसी-किसी गृहस्थ के द्वारा जनता का उपकार हुआ हो तो उसे भी वे भगवान का रूप दे देते हैं । तो गृहस्थी के समय तक ऋषभदेव भी भगवान न कहलाते थे, भले ही उन्होंने बहुत उपकार किया पर भगवान वे तब हुए जब उनको केवलज्ञान हुआ । भले ही व्यवहार में लोग इस तरह बोलते कि भगवान ऋषभदेव का जन्म हुआ, तो वह द्रव्यनिक्षेप से बात है । वास्तव में भगवान कहलाते है केवल ज्ञान होने पर । केवलज्ञान हुए बाद उन्होंने दिव्योपदेश दिया और अन्त में निर्वाण पाया ।

प्रथमानुयोग के स्वाध्याय में भावसत्संग का लाभ—पुराणपुरुषों की कथा जानकर, चरित्र जानकर सुनने या बांचने वालों के परिणाम में क्या विषयसेवन की प्रेरण मिलेगी या धर्म में लगने की प्रेरणा मिलेंगी? धर्म में ही लगने की प्रेरणा मिलेगी? यदि प्रथमानुयोग का पढ़ना व्यर्थ है तब तो फिर सत्संग का करना भी व्यर्थ कहलायगा । फिर क्यों कहा जाता है कि स्वाध्याय करो । सत्संग करो । यहाँ तो सत्संग साक्षात् होता है अमुक त्यागी मिला है, संत मिला है, पर ग्रन्थों में प्रथमानुयोग में पढ़ते हुए में स्मरण आता है ना उन ऋषियों का, आचार्यों का तो उस ख्याल में भी सत्संग चल रहा । जब किसी मुनि का, भगवान का या महापुरुष का चारित्र पढ़ रहे है तो वचन से और हृदय से वह सत्संग ही तो चल रहा । तो यह चारित्र वैराग्यवर्द्धक है । जो विषयकषायों से हटाये और अपने आत्मा के स्वरूप की ओर लगाये वह घटना भी पुण्यवर्द्धक है । यह जीव असहाय है, इसका दूसरा कोई मददगार नहीं है । पाप का उदय आ जाय या कोई घटना घट जाय, दिमाग बिगड़ जाय, अधिक बीमार हो गए, मरणासन्न हो गए, निर्धन हो गए तो फिर उसका कौन मददगार है? कौन उसकी सहायता करने आयगा? उसकी बड़ी-बड़ी चापलूसी, नम्रतायें, आदर विनय सब हो रहे । उसके असमर्थ हो जाने पर धर्मात्माजन तो भले ही उसकी मदद कर दें पर लौकिकजन, गृहस्थजन, अन्य-अन्य लोग उसके मददगार कोई न मिलेंगे । तो उस वक्त भी आपको जो लोग दिखते हैं कि यह मददगार हैं । यह हमारी ऐसी सेवा करता है । सुश्रुषा करता है । बड़े सुन्दर मीठे वचन बोलता है । हमारी आज्ञा भी मानता है वह सब आपके पुष्य का ठाठ है । आप से उसका नाता नहीं है । ऐसे इस असार संसार में इन बाहरी पुद्गल ढेरों के ही चिन्तन में, आश्रय लेने में जीवन खोया तो जैसे अनन्त काल का समय यों ही व्यर्थ गंवाया ऐसे ही यह जीवन भी व्यर्थ जा रहा है । धर्मपालन की ओर विशेष दृष्टि दें । मान लो कदाचित कोई नाजुक स्थिति बनती है । लौकिक धन कम होता है तो वह जैसा होता हो होने दो, पर धर्म को न तजना । धर्मपालन के प्रताप से ही पापरस दूर होगा । न धर्मपालन करे कोई और पाप का उदय आता है तो दुर्दशा तो होगी, पर धर्मपालन से तत्काल शान्ति मिलेगी । आगे के लिए आत्मा का एक सही मार्ग मिलेगा । तो ये सब बड़े-बड़े पुरुषो के चारित्र पुण्यवर्द्धक है । मान लो तत्त्व की गहरी बातें कोई अधिक नहीं जानता और भगवान महावीर स्वामी की जय, और-और बड़ी उमँगों से पुराण पुरुषों का स्मरण कर रहा है और उनके जयवाद में उमंग ला रहा है तो पापबंध से तो बचा, पुण्य कितना ही बंध रहा हो, मगर उसके अशुभभाव नहीं है । अशुभभाव कहलाते है विषयसेवन और कषाय

की पकड़ । ये अत्यन्त अशुद्धभाव हैं । तो धर्म के प्रसंग में ऊपरी भी बात अगर मिली हो कोई और पुराण पुरुषों के चरित्र की बात सुन रहा हो कोई तो अशुभ भावों से तो बचा, पुण्यरस में आ रहा । तो यह प्रथमानुयोग पुण्यवर्द्धक है । यह बोधि समाधि का निधान है प्रथमानुयोग । बोधि मायने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति । और समाधि मायने जो रत्नत्रय पाया है उसको परिपूर्णतया निभाना इन दोनों उपायों से निभाना यह पुराण पुरुषों का चारित्र है । तो इस चारित्र को यह सम्यग्ज्ञान सही बतलाता है । आत्मा का बोध यह है ।

श्रीराम के चरित्र के श्रवण से आत्महितशिक्षण—श्रीराम भगवान का चरित्र आता है । उनकी सारी कहानी में आप यह पायेंगे कि मुनि होने से पहले श्रीरामचन्द्रजी ने कहीं सुख आराम नहीं पाया । और ऐसे ही महापुरुषों का इतिहास बनता है जो धर्म पर अडिग रहे और सहर्ष दुःख सहते रहे, पर दुःख से घबड़ाकर कभी दुःख में पीड़ित नहीं हुए, ऐसे महापुरुषों का ही तो लोग नाम लेते है । अज्ञानीजन तो यों कहेंगे कि कुछ विवेक न था, क्यों खामोखा का जानबूझकर दुःख बनाया, अरे आराम से रहते घर में तो उन्हें कौन मनाकर सकता था? पर देखिये उन महापुरुषों को संसार के संघर्षों में ही आनन्द रहा । जैसे किसी को खूब काम करने की आदत है वह अगर ठाली बैठा रहे तो उसे आराम नहीं मिलता और यदि काम में लगा रहे तो वह चैन मानता है । यह तो लोग खुद समझते है । महापुरुष डन्लप के गद्दों में, आराम कुर्सी में पड़े रहने से आराम नहीं मानते । वे तो अपना कर्तव्य निभाने में और धर्म युक्त चर्या करने में चैन मानते हैं तो यह ही महापुरुषों की निशानी है । साधारणजन तो शरीर को बड़े आराम से रखने में चैन समझते हैं पर महापुरुष जो जानते है कि यह शरीर जड़ है, अशुचि पदार्थो का समूह है इसको ऐसा ही पड़ा रहने दो । दूसरों के उपकार में यदि इसे न लगाया तो यह बड़ी गंदी बात है । इस अशुचि शरीर की भक्ति भगवान की तरह समझकर कर रहे ये अज्ञानीजन । महापुरुष धर्मपालन के प्रसंग में सर्व संघर्षों को समता से सहते हैं । उनमें वे विचलित नहीं होते । अपना चित्त अपने मूल उद्देश्य में ही रखते । श्रीरामजी बलभद्रभगवान हुए केवल ज्ञान के बाद, पर हुए भगवान इसलिए उन्हें भगवान पहिले से बोलते हैं । कहीं ऐसा नहीं है कि श्रीराम का आत्मा भगवान था और उसने यहाँ आकर शरीर धारण किया हो । वह विशिष्ट पुण्यवान जीव थे किन्तु मुनि होने से पहले संकट ही सहे बचपन में स्वयंवर के समय, राज्य देन के समय, जंगल में सीताहरण के समय, युद्ध होते समय भाई को मूर्छा आने के समय, और जीत भी गए । और वापिस आ गए तो लोगों ने सीता को लाने की प्रार्थना की सीता आयी उस समय और फिर अग्निकुण्ड से परीक्षा दो ऐसा बोलते समय और जिस समय आँखों देख रहे हैं श्रीराम कि निर्दोष सीता इस अग्निकुण्ड में कूद रही है तो उस समय क्या-क्या कष्ट का वातावरण न था । सारी जिन्दगी उनकी लौकिक दृष्टि से कष्टों-कष्टों में ही गुजरी और श्रीराम को उसमें ही सन्तोष था, उसमें ही आनन्द था जब अग्निकुण्ड में सीताजी निर्दोष निकली । अग्निकुण्ड जलकुण्ड बन गया और वहाँ अत्यन्त विरक्त होकर सीता बन को चलने लगी । आर्यिका होने लगी केशलोंच करने लगी । ऐसे प्रसंग में श्रीरामचन्द्रजी ने सीता को कितना मनाया, माफी मांगी, मुझे क्षमा करो, तुम देवी हो लेकिन जिसका संसार से चित्त हट हो गया और केवल एक ब्रह्मस्वरूप में ही चित्त रम गया, वह सीता अपने धर्मपालन में लग गई। तो ऐसे संघर्षमय चरित्र को

सुनने से और इतने संघर्षों में भी अपने धर्म से विचलित न होने के साहस को देखकर पढ़ने वालों के चित्त में उस प्रकार की उत्सुकता नहीं आती क्या? सत्संग और कहते किसे है? यह परोक्ष सत्संग है, ज्ञान के द्वारा सत्संग है । और यहाँ कोई महापुरुष आ जाये तो उनके साथ रहना यह साक्षात् सत्संग है । द्रव्यसत्संग है । और पुराण पुरुषों के चरित्र सुनना यह भाव सत्संग है । द्रव्यसत्संग में भी यदि भाव उज्ज्वल नहीं है तो वह सत्संग नहीं है और इन पुराण पुरुषों के चरित्र सुनते समय सत्संग बराबर बन रहा है ।

बोधिसमाधिनिधान प्रथमानुयोग के परिचय से आत्मलाभ की विधि का दिग्दर्शन—यह प्रथमानुयोग बोधि और समाधि का निधान है । बड़े-बड़े चक्रवर्तियों के जिनके चरित्र है उनके बड़ी विभूतियां बताया है । समस्त भरत क्षेत्र पर उनका आधिपत्य रहा, इतने करोड़ हाथी, इतने घोड़े, इतने हल, इतनी सेना, सारा भरतक्षेत्र उस चक्रवर्ती का था, इतने वैभववान चक्री के चक्रवर्ती के सामर्थ्य के समय भी उनको इस वैभव में मौज नहीं मिला, न उन्होनें मौज माना और सहज परमात्मस्वरूप की उपासना में ही अपना जीवन बिताया । बताओ यह है चक्रवर्ती की चर्या । ३२ हजार मुकुटबद्ध राजा जिनके चरणों की सेवा करें और उनको किसी बात में मौज न आये, प्रसन्नता न आये । उनको प्रसन्नता मिली तो अपने धर्मपालन में आत्मस्वभाव के दर्शन में प्रसन्नता मिली । तो बड़े-बड़े पुरुषों के ऐसे चारित्र पढ़कर क्या खुद के प्रति, ऐसा ख्याल नहीं जगता किं अरे मैं कहां यहाँ की छोटी-छोटी बातों में विचलित होता रहता हूँ । तृष्णावश रात दिन जड़ पौद्गलिक चिन्तन में ही रहा करता हूँ । अरे मेरे में बसा हुआ यह सहज परमात्मा मेरे को दृष्टिगत न हो और व्यर्थ बाह्य असार इन विभूतियों में ही अपना चित्त रमाऊँ यह कहां तक योग्य है? इस प्रकार का ख्याल न आयगा क्या? तो बताओ प्रथमानुयोग का स्वाध्याय उल्टी गैल बताता है या सीधी गैल में मददगार है? उल्टी गैल तो नहीं बताता सन्मार्ग में ही लगायगा । तो जो लोग थोड़ा सा भी बोलने लगते है, तत्त्व की गप्पें हांकने लगते हैं उन्हें यह स्वच्छंदता आती है कि प्रथमानुयोग का क्या पढ़ना? उसमें तो किस्सा कहानी है । पर जिसको आत्मकल्याण की धुन है । वह सब उपाय बनायगा कि मेरे आत्मा को सन्मार्ग ही मिले, कुमार्ग न मिले । तो जैसे किसी को मान लो अमेरिका जाना है तो पहले कुछ अमेरिका का वृत्तान्त समझना, अमेरिका का चारित्र जानना, वहाँ कैसे गुजारा हो, वहाँ का भूगोल क्या है, जो लोग अमेरिका गये है उनका ध्यान होगा कि ये-ये लोग गए है, ये सब बातें उसके ध्यान में होंगी तब वह अमेरिका की यात्रा करता है । अगर ऐसी बात चित्त में न हो तो कैसे कोई यात्रा करे? ऐसे ही जिसे मोक्ष जाना है वह पहले जो मोक्ष गए है उनका चरित्र जानता है सामान्यरूप से कि इस तरह से निर्वाण हुआ है इन लोगो का तब ही वह खुद के निर्वाण के लिए स्पष्ट मार्ग समझ पायगा । इस कारण यह प्रथमानुयोग जिसमें महापुरुषों के चरित्र है इनका ज्ञान करना सम्यग्ज्ञान है । सम्यग्ज्ञान के चार अनुयोग बताये थे, उनमें यह प्रथमानुयोग का वर्णन है।

श्लोक 44

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च ।
आदर्शमिव तथामतिरवेति करणानुयोगं च ।।४४।।

प्रथमानुयोग के वर्णन के पश्चात् क्रम प्राप्त करणानुयोग के वर्णन का प्रारम्भ—यह दूसरा अध्याय सम्यग्ज्ञान

के प्रकरण का चल रहा है । सम्यग्ज्ञान का लक्षण बताया था कि जो न कम जाने, न ज्यादह जाने न उल्टा जाने, न संदेह सहित जाने ऐसे ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं । फिर यह सम्यग्ज्ञान चार अनुयोगों से मिलेगा । भगवान जिनेन्द्रदेव की दिव्यध्वनि से प्रसारित ये चार अनुयोग हैं जिनका कि आचार्य परम्परा से अब तक बोध चला आया है और आज भी शास्त्रों में निबद्ध है उन अनुयोगों का ज्ञान करें । वे अनुयोग चार प्रकार के बताये गए—(१) प्रथमानुयोग, (२) करणानुयोग, (३) चरणानुयोग और (४) द्रव्यानुयोग । पहिले प्रथमानुयोग का वर्णन किया गया था । उसका नाम प्रथमानुयोग क्यों पड़ा कि धर्ममार्ग में प्रवेश करने वाले को यह प्रथमानुयोग उत्साह पैदा करता है तब वह आगे बढ़ता है । इसी कारण इसका नाम प्रथमानुयोग है । जिसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थों का पुराण पुरुषों के चरित्र में वर्णन किया है । कौन महापुरुष कैसे उत्पन्न हुवे कैसे जीवन चला, कैसे विरक्त हुए, कैसे निर्वाण पाया? उनके चरित्र के सुनने से अपने को भी धर्म मार्ग में लगने की प्रेरणा मिलती है । वास्तव में तो हम आपको मात्र धर्म ही शरण है, दूसरा शरण नहीं है । एक वैज्ञानिक बात है अपने आत्मा के सम्बंध में जैसे कि बाहरी अमुक चीज का अमुक से संयोग हुआ तो क्या अवस्था बनती है? अगर उस चीज में से उस सयोग वाली चीज को हटा दिया जाय तो क्या अवस्था बनती है? यह ही तो वैज्ञानिक प्रयोग है, ऐसे ही अपने आत्मा में देखें—पर पदार्थों का संयोग होने से आत्मा की क्या अवस्था बनती है? जीव है एक ज्ञानस्वरूप पदार्थ । जैसे बाहरी पुद्गलों में देखते हैं कि रूप है, रस है, गंध है, अमुक है ऐसे ही आत्मा में तो बताओ क्या है? वहाँ रूप नहीं रस नहीं गंध नहीं स्पर्श नहीं तो क्या है? ज्ञानप्रतिभास चेतना । जैसे आकाश अमूर्त है और वस्तु है । आकाश में चेतना नहीं, आत्मा में चेतना है, तो यह है ज्ञानमात्र पदार्थ । इस आत्मा के साथ अन्य वस्तुवों का संयोग कर लेने से आत्मा संसार में दुःखी होता है, चारों गतियों में प्रमाण करता है ।

दुःखों का कारण अन्यसंयोग—कर्म का संयोग सबके साथ है मगर कर्म के बारे में अन्य लोग बहुत कम जानते हैं । हां जैन शास्त्रों में कर्म के बारे में इतना वर्णन आया है जितना कि सम्पूर्ण जैनागम का आधा । वह वास्तविक चीज है । जैसे शरीर है यह मोटा पुद्गल है वैसे ही कर्म है वह एक सूक्ष्म पुद्गल है, पर है वह अचेतन रूप, रस, गंध, स्पर्श वाला अत्यन्त सूक्ष्म । सो जीव के जब विकार जगता है तो वे कर्मपरमाणु कर्मरूप बन जाते है । एक तो उनका संयोग लगा है जीव के साथ । एक शरीर का संयोग लगा है जीव के साथ सो तो प्रकट मालूम हो रहा है । इन दो के लिए क्या करें? लगा है अभी, मगर यह जीव इनके अलावा धन, मकान, परिजन, कुटुम्ब आदिक अनेक लोग इनका भी लगाव बना डालते है । सो जीवों के साथ कितना परपदार्थों का लगाव चल रहा है उसके फल में जीव की आज क्या दशायें हैं । दुःखी हैं । धन बढ़ गया तो भी दुःख है, धन कम हो गया तो भी दुःख है, जिनके बालबच्चे हैं वे भी दुःखी हैं, जिनके बालबच्चे नहीं हैं, वे भी दुःख मानते । संसार की कौनसी स्थिति है कि जिसमें शान्ति मिलती हो जीवको? पुत्र कुपुत हुआ तो भी दुःख मानते । सपूत हो गया तो भी दुःख मानते । बल्कि कुपुत होने में तो एक बार उससे मन हटा लिया और अगर वह उद्दण्डता करता है तो जाहिर कर दिया कि मेरा इससे कुछ मतलब नहीं, निवृत्त हो गए और यदि सपूत लड़का है तो उसके राग में आकर जिन्दगी भर उसके पीछे रुलेगा, मैं इसे खूब धन जोड़कर धर जाऊं,

इसको खूब पढ़ा लिखाकर होशियार कर दूं, इसको कोई कष्ट न होने दूं... यों कितने ही विकल्प उसके पीछे मचते हैं । नहीं है पुत्र तो मन में उसकी आशा करके दुःख मानते है । अच्छा धन बढ़ गया तो भी दुःख मानते हैं, यह तो धनी लोग खुद अनुभव करते होंगे । कभी-कभी तो लोग ऐसा भी विचार कर डालते कि इससे तो हमारी ५० वर्ष पूर्व की स्थिति अच्छी थी जब हम थोड़ा ही काम करते थे या थोड़ा ही धन था । यहाँ तक ख्याल कर डालते और यदि कम धन है तो उन धनिकों को देखकर भीतर ही भीतर भुनते रहते,... हाय कैसा पाप का उदय है कि मुझे अधिक धन न मिला ।

कर्म के संयोग वियोग के परिणाम—अच्छा कर्म के संयोग की बात देखो—पुण्य कर्म का उदय आया तो कौनसी विजय प्राप्त कर ली? पुण्यकर्म के उदय से धन वैभव राज्यपद, चलाबा, प्रभुता, हुकूमत ये ही तो मिलते हैं । इनके मिलने से कौनसी आत्मा की विजय हो गई? तो यह सब जितने संयोग हैं ये संयोग होने से आत्मा की बुरी दशा हो रही है । और संयोग न रहे, मानों कर्म हट गए जीव के, शरीर हट गया तो वह सिद्ध दशा हो गई । केवल ज्ञानज्योति आत्मा जिसके विकल्प नहीं, जिसके आरम्भ नहीं, जिसके रागद्वेष मोह नहीं, केवल ज्ञान से समस्त विश्व को युगपत् जानते रहते हैं, वह है सिद्ध दशा । तो यह एक निर्णय बना लें कि जितना भी परपदार्थ का सम्बंध है वह मेरे आत्मा के अहित के लिए है । मानो एक भव में किसीने प्रशंसा कर दी हम बड़े कहलाये, लोगों ने अच्छा माना, पर इस मानने से मेरा गुजारा तो न चलेगा । मरण होगा, आगे क्या दशा होगी, उसमें कोई रक्षा करने वाला तो नहीं । इसलिए पुण्यानुसार जो आये उसमें ही व्यवस्था बनाना हमारा काम है और इसको मैं अधिक पा लूं ऐसी कल्पना लाना हमारा काम नहीं । यदि ऐसी धीरता है तो धर्म में मन लगेगा । धर्म में उत्साह होगा । सो पहले यह निर्णय बनाना चाहिए कि उदयानुसार जो होगा उसमें हम व्यवस्था बना लेंगे, हम आशा तृष्णा में अपना चित्त न डुलायेंगे । इतनी धीरता होती है सम्यग्दृष्टि जीव में । तो ऐसे ज्ञानबल से कुछ चिन्तन करें और पुराण पुरुषों के चरित्र को सुनें तो उससे आपको बड़ी स्फूर्ति मिलती है । सो प्रथमानुयोग का वर्णन पहले किया था, आज करणानुयोग का वर्णन किया जा रहा है ।

करणानुयोग में कथित लोकरचना का दिग्दर्शन—करणानुयोग के शास्त्रों में कौनसा विषय आता है? तो एक तो लोक और अलोक की रचना । लोक कितना बड़ा है जब यह ज्ञान में आता है तो राग और मोह शिथिल हो जाता है और जगत में प्रेम करने की उमंग नहीं रहती । कितना बड़ा है लोक? तो पहले यहीं से चलो । जहाँ हम आप बैठे है जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड के जरा से हिस्से में । यह जम्बूद्वीप कितना बड़ा है? तो यह थाली की तरह गोल है और एक किनारे से दूसरे किनारे तक जिसे सलाका कहते वह एक योजन है । और एक लाख योजन होता है दो हजार कोश का और एक कोश होता है करीब पौने तीन मील का सही मायने में । यों तो कहीं सवा मील का कोश मानते, कहीं दो मील का, पर कोश का सही-सही प्रमाण ३ मील का होता है धनुष के प्रमाण से । तो अब समझिये कि यह जम्बूद्वीप कितना बड़ा है? उसको घेरकर लवण समुद्र है जो एक तरफ दो लाख योजन का है । दूसरी तरफ भी ५ लाख योजन का है । मगर लवण समुद्र के आखिरी किनारे से सामने के लवण समुद्र का आखिरी किनारा नापा जाय तो २ लाख योजन पड़ेगा बीच का हिस्सा । फिर लवण समुद्र को घेरकर दूसरा द्वीप है वह एक तरफ है चार लाख योजन और दूसरी तरफ

भी चार लाख योजन, उसको घेरकर है एक समुद्र । वह दूने विस्तार वाला है । फिर तीसरा द्वीप, चौथा द्वीप समुद्र, इस तरह अनगिनते द्वीप समुद्र हैं याने नील शंख महाशंख की तो बात ही क्या है । कई अंक प्रमाण संख्यात बहुत बड़ा होता है । संख्यात की भी गिनती नहीं पर उससे भी आगे कितने अनगिनते द्वीप समुद्र हैं और वे एक दूसरे से दूने-दूने विस्तार वाले हैं तो देखिये कितना विस्तार हो गया । इतना सारा विस्तार अभी समतल के हिसाब से भी एक राजू नहीं है, फिर एक राजू चारों तरफ होवे जिसे घनराजू कहते, मोटा भी एक राजू, विस्तार भी एक राजू । इतने को कहते हैं एक राजू । ऐसे-ऐसे ३४३ घनराजू लोक है जिसको हम आप दो अंगुल के नक्शा से बना डालते हैं ।

लोकरचना के परिचय से लाभ—इतने बड़े लोकं में कोई भी प्रदेश नहीं बचा जहाँ हम आप अनन्त बार पैदा न हुए हो, मरे न हों और इतने बड़े लोक के सामने आपकी नगरी । आपका देश तो उतना सा भाग है जैसे बड़े समुद्र में से एक बूंद । तो इतने बड़े लोक में जब मेरा कुछ नहीं तो फिर जरासी जगह में जितना परिचय होता है उसकी क्यों ममता करना? सारी दुनिया पर ध्यान दें तो जरा से क्षेत्र की ममता दूर हो जायगी । यह भी क्या चीज रही । इस लोक से परे है अलोक, जिसकी सीमा ही नहीं है अलोक के मध्य अवस्थित लोक की क्या-क्या रचनायें है उनको देखो । जिस जगह हम बैठे हैं यह कहलाता है मध्यलोक और यह मध्यलोक १ हजार योजन तक तो नीचे चला गया और ९९ हजार योजन ऊपर तक चला गया, इसको मध्यलोक कहते है जो सूर्य चन्द्र तारे दिख रहे ये ऊर्द्ध लोक में नहीं है, ये मध्यलोक में है । तो अधोलोक में ७ पृथ्वी हैं । पहली पृथ्वी तो यह ही है जिस पर हम आप बैठे है । यह पृथ्वी इतनी मोटी है कि जिसमें विभाग बड़े-बड़े आये है । तो पहले विभाग में कुछ भवनवासी व्यन्तर रहते हैं, दूसरे विभाग में भी भवनवासी व्यन्तर रहते हैं और दूसरे भाग में नारकी रहते हैं, उससे नीचे बहुत आकाश हैं, फिर दूसरी पृथ्वी लगी उसमें दूसरे नारकी हैं, फिर ऐसा ही आकाश है, फिर पृथ्वी है, इस तरह नीचे ७ नरक हैं और ९९ हजार योजन से ऊपर स्वर्ग हैं, फिर ग्रैवेयक है, अनुदिश है, अनुत्तर है, सबसे ऊपर सिद्धलोक है । लोक की रचना जरा स्पष्ट ज्ञान में हो तो मिली हुई जगह में ममता नहीं रहती । इसका क्या मूल्य है कितने समय का रहना है और इससे क्या सम्बंध है? तो करणानुयोग में लोक और अलोक का विभाग और रचना बतायी गई हैं ।

करणानुयोग में वर्णित कालरचना का दिग्दर्शन—करणानुयोग में काल का परिवर्तन बताया गया है । काल परिवर्तन सिर्फ भरत और ऐरावत क्षेत्र के आर्यखण्ड में होता है, थोड़ासा फर्क क्लेच्छ खण्ड में भी पड़ता है, पर मुख्य अन्तर आर्य खण्ड में है । जैसे हम आप इस भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड में है तो क्या काल परिवर्तन चलता है । आज पंचम काल है अवसर्पिणी का । अवसर्पिणी उसे कहते हैं जिसमें दिन प्रतिदिन बात घटती चली जाय । बल घटे, शरीर घटे, उम्र घटे, श्रद्धान घटे, धर्म घटे, यों ही सभी बातों में लगा लीजिए । जहाँ घटती की ओर सब बातें चलें उसे कहते हैं अवसर्पिणीकाल । और दूसरा होता है उत्सर्पिणीकाल । जिसमें शरीर बढ़े, बल बढ़े, आयु बढ़े, ज्ञान बढ़े... यों ही सब बातें बढ़ती की ओर चलें उसे कहते हैं उत्सर्पिणीकाल । तो प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी में ६-६ काल होते हैं जिनका संख्या से आप ज्ञान कर ले—पहला, दूसरा आदिक । तो आज यह पंचमकाल है । अवसर्पिणी काल है इसके बाद छठा काल आयगा । उस छठे काल में धर्म,

अग्नि ये कुछ न मिलेंगे । तब मनुष्य तो होंगे, तिर्यञ्च भी होंगे पर सब मांसभक्षी होंगे । मनुष्य-मनुष्य को मारकर खायेंगे । जैसे कि यहाँ एक तिर्यञ्च दूसरे तिर्यञ्च को मारकर खा लेता है, फिर तिर्यञ्चों को मारकर खा जाना उनके लिए कोई कठिन बात नहीं । ऐसा ही आयगा छठा काल जिसमें मनुष्य केवल एक हाथ के लम्बे होंगे । इस छठे काल के बाद प्रलय होगा । ७-७ दिन ७ तरह की खोटी वर्षा होगी—अग्नि वर्षा, तेज हवा चलना, तेज विष जैसी बरसा । मालूम पड़ता है कि आज जो बम हाइड्रोजन और रासायनिक चीजें, विष भरी चीजें जो तैयार हो रही है वे शायद प्रलय के ही साधन अभी से बन रहे है । आखिर वे एक न एक दिन फूटेंगे । चाहे स्वयं फूटे चाहे किसी के फोड़ने से? प्रलय बताया है छठे काल के अन्त में पर उसके आसार अभी से दिखने लगे ।

छठे काल के अन्त में प्रलय के बाद कालरचना का दिग्दर्शन—इस प्रलय के बाद अवसर्पिणीकाल खतम हो जायगा फिर उत्सर्पिणीकाल लगेगा । तो उत्सर्पिणीकाल में पहला होगा छठा काल जिसमें इस छठे काल की तरह ही बात होगी, मगर बढ़ने की ओर होगी । शरीर बढ़ेगा, ज्ञान बढ़ेगा, बल बढ़ेगा, आयु बढ़ेगी, फिर आयगा पंचमकाल । जो इस काल की तरह होगा । मगर यहाँ तो घटती की ओर है और उस पंचमकाल में बढ़ती की ओर होगा । फिर होगा चौथा काल । जिसमें २४ तीर्थंकर होंगे, फिर आयगा तीसरा भोगभूमि, दूसरा आयगा भोगभूमि और पहला आयगा भोगभूमि । यहाँ उत्सर्पिणीकाल खतम हो जायगा फिर अवसर्पिणीकाल लगेगा तो पहला काल आयगा भोगभूमि, दूसरा भोगभूमि, तीसरा भोगभूमि, चौथे काल में २४ तीर्थकर होंगे, फिर वही पंचमकाल जैसा कि आज है । प्रश्न—भोगभूमि किसे कहते? उत्तर—भोगभूमि में कुछ आजीविका चलाने के लिए खेती व्यापार, सेवा आदिक कार्य नही करने पड़ते । वहाँ ऐसे कल्पवृक्ष होते १० प्रकार के जिनसे कि आवश्यक सभी चीजें प्राप्त होती रहती हैं । वैसे हम यह नहीं बता सकते कि किस तरह के होते थे कल्पवृक्ष क्योंकि उन्हें आँखों देखा नहीं पर शास्त्रों में आयी हुई बात असत्य नहीं है । यहाँ भी तो देखने में आता कि अनेक वृक्ष ऐसे होते जिनके पत्ते स्वयं आभूषण जैसे होते । कभी देखा होगा कि बच्चे लोग नीम के गल्ले पहन लेते है तो वे भी आभूषण जैसे लगते । कीकर की फली भी गोल मटोल आभूषण जैसी होती । वहाँ कुछ विशेष प्रकार के होते होंगे । तो ऐसे ही कितने ही आभूषण उन कल्पवृक्षों से प्राप्त होते हैं । वस्त्र वाले, बर्तन वाले, आभूषण वाले, बाजे वाले यों १० प्रकार के कल्पवृक्ष पाये जाते हैं जिनसे जो चाहे प्राप्त करलो । और वहाँ भूख की वेदना भी बेर प्रमाण आंवले प्रमाण हैं । किसी को तीन दिन में, दूसरे काल में दो दिन में, तीसरे काल में एक दिन में, इतनी भूख है । मतलब कि वहाँ ऐश आराम भोग के बड़े अच्छे साधन है । और कर्मभूमि में ये सब बातें नहीं होती, वहाँ तो खेती, व्यापार, सेवा आदिक करके आजीविका चलाना होता हे । तो छह काल का स्वरूप जानने से यह बात ज्ञान में आती है कि ऐसे उत्सर्पिणी अवसर्पिणी अनन्त बीत गए । इतने अनन्तकाल में यदि यह १००-५० वर्ष का जीवन मिला है तो इसमें क्या ममत्व करना? तो काल का परिवर्तन जानने से भी मोह ममत्व दूर होता है ।

करणानुयोग में वर्णित चतुर्गतिभ्रमण का दिग्दर्शन—करणानुयोग में तीसरी बात कही गई मुख्यता से चार गतियों में परिभ्रमण । (१) नरक (२) तिर्यञ्च (३) मनुष्य और (४) देव । इनमें कैसा स्थान है उनका कैसा

भाव है । गुणस्थान जीवसमास मार्गणा आदिक जो कुछ वर्णन आता है वह यह करणानुयोग सम्बंधी ही तो है । नरकगति में कैसे जन्म होता? जो मनुष्य बहुत आरम्भ और परिग्रह में मूर्छा करता है वह नरकायु का बंध करता है और नरकायु में गमन होता है । इस असार मायामयी संसार में इन दिखने वाले लोगों में सबसे बड़ा कहलाऊं इस भावना के बराबर मूढ़ता और कुछ नहीं है । आत्मा का ज्ञान नहीं इस कारण इस ओर चित्त जाता है । कोई कल्पना से बड़ा नहीं बनता । जिसकी योग्यता है, जिसका उदय है वह सहज बड़ा बनता है बड़ा बने तो क्या न बने तो क्या जिसको आत्मा का बोध है वह अपने आत्मा के स्वरूप के चिन्तन में ही संतुष्ट रहता है । मैं यह हूँ जो पुण्य पाप के अनुसार बीतेगी, मेरे में मेरी व्यवस्था है । तिर्यञ्चगति में जन्म होता है मायाचार अधिक करने से । छल किया, कपट किया, चुगली की, निन्दा की, जिसके मन का पता ही न पड़े कि मन में क्या है और कर क्या डाले । ऐसा जिसका भाव रहता है वह मनुष्य मरकर तिर्यञ्च होता है । जिसके शान्त परिणाम है, जो कषाय अधिक नहीं रखता, थोड़ा आरम्भ है । थोड़ा परिग्रह है ऐसा जीव मरकर मनुष्य होता है और व्रत, तप संयम शील इन सबके पालन से यह देवगति में जन्म लेता है । तो इन चारों गतियों में जिस ढंग से परिभ्रमण दूर होता है, जिन कारणों से परिभ्रमण होता है उनका वर्णन करणानुयोग के ग्रन्थों में है । सो यह करणानुयोग इस लोक अलोक के विभाग को काल और चतुर्गतिभ्रमण जीव की प्रति समय की घटना का वर्णन दर्पण की तरह इसमें स्पष्ट झलकता है । सो यह करणानुयोग एक दूसरा वेद है । करणानुयोग में जीव के परिणाम का मुख्यता से वर्णन है । सो करणानुयोग के स्वाध्याय में बढ़े ज्ञान में बढ़ें तो अपना उपयोग निर्मल रहेगा, धर्म में आस्था बढ़ेगी, अपना आत्मा स्वच्छ होगा । जिससे इस वक्त भी सुख पायेंगे और भविष्य में भी सुखी रहेंगे । इस कारण सम्यग्ज्ञान बनाने के लिए अपना पौरुष करें और ज्ञान में सन्तुष्ट रहने का अभ्यास बनायें ।

श्लोक 45

गहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम् ।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति ।।४५।।

चरणानुयोग के वर्णन का प्रारम्भ—सम्यग्ज्ञान के प्रसंग में प्रथमानुयोग और करणानुयोग इन दो का स्वरूप बताया गया है कि इस अनुयोग के शास्त्रों में किस विषय का वर्णन हुआ करता है । अब इस छंद में चरणानुयोग का स्वरूप कहा जा रहा है कि चरणानुयोग के शास्त्रों में किन-किन विषयों का वर्णन किया जाता है । चरणानुयोग में गृहस्थ और मुनियों का चारित्र बताया गया है । कैसे उनके चारित्र उत्पन्न होता है? कैसे उनके चारित्र में वृद्धि होती है, कैसे उस चारित्र की सम्हाल की जानी चाहिए । तो सब चरणानुयोग के विषय को सम्यग्ज्ञान जानता है । जो चीज न हो और अब हो याने जो जिस ढंग की बात नहीं है और अब हो रही तो यह जरूर है कि उसमें कोई निमित्त कारण होगा । अगर निमित्त कारण न हो तो वह पहले से ही क्यों न हुई, स्वभावत: क्यों न हुई? तो जो भी घटना नये ढंग में होती है उस घटना का कोई न कोई निमित्त कारण होता है । तो अब गृहस्थों का चारित्र हो या मुनि का चारित्र हो तो उस घटना में निमित्त क्या है? कषाय का क्षयोपशम । जब तक कषायें रहती हैं तब तक चारित्र नहीं होता । कषायों का और चारित्र का विरोध है ।

आत्मा में एक चारित्र नाम का गुण है, उस गुण की विकृत पर्याय है विकार, कषाय और स्वभाव पर्याय है चारित्र । तो सुना ही होगा, पढ़ा ही होगा कि अप्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम हो तो होता है गृहस्थ का व्रत और प्रत्याख्यानावरण कषाय का भी क्षयोपशम हो तो होता है मुनि का व्रत । तो चारित्र के उत्पन्न होने में निमित्त कारण तो कषाय का क्षयोपशम है । उपादान कारण यह जीव खुद है । इसकी भावना बने, ज्ञान बने । उस प्रकार की एक भावना हो कल्याण की अभिलाषा हो तो इसका उपादान कारण खुद जीव है और आश्रयभूत कारण है परपदार्थों का हटाव, सही लगाव, यह उसका आश्रयभूत कारण है । चारित्र नाम किसका है? आत्मा का जो स्वभाव है चैतन्य सहजज्ञान, सहजदर्शन, बस उस ही में समा जाना, उसही के अनुरूप अवस्था बनाना इसे कहते हैं चारित्र । आत्मा में लीन होने का नाम है चारित्र । लीन हो जाय यह तो है चारित्र में परिपूर्णता मगर आशिक चारित्र अणुव्रत और महाव्रत है ।

सम्यक्त्व और सम्यक्चारित्र से धर्मप्रगति—धर्मपालन दो बातों में है—(१) सम्यग्दर्शन पाना और (२) सम्यक्चारित्र का पालन करना । सम्यग्दर्शन में एक वह प्रकाश है कि जिससे रास्ता दिख जाता है कि हम को इस रास्ते से चलना है । शान्ति के लिए जगह-जगह बहुत भटके । क्या-क्या उपाय अब तक नहीं किए । कहां-कहां नहीं डोले । किस किसके आगे मोहवश कातरता नहीं की । पर इस जीव को शान्ति प्राप्त नहीं हुई । आखिर इस तरह कैसे शान्ति प्राप्त हो । शान्ति का तो मार्ग ही और है । किया जाना और बात है । शान्ति का मार्ग है अपने आत्मस्वरूप का दर्शन, ज्ञान और चारित्र । देखिये—स्वयं अपने को क्या कष्ट है जीव को? एक यह बात ठान ले कोई कि मुझ को किसी भी परपदार्थ का विकल्प ही नहीं करना है । तो इतनी मात्र अगर उसकी प्रक्रिया बन सके तो वह शान्ति के सम्मुख हो जायगा । जैसे अचरज का एक भजन है—पानी में मीन पियासी, मोहि सुन-सुन आवे हांसी । पानी में रहने वाली मछली भी प्यासी है यह बात सुनकर हंसी आनी ही चाहिए क्योंकि मछली पर नीचे ऊपर चारों तरफ पड़ा है पानी फिर भी वह प्यासी ऐसे ही जीव का स्वरूप है ज्ञान और आनन्द । स्वरूप ही ज्ञानानन्द है । उस ज्ञानानन्दस्वरूप में इसका सत्त्व है और फिर भी यह जीव ज्ञान को तरसता है और आनन्द तरसता है । इस बात पर हंसी आती है, किसको?... ज्ञानी को । अज्ञानीजन क्यों हँसेंगे? उन्हें तो इस राज का पता ही नहीं है तो ज्ञान और आनन्द इस आत्मा का स्वयं स्वभाव है इसलिए ज्ञान व आनन्द के लिए क्या तड़फना? कर्तव्य यह करना है कि जो हम ज्ञानानन्द स्वभाव से विमुख होकर किसी बाह्य पदार्थ में लगाव रखकर व्याकुल होते रहते है तो हम को वह लगाव तोड़ना है, आनन्द अपने आप मिलेगा । सुख और दुःख बनाये जाते हैं, आनन्द नहीं बनाया जाता । आनन्द कहलाता है—जैसे भगवान के आनन्द है अपने स्वभाव से ही वह आनन्द है । वह तो आनन्द है और सुख है इन्द्रिय विषयों का भोग करना, मौज मानना और दुःख तो बनाये जाते हैं बनावटी हैं और अकृत्रिम स्वाभाविक आनन्द होता है । तो हमारी बनावट छूट जाय तो आनन्द ही आनन्द है । यह बनावट बनी है पर पदार्थों का राग करने से । तो गृहस्थी के चारित्र में आश्रवभूत कारण का त्याग ही त्याग बताया है ।

धर्माभिलाषी गृहस्थों का आवश्यक कर्तव्य परिग्रह परिमाण—परिग्रह का परिमाण करना भी एक त्याग है । क्योंकि परिग्रह का परिमाण न हो तो तृष्णा की अवस्था नहीं होती । भले ही शक्ति न होने से आज इतना ही

सोचें कि २० लाख का धन हो जायगा फिर क्या जरूरत है? पर उसका यह सोचना ही सोचना रहेगा । कदाचित हो जायें २० लाख तो संतोष हो लेगा क्या? अरे वह आगे की सोचेगा । और परिग्रह का परिमाण होगा तो उसे संतोष होगा । जैन शासन में जो बात मुख्य है कर्तव्य की उसका अब रिवाज न रहा । मुख्य कर्तव्य है परिग्रह का परिमाण करना । सुख शान्ति की जड़ है यह । कहीं प्रमाण में यह नहीं है कि आप उतना ही परिमाण रखे कि तकलीफ पाये, रखें आप जो आज आवश्यकता है उससे दुगुना रख लीजिए । आज अब लोग यह भी सोचने लगे कि कुछ ऐसा भी समागम बन गया कि जिसने ३०—४० वर्ष पहले यह सोचा था कि १० हजार रूपया काफी होते हैं और उसमें तो कितनों का ही गुजारा चल जाता था, परिमाण कर लिया १० हजार का । आज १० हजार में क्या होता, गुजारा नहीं चलता, तो चाहे ऐसी बात वे मन में रख लें कि वर्तमान के इन भावों के समय इतना परिमाण है, भावों में बढ़ने घटने के अनुसार हमारा परिमाण भी घट बढ़ जायगा पर इतना परिमाण है । ऐसा एक नियम तो हो जाय, उसको फिर तृष्णा न सतायेगी । रही यह बात कि लोग यह सोचेंगे कि फिर तो लोक हमारी अधिक इज्जत न रहेगी । क्योंकि परिग्रह ज्यादह बढ़ावेंगे नहीं, सम्पन्नता बड़ी कहलायेगी नहीं तो फिर लोक में हमारी मान्यता कैसे रहेगी, क्योंकि मान्यता तो अर्थ के बल पर है, फिर न रहेगी सो उसके विषय में दो बातें सुनो—अगर लोगों के द्वारा मान्यता पाने की ही बात है चित्त में तब तो फिर धर्म को एक ताक पर रख दीजिए और जो करना हो सो करिये । पहली बात तो यह है । दूसरी बात यह है कि परिमाण करने पर उसका इतना सात्विकभाव रहेगा कि उसके अन्दर भी जो लाभ है तो परोपकार में अधिक जायगा और साल के अन्त में परिमाण से ज्यादह लाभ हो गया तो वह सारा का सारा धन परोपकार में देगा, तो बतलावों उसका नाम बढ़ेगा कि तृष्णा करने वाले का? तृष्णा करने वाले के मन में वह उदारता नहीं आ सकती जो परिमाण करने वाले में उदारता आ सकती । लौकिक इज्जत में भी अन्तर नहीं, पारलौकिक काम तो अच्छा ही हो रहा है परिग्रह का परिमाण करने से । तो जिस गृहस्थ को धर्मपालन करने की अभिलाषा है उसका सर्वप्रथम कर्तव्य है कि वह परिग्रह का परिमाण करे । परिमाण करने वाले को बड़े ऊंचे-ऊंचे धनिकों को देखकर भीतर में जलन तृष्णा नहीं होती । बल्कि उनपर दया आती है कि इन बेचारों को शान्ति का मार्ग नहीं मालूम है । ये आत्मा का स्वरूप नहीं जानते, सो बाहर ही बाहर उपयोग फंसाकर व्याकुल हो रहे हैं । यह करुणाबुद्धि जगेगी । और जिसके परिमाण नहीं है उसके तृष्णा होने के कारण बड़ों को देखकर ईर्ष्या जगती है कि मैं क्यों न हो पाया ऐसा ।

तृष्णा लोभ से उत्पन्न हुई व्यथा का देवगति में चित्रण और उससे शिक्षण—देवगति में मनुष्यों से भी अधिक दुःख है । ऊंचे देवों की तो बात नहीं कहते, जैसे कि यहाँ ऊंचे मनुष्यों को दुःखी नहीं कहा जा सकता । मगर अधिकतर संख्या में देवगति के जीवों में दुःख अधिक है । आप लोग सोचते होंगे कि लोग तो देवगति में पैदा होने के लिए तरसते हैं क्योंकि शरीर उनका अच्छा है, वैक्रियक है, भूख प्यास की वहाँ बाधा नहीं है । कमायी करना नहीं पड़ता, सागरों पर्यन्त की आयु है । उनके शरीर में रोग नहीं होते, पसीना भी नहीं आता, हड्डी चाम भी नहीं है । जैसे यहाँ अनेक धातुवों के खिलौने होते, मान लो कोई डन्लप का ही कोमल शरीर वाला खिलौना बना दे, ऐसा कोमल शरीर देवो का होता । जहाँ सुख ही सुख है । एक से एक सुन्दर देवांगनायें और

वे भी हजारों की संख्या में, जहाँ चाहे घूमें, अवधि ज्ञान होने से कहीं की भी बात जानें और फिर भी यहाँ कहा जा रहा कि देवो में सबसे अधिक दुःख है । हां दुःख है । काहे का दुःख है? मूर्खता का दुःख है । जब कोई देव अपने से अधिक ऐश्वर्य वाले देव को देखते है तो उसको उससे ईर्ष्या हो जाती, वह मन ही मन कुढ़ता है । वैसी स्थिति अगर मनुष्यों की हो तो कहो हार्टफेल हो जाने की नौबत आ जाय । देवों के हार्टफेल नहीं होता, उन्हें ईर्ष्या का भारी दुःख है । देवगति में लोभकषाय की प्रबलता बतायी गई है, मनुष्यगति में मानकषाय की तीव्रता बतायी गयी है, जो लोग लोभ करते है, धन का बहुत बड़ा संग्रह करते हैं वे मुख्यतया लोभ के कारण नहीं कर रहे किन्तु मान के कारण कर रहे हैं । मैं करोड़पति अरबपति कहलाऊँगा, मेरी मान प्रतिष्ठा बढ़ेगी । इस भाव से लोग धन का संग्रह करते है । तो परिग्रह का परिमाण करना यह मूल बात है । जिसको अपना जीवन शान्ति में रखना है उसका यह कर्तव्य है कि वह धन का परिमाण कर ले । अब परिमाण अपनी इच्छा से करे, चाहे अधिक करे चाहे कम, पर एक हद तो हो गई और उसमें करीब-करीब यह हिसाब भी रख लीजिए कि जैसे आज का गुजारा है । भाव है, उस स्थिति में मेरा परिमाण है । देखिये आज से ५० वर्ष पहले कौन जानता था कि ऐसी भी महंगाई हुआ करती है । दूध तो मुफ्त मिलता था, छाछ तो बेचा ही न जाता था । आजकल तो छाछ तक भी कहो ५० पैसे किलो मिले । तो आज भी चाहे ऐसी बात चित्त में रख लो कि वर्तमान व्यवस्था के अनुसार हमारा इतना परिमाण है, उसमें भी एक हद तो हो गई । तृष्णा उसके आगे न बढ़ेगी । तो पहला कर्तव्य है गृहस्थों का कि वे परिग्रह का परिमाण करें, फिर उसके आगे उनका सब कुछ बढ़ता चला जायगा ।

धर्माचरण का आधार अहिंसा व अहिंसा के पालन के लिए अपरिग्रहता का आदर—भैया, जान लो कि जगत में जितने जीव है उन सब जीवों का मेरे ही समान स्वरूप है, मेरे से कोई कम नहीं है । जिस बात से मुझे दुःख होता है उस बात से दूसरों को भी दुःख होता है । मेरे को जगत में ऐसा क्या काम अटका है कि जो मेरे द्वारा दूसरों को दुःख हो । यह भाव रहता है तो वह हिंसा का त्याग करता है, मायने अहिंसा का पालन करता है । तो अब जितना भी चारित्र है उस सबका आधार है अहिंसा । परिग्रह का परिमाण भी बताया तो उसका भी आधार है अहिंसा । और तृष्णा में दूसरे की भी हिंसा हो सकती । और खुद की हिंसा तो हो ही रही है । एक बार कोई दूसरा जीव आपके द्वारा मर जाय तो चाहे उसमें हिंसा न हो, आपको हिंसा का पाप न लगे । यह भी सम्भव है मगर परिग्रह के लगाव में मूर्छा के होने पर तो निरन्तर हिंसा हो रही है । किसकी? आपके भगवान आत्मा की । अच्छा यह कैसे सम्भव है कि किसी जीव का प्राण चला जाय और हिंसा न हो? तो देखो कोई मुनिराज ईर्यासमिति से चल रहे हो और फिर भी अचानक कोई कुन्थु जीव उनके पैर के नीचे आकर मर जाय, उन्हें पता ही न पड़े, तो उन्हें हिंसा का दोष नहीं लगता । क्योंकि उनके आशय में जीव हिंसा का परिणाम नहीं हैं । तो एक बार यह तो सम्भव हो सकता भावपूर्वक हिंसा भी सम्भव नहीं है, हिंसा का उनके भाव नहीं है, प्रमाद नहीं है, सावधानी है और कदाचित हो तो एक बार वहाँ हिंसा न लगे यह तो सम्भव है मगर मूर्छा में, परिग्रह में, लालसा में, तृष्णा में निरन्तर हिंसा हो रही है । किसकी? उस आत्मा भगवान की । जितने भी चारित्र हैं वे सब अहिंसा के आधार पर हैं ।

सद्गृहस्थ की अन्तश्चर्या का एक साधारण परिचय—चारित्र में जब पड़ता है गृहस्थ तो जो बहुत-बहुत सोचता है कि हम को यह खाना है । इस तरह से रसोई बनाना है, तो इसका आधार क्या है? अहिंसा । अब जो यह बढ़ा रखा है कि धोती अगर किवाड़ में लग गई तो वह अछूत हो गई यह तो है एक तरह का ऊधम । अरे शुद्धि तो साधरणतया होनी चाहिए मगर उसही का एक विस्तार बना लिया जाय और एक सीमा से अधिक तो वह तो कोई पद्धति नहीं है, मगर किसी जीव का जरा भी घात हो हिंसा हो तो वह पद्धति ठीक नहीं है जैन शासन में । आहारशुद्धि हिंसारहित होनी चाहिए, तब इस आधार पर प्रतिमायें बनीं । इसकी पहली प्रतिमा है, इसके मायने है कि उसके भाव देव, शास्त्र, गुरु की भक्ति के रहते हैं । सर्व जीवों के प्रति मित्रता रहती है, किसी जीव को दु:ख न हो, यह साहब पहली प्रतिमा वाले है, ऐसा कहने से क्या परिचय मिला कि इनके चित्त में देव, शास्त्र, गुरु के प्रति बहुत भक्ति है । ये किसी भी जीव को दुःख उत्पन्न होना नहीं चाहते, यह है उसका परिचय पहली प्रतिमा वाले का । ये गुणों को, गुणियों को, ज्ञानियों को, तपस्वीजनों को देखकर ऐसा खुश रहा करते हैं जैसे कोई गृहस्थ घर के बाल बच्चों को देखकर खुश रहता है । यह हम आपको किसका परिचय दे रहे हैं? पहली प्रतिमा वाले का । और किसी दूसरे दु:खी जीव को देखकर इनका हृदय भर जाता है और ये ऊटपटांग, ऊलजलूल, अटपट बातों में अपना उपयोग नहीं दिया करते हैं । यह है परिचय पहली प्रतिमा वाले का, पर यह परिचय कौन पाता है? परिचय यह जाना जाता कि इसकी पहली प्रतिमा है और यह ऐसा खाते है, ऐसा शुद्ध आहार बनाते हैं । यह परिचय तो चलेगा कहने सुनने में पर आन्तरिक परिचय की बात कोई नहीं कहता । तो जिसका भीतरी भाव विशुद्ध है उससे ही हिंसा का परिहार बनता है ।

चैतन्यस्वरूप की सुध होने पर सही वृत्ति की शक्यता—केवल कोई कहे कि मेरी अमुक प्रतिमा है । मुझे यों खाना, यों करना और इसमें किसीने बाधा दी तो झट उसका हाथ पकड़कर झकझोर देना, धक्का दे देना, ऐसी और उसकी वृत्ति है, क्या सूझता नहीं है, मैं शुद्ध होकर खाना बना रहा या मैं शुद्ध-शुद्ध धोती पहिनकर पूजा को जा रहा हूँ, तूने क्यों छू लिया, क्या तू अंधा है, ऐसा व्यवहार अगर कोई करने लगे तो समझो कि उसको पर्यायबुद्धि है उसका आत्मा गंदा है । मान लो छू लिया, अशुद्ध हो गए तो प्रतिबिम्ब को नहीं छू सकते, हो सके तो दुबारा शुद्धि कर लो, न हो सके तो बैठे-बैठे प्रभु का स्मरण कर लो पर भीतर में कषाय जगना यह तो अपने आपको गंदा बना लेना है। किसका नाम धर्म है, किस धर्म का पालन किया जाना है। यह बात जब तक आत्मा के चैतन्यस्वभाव की सुध न होगी तब तक चित्त में नहीं रह सकती। प्रतिमावों को वर्णन इस ग्रन्थ में खुद आयगा, पर सामान्यतया यह जानना कि जैसे-जैसे प्रतिमा बढ़ती है वैसे ही वैसे अहिंसा बढ़ रही। हिंसा घट रही है, किसकी? अपनी भी और पर की भी। अन्दर में कषाय जगे तो समझो कि नियम से हिंसा हुई। दूसरे जीवों को पीटने से मारने से सामान्य पाप लगा, क्योंकि भीतर में कषाय जगी। यों ही पीठ पर हाथ मारने के कारण हिंसा का पाप नहीं लगा, किन्तु भीतर में कोई कषायभाव जगा जिसके कारण यह प्रवृत्ति हुई, उस कषाय से हिंसा लगी। तब ही जैन शासन में अहिंसा का स्वरूप बताया है रागादिक भावों का उत्पन्न न होना अहिंसा है और रागादिक भावों का होना हिंसा है। अब चारित्र में बढ़ रहा वह गृहस्थ, भोगोपभोग के साधन और भी कम कर दिया। तब ही यह अष्टमी चतुर्दशी को बिल्कुल ही त्याग कर देता, मंदिर में ही बैठकर

धर्मध्यान करता, उस दिन व्यापार का भी काम बंद रखता, यह सब उसके चारित्र में है । और भी बढ़ा तो वह कमायी न करेगा, जो है उसी में अपना गुजारा करेगा। और मान लो सब धन खतम हो गया तो परिग्रह का त्याग कर देगा। ऐसी उमंग होती है ज्ञानी पुरुष की।

अज्ञानहठरहित दृढ़ सदाचार की ज्ञानप्रकाश में संभवता—अज्ञानी के चित्त में यह रहता है कि यदि ऐसा कर लिया तो मेरा क्या हाल होगा? अगर ५० हजार हैं तो उसे बैंक में जमा करा दूंगा, उसके ब्याज मात्र से अपना गुजारा करूंगा, चाहे अकेला है । वृद्ध है पर वह जीते जी दान पुण्य के कार्य में खर्च नहीं कर सकता । वह सोचता कि यदि इस पूंजी में से कुछ खर्च कर दिया । तो इस तरह से धीरे-धीरे सब धन खतम हो जायगा धन न रहने पर फिर मेरा क्या हाल होगा? ऐसा सोचता है अज्ञानी । पर ज्ञानी पुरुष करता है वह भी यह कार्य, पर उसके इस प्रकार का हठ नहीं रहता। वह तो जानता है कि ऐसा हो तो वह भी ठीक, जैसा हो वह भी ठीक। वह चारित्र पालते हुए भी चारित्र को हठ के कारण नहीं करता किन्तु उसका चारित्र सहज पलता है। देखिये यह बड़े रहस्य की बात कही जा रही है। यह बात झट समझ में न आयगी। जैसे मैं मुनि हूं। मुझे देखभाल कर चलना चाहिए, मुझे जीव रक्षा करना ही चाहिए, यह तो मेरा काम है। ऐसा भीतर में हठ पूर्वक अगर वह समितियों का पालन करता है तो समझो कि वह साधु अभी चारित्र का रहस्य नहीं जानता। देखो सुनने में ऐसा लगता होगा कि इसमें अपराध क्या? तो अपराध यह है कि उसके पर्याय में आत्मबुद्धि है तब हठ बनी है। अगर आत्मा के स्वरूप में आत्मबुद्धि हो तो कार्य वही करेगा मगर सारा उपयोग इस ओर न रहेगा। उसका उपयोग रहेगा आत्मा में? और चारित्र यह बनेगा । तो एक तो वह कि जिसका उपयोग आत्मा पर नहीं है, बाहरी क्रियाकाण्डों पर ही है उसका तो कहलायगा हठ पूर्वक चारित्र और जिसका आत्मस्वरूप पर ध्यान है और हो रहा वही का वही उसका कहलायगा सहज भाव से चारित्र । तो इस तरह चारित्र का वर्णन चरणानुयोग में चलता है ।

ज्ञानी को ज्ञानी की चर्या जानने की उमंग—सम्यग्ज्ञान चार प्रकार के शास्त्रों को बताता है और उनसे विदित होता है । प्रथमानुयोग जिसमें महापुरुषों के चरित्र का वर्णन है । जिसको धर्म से प्रेम है उसको धर्मात्मा से सर्वाधिक प्रेम होता है और उसकी तुलना करें कुटुम्बी और मित्रजनों से । कुटुम्बीजन मित्रजनों में उतना प्रेम नहीं है धर्म प्रेमी का जितना कि धर्मात्मा से प्रेम होता है। इसका कारण है कि वह कुटुम्बीजनों को और मित्रों को तो एक गुजारा कमेटी जानता है इससे अधिक उसका प्रयोजन नहीं है क्योंकि वे कुछ मददगार हैं क्या? हमारे दुःख में, मरण में, जन्म में विकल्प में सर्व जीव स्वतंत्र हैं, अपने-अपने कर्म लिए हुए हैं । उनके उदयानुसार उनको सुख दुःख होता है । कुछ सम्बंध नहीं है फिर भी घर में रहना पड़ रहा है, क्योंकि इतनी सामर्थ्य नहीं कि सर्व परित्याग करके रह सकें । तो गुजारे के लिए साधन है खाली मगर धर्म और धर्मात्माजन ये अपने परमार्थ के साधक हैं, सच्चे सहायक हैं । तो जीव का एक धर्म ही शरण है । धर्म क्या? अपने आत्मा के सहज चैतन्यस्वरूप में यह मैं हूँ, ऐसी दृष्टि होना अनुभव होना, यह है धर्म । कोई धर्म करके देखे तो सही, तत्काल शान्ति है । यह भी नहीं है कि उसका फल एक दिन बाद मिले । हां पुण्य का फल तो मिलेगा सैकड़ों वर्ष बाद मगर धर्म जिस क्षण करे उसी क्षण उसका फल मिलता है । भ्रम हट गया, कल्पना में विकल्प हट

गए सत्य बात मिल गई । आनन्द हो गया तो यह धर्मसाधन जिसने किया ऐसे महापुरुषों का जो बड़े अनुराग से चरित्र सुनता है उसका पापरस खतम होता है पुण्यरस बढ़ता है । धर्म का रास्ता मिलता है ।

करणानुयोग और चरणानुयोग के अनुसार चर्या में ज्ञानी की उमंग—दूसरा अनुयोग बताया करणानुयोग में लोक की रचना का चित्रण बताया गया है । जिसने सारे लोक की रचना का ज्ञान किया उसको पाये हुए थोड़े से क्षेत्र में ममत्व नहीं रहता । काल का परिचय कितना अनादि अनन्तकाल है कोई समय की आदि है क्या? कोई बता सकता है क्या कि इस दिन से समय शुरू हुआ? अनादि अनन्त और उस काल में होने वाली बात । इसका जिन्हें परिचय है उनको इस १०-२०-५० वर्ष के समागम में मोह नहीं रहता । जिसने गतियों के परिभ्रमण का परिचय पाया है, कैसे-कैसे जीव किन-किन गतियों में घूमते रहते हैं । वह अपने भाव निर्मल रखेगा और खोटे भावों में उसका चित्त नहीं रमता । तीसरा अनुयोग है चरणानुयोग । इसमें गृहस्थ और मुनियों के चारित्र का वर्णन है । कैसे इनका निर्दोष आचरण बने, कैसे उत्पन्न हों और वे दिन प्रतिदिन कैसे बढ़ते चले जाये, कैसी भावना रखें, कैसी दृष्टि रखें । कैसे मन वचन काय की प्रवृत्ति करें जिससे अङ्गीकार किया हुआ चारित्र शुद्ध हो । बढ़ता चला जाय, जिसका वर्णन चरणानुयोग में मिलेगा । और जो चारित्र धारण किया है उसकी रक्षा कैसे हो, कैसे निभाये, यह सब वर्णन चरणानुयोग में है । मूल बात एक है जिसको अपने आपके सत्त्व का सहज स्वरूप का अनुभव बना—मैं यह हूँ, ज्ञानमात्र, ज्ञानघन, आनन्दमय, जिसको यह परिचय में आया कि ज्ञान से ज्ञान में ज्ञान ही हो इस पुरुषार्थ के करने से अर्थात् जैसे ज्ञान में दुनिया भर की चीजें आ रही हैं ये न आये, यह ही ज्ञानस्वरूप आये तो ज्ञान-ज्ञान को जान रहा है । हमें और कुछ नहीं जानना, इस ही ज्ञान को जानना है । सो ज्ञान में जब ज्ञान का स्वरूप आता है और उस वक्त जो सहज आनन्द प्राप्त होता है यह कला जिसने पायी उसके लिए सब सुगम है । कैसे बोलना, कैसे उठना, कैसा व्यवहार करना उसके लिए सब सुगम और सही बनता है । तो चारित्र की उत्पत्ति, चारित्र की वृद्धि, चारित्र की रक्षा के साधनों का उपायों का चरणानुयोग में वर्णन है । यह रत्नकरण्ड मुख्यतया श्रावकों के लिए रचा है समन्तभद्राचार्य ने करुणा करके । फिर भी जब चारित्र का कोई वर्णन करे तो सबसे पहले मुनि का चारित्र एक दो मिनट में कह देना ही चाहिए । अधिक अगर न कह सके, प्रसंग अगर श्रावकों का है तो थोड़ा कह दें ताकि यह दृष्टि रहे कि श्रावक का जो चारित्र है वह पूर्ण नहीं है । संतोष के लायक नहीं है, किन्तु सर्व परित्याग करके केवल आत्मा में ही रमण हो वह चारित्र है वास्तव में । तो इस ग्रन्थ में मुनि के चारित्र के सम्बंध में संकेत दे देकर श्रावकों के चारित्र का वर्णन किया जायगा । अब द्रव्यानुयोग का स्वरूप कहते हैं ।

श्लोक 46

जीवाजीवसुतत्त्वे, पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च ।
द्रव्यानुयोगदीपः, श्रुतविद्यालोकमातनुते ।।४६।।

द्रव्यानुयोग में द्रव्यों के स्वतंत्र अस्तित्त्व का मुख्यपरिचयन—द्रव्यानुयोग नाम का दीपक जीव अजीव तत्त्व का सही रूप दिखाता है, बंध मोक्ष इसका सही वर्णन करता है और भाव श्रुतज्ञानरूप प्रकाश को प्रकट करता है । द्रव्यानुयोग में वस्तु का सही स्वरूप बताया गया है । जब आप एकएक वस्तु को जान पायेंगे कि एक वस्तु

इतनी होती है तब आपका सबका सही स्वरूप समझ पायेंगे । क्योंकि काम समूह करता है या एक करता है? एकएक करता है तो उसका भी नाम धर दिया कि समूह काम करता है तो फिर अर्थक्रिया कहां से निकली? समुदाय में से निकली । एकएक में से क्रिया नहीं निकली । तो सारे जगत का अगर स्वरूप जानना है तो केवल एक पदार्थ का ही जानना होगा । एक पदार्थ कितना होता है? उतना जिसका कि दूसरा टुकड़ा न हो सके । एक का दूसरा टुकड़ा नहीं हो सकता । आधा, पौना, पाव कोई वस्तु नहीं है । फिर आप कहेंगे कि कहते तो सब हैं यह आधा है, यह पौना है, यह पाव है । तो भाई उन कहने वालों के दिमाग में समूह है और उस समूह में से आधा कहते है । एक का आधा नहीं कह सकते । जैसे १०० पैसे का रुपया है तो कहते हैं कि आधा रुपया याने वे कहते है कि १०० पैसे के आधे । तो वहाँ एक का आधा नहीं किया, जो १०० पैसे का समूह है उसका आधा किया । एक का आधा न किया जा सकता है न किया जा सकेगा । चित्त में जो समूह बसाया है उसका आधा बताया करते है । एक परमाणु है उसका आधा परमाणु भी हो सकता है क्या? उसका आधा जीव हो सकता है क्या? जो एक है उसका आधा नहीं हुआ करता । और एक की पहिचान यह है कि जो परिणमन हो वह जितने पूरे में होना ही पड़े उसे एक कहते है । क्रोध हो तो पूरे आत्मा में, दुःख हो तो पूरे आत्मा में । कहीं यह नहीं है कि आधे आत्मा में सुख हो रहा है और आधे में दुःख हो रहा है । अबल तो आधा है नहीं आत्मा का, मगर प्रदेश विस्तार से आधा कह रहे है । ऐसे एकएक द्रव्य एकएक जीव स्वतंत्र सत् है ।

विकारी जीव के साथ कर्मबन्धन की सिद्धि व कर्म की पौद्गलिकता—देखिये जितने नये-नये काम होते हैं । जितने विषम काम होते है—विषम का अर्थ है कभी कुछ कभी कुछ । ये विषम काम उस एक द्रव्य में क्या अपने आप होते है? हो सकता है क्या? किसी भी एक पदार्थ में अपने आप अपने ही कारण से भिन्न-भिन्न कार्य नहीं हो सकते, यह पक्का नियम है । तो मुझ जीव में कभी क्रोध, कभी मान, कभी माया, कभी सुख, कभी दुःख, आप परख लो विषम काम हो रहे हैं कि नहीं । भगवान के विषम काम नहीं है । केवल ज्ञान, केवल ज्ञान केवल ज्ञान वही अनन्तकाल तक चलेगा । यहाँ हम आप में कितना विषम काम होते है रागद्वेष विकार । तो जो विकारभाव होते हैं वे तब हो पाते हैं जब उस पदार्थ के साथ कोई दूसरा पदार्थ भी लगा हुआ हो । कोई पदार्थ अगर विकार कर रहा है, उल्टा चल रहा है तो नियम से उसके साथ उपाधि लगी है तब यह उल्टा चल रहा । कोई उपाधि न लगी हो और जीव के भाव नाना प्रकार के चलते जायें यह कभी नहीं हो सकता । वैज्ञानिकों से पूछो, युक्ति से पूछो, अनुमान से पूछो, अगर किसी पदार्थ में नाना तरह के विकार जग रहे हैं समझना उसके साथ कोई दूसरी वस्तु उपाधि लगी है अन्यथा विकार नहीं हो सकता । पानी गरम हुआ है तो नियम से उसको कोई दूसरा विरुद्ध संग मिला है तब गरम हुआ । तो अपनी बात सोचिये कि मुझ में विकार होते या नहीं होते । रागद्वेष चल रहे है, विकार, विचार, विकल्प, चिन्ता ये सब चल रहे ना? तो यह निश्चित है कि मेरे साथ कोई दूसरी उपाधि लगी है । उस उपाधि का नाम जैन शासन में कर्म रखा गया है । अब नाम कुछ भी रख लो भाग्य, तकदीर आदि । कर्म के बारे में अनेक लोग बात तो करते हैं पर वह कोई वस्तु है क्या? ऐसा नहीं दिखा पाते, केवल एक अंदाजा सा, कल्पना सी करते कि कोई एक रेखा होती है । कर्म क्या

चीज है? तो मुख से प्राय: सब लोग बोल जाते कर्म-कर्म, पर वह कर्म क्या वस्तु है, यह बात जैन शासन में कही गई है । अत्यन्त सूक्ष्म मैटर, धूल पुद्गल जीव के साथ लगे हैं और वे लग कैसे जाते है? तो जो वे बारीक पुद्गल हैं धूल कर्मरज, इन दिखने वाले पुद्गलों की तरह पुद्गल हैं, जिसे हम कर्म कहते हैं, वे है सूक्ष्म और उनका कर्मत्वपरिणति से पहले का सही नाम है कार्माणवर्गणा । वर्गणा कहते हैं परमाणुवों के संग को । तो कार्माण जाति की जो वर्गणायें लगी हैं जीव के साथ वे सब जगह ठसाठस भरी हैं । तो जीव के जब राग हो, विकार हो तो वे कार्माणवर्गणायें कर्मरूप बन जाती है और जीव के साथ बंध जाती हैं । कर्म वास्तविक वस्तु है, पौद्गलिक है, सूक्ष्म है । अगर कर्म साथ न होता तो जीव में नाना विकार कैसे जगते?

जीव के विकार का निमित्त अन्वयव्यतिरेकी कर्मविपाक—आप कहेंगे कि विकार यों जगते हैं कि दुनिया में ये पदार्थ बहुत दिखते हैं तो जिस पदार्थ का ख्याल होता है, जैसा निमित्त योग होता है, जैसा आश्रय मिलता है वैसे भाव बन जाते है । इसलिए तो प्रश्न है कि आपका उपयोग क्यों वहाँ गया? क्यों आपका वह आश्रय बना? तो आपका उपयोग बाहरी पदार्थो में जाता है यह तो फल है कार्य है मगर एक प्रेरणा मिली, एक क्षोभ हुआ, गड़बड़ाना हुआ उसका मूल निमित्त है कर्म का उदय । ये आसानी से ज्ञान में नहीं आ पाते, किन्तु उसकी घटना इस तरह है कि जैसा सिनेमा में पर्दे के सामने फिल्म चलाने वाला बैठता है फिल्म चलती है । जैसा फिल्म चलाता है वैसा ही चित्रण पर्दे पर आ जाता है, ऐसे ही जिस-जिस ढंका कर्म फिल्म चलता है । कर्म का उदय होता है वह चित्रण इस उपयोग में ज्ञान में आ जाता है और उस चित्रण के आते ही आत्मा धधकता है । बहकता है, अपने को भूल जाता है और उस चित्रण को ही आत्मा मानने लगता है इसी को कहते हैं मिथ्यात्व और भ्रम । जहाँ अन्दर में उस कर्म के चित्रण को माना कि यह मैं हूँ तो उसकी सारी प्रक्रिया फिर बदल जाती है । विषयों में आसक्ति, इष्ट अनिष्ट बुद्धि ये सब बातें आ जाती है । तो एक अनुमान प्रमाण से निश्चित कर लीजिए कि मुझ में जब क्रोध, मान, माया, लोभादिक भिन्न-भिन्न तरह के विकार होते हैं तो विकार में तो किसी को शक नहीं । सब जानते है कि मुझ में कषायों के विकार चल रहे है । तो जब ये विकार मुझ में चल रहे हैं तो यह निर्णय करें कि इस जीव के साथ कोई दूसरी उपाधि लगी है तब यह विकार जग रहा । जैसे अग्नि का संयोग पाकर पानी गरम हुआ, रोटी सिकी, तो कोई उपाधि साथ है । ऐसे ही मेरे में जब विकार चल रहे हैं तो कोई उपाधि साथ है और उसी उपाधि का नाम है कर्म । यह नहीं कि हमारा ज्ञान पुत्र मित्र आदिक में गया इसलिए राग हुआ । पुत्र मित्र आदिक में राग क्यों गया इसका भी तो कारण बतलावो । बस इसका कारण है कि चूंकि जीव है अमूर्त, तो उसके साथ कोई सूक्ष्म उपाधि लगी है जिसका उदय होने पर यह नाटक हो रहा है ।

कर्म में प्रकृति स्थिति प्रदेश व अनुभाग के विभाग का एक दृष्टान्त—ये कर्म क्या हैं, कितने हैं, कितनी स्थिति है, उनमें क्या शक्ति है? उनका बहुत विस्तार के साथ वर्णन जैन शासन में पाया जाता है । जैसे भोजन किया, भोजन पेट में गया । अब आप क्या करेंगे? जब तक थाली में था तो आपने उसे तोड़ा, कौर बनाया, मुख में डाला, चबाया, गुटक गए । अब आपका क्या वश उस भोजन में जो पेट में चला गया? उसे निकाल सकते क्या या उसे पेट के अन्दर अगल बगल कर सेंकते क्या? अब आपका काम खतम । अब अपने आप ही

जठराग्नि का निमित्त पाकर उस किए हुए भोजन में (१) प्रकृति (२) स्थिति (३) पिण्ड और (४) शक्ति ये चार चीजें आ जाती है । प्रकृति कैसे आती कि अब भोजन का यह हिस्सा पसीना बनेगा, यह खून बनेगा, यह वीर्य बनेगा, यह हड्डी बन जायगा, यह मल बन जायगा, यह मूत्र बन जायगा, इस प्रकृति को भीतर में कौन करेगा? यह सब आटोमैटिक ढंग से होगा । इसी को कहते निमित्त नैमित्तिक । अब जो इस ढंग की जठराग्नि है, पाचन शक्ति है । जिस ढंग का देह है उसका फर्क होता है तो उस भोजन में प्रकृति पड़ी है कि अमुक हिस्सा रस बनेगा । अमुक हिस्सा पसीना बनेगा, अमुक खून बनेगा... यह उसमें प्रकृति पड़ गई । स्थिति जो खून रूप बन जायगी वह १०-२० वर्ष रहेगी । जो हड्डी रूप बनेगी वह ४०-५० वर्ष रहेगी । जो पसीना रूप बनेगी वह दो चार घंटे रहेगी । जो मूत्र बनेगी वह ४-६ घंटे रहेगी । जो मल बनेगा वह १०-१२ घंटे रहेगा... यों उस भोजन के पिण्ड में जुदे-जुदे ढंग की जो स्थिति बनी उसमें आपने क्या किया? अब आपका क्या वश? बन रहा अपने आप मगर उसमें जुदे-जुदे ढंग के विभाग पढ़ गए । और देखो यह ही बात कर्म में पायी जाती । जो यहाँ हो रहा, जितना बड़ा पिण्ड होगा उसमें शक्ति न होगी, जितना छोटा पिण्ड होगा उसमें शक्ति अधिक होगी, यह भोजन की बात कह रहे है । जैसे भोजन का हिस्सा वीर्य बना बहुत छोटा पिण्ड, मगर शक्ति सब धातुवों से अधिक है । खून का हिस्सा अधिक बना मगर मल से बहुत कम है । तो खून में वीर्य से कर्म शक्ति है । मल से अधिक शक्ति है और जो मल करते है उसमें पिण्ड तो होता बड़ा मगर ताकत कुछ नहीं । यह व्यवस्था किसने बनाया? सब आटोमैटिक ढंग से यह व्यवस्था चल रही ।

बंधते समय कर्माणवर्गणावों में प्रकृति स्थिति प्रदेश अनुभाग का विभाजन—उक्त दृष्टान्त की विधि की तरह यह जीव कोई विकार परिणाम करता है तो इसने बस परिणामभर किया, इसके आगे कुछ वश नहीं हैं । जैसे भोजन पेट में गया अब आपका कुछ वश नहीं, ऐसे ही जीव ने कषाय किया, बस अब आगे कुछ बात न करेगा यह । अपने आप ही इसके साथ लगी हुई कार्माण वर्गणायें कर्मरूप बन जायेंगी । और उनमें प्रकृति पड़ जायगी कि इतना हिस्सा इसके ज्ञान को रोकने का निमित्त होगा, इतना हिस्सा इनका सम्यक्त्व रोकने का कारण बनेगा । इतने कर्म इसके क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषायों के निमित्त बनेंगे । उन कर्मों में स्थिति बन गई कि ये कर्मपुञ्ज जीव के साथ हजार सागर रहेंगे, करोड़सागर रहेंगे । सागर होता है अनगिनते वर्षों का । पिण्ड भी बन गया कि इतने सागर प्रमाण रहेगा और शक्ति भी बन गई कि इसमें इतनी डिग्री फल देने की शक्ति रहेगी । यह प्रकृति, स्थिति, पिण्ड और शक्ति ये सब आटोमैटिक ढंग से स्वयं निर्णीत हो जाते हैं । फिर जब इसकी स्थिति पड़ी हुई है तो ये कर्म निकलते हैं परिणाम से तो कर्म के निकलने के समय का दृश्य बड़ा भयानक होता है । जैसे कोई दुष्ट मानो घर में आ गया, आपने उसको ठहरने को जगह दे दी । जब तक वह ठहरा है तब तक तो वह नरमाई से ठहरेगा और नरमाई से तो ठहरा मगर भीतर में वह गुब्बारा भरता रहेगा । और जब वह भीतर से निकलेगा तो ऐसी घटना बनाकर निकलेगा कि आप पछतायेंगे । ऐसे ही दुष्ट कर्म आत्मा के साथ बंध गए तो जब तक आत्मा में रह रहे है तब तक उनसे तकलीफ नहीं है मगर जब वे आत्मा से बाहर निकलते हैं मायने उदय होता, सूर्य का उदय मायने सूर्य का निकलना कर्म का उदय होना मायने कर्म का निकलना । जिस समय ये कर्म निकलते है तो इनमें अनुभाग फूटता है, विकृत रूप बनता है

और उसका अक्स पड़ता है उस समय यह जीव घबरा जाता है । ऐसे इस जीव के साथ कर्म है और उनके उदय के अनुसार संसार में समागम मिलते ।

भावों को सतत विशुद्ध रखने की आवश्यकता का कारण—अनेत्योग मिलने का मूल निमित्त कारण है अपने कमाये हुए पुण्य पाप कर्म का उदय । इस कारण मनुष्यों को सदा सावधान रहना चाहिए । अपने भाव कभी खोटे न हों । किसी दूसरे के दान, लाभ भोग उपभोग वीर्य में विघ्न न डालें, दूसरे की ज्ञान साधना में उमंग बनाये, सर्व जीवों के प्रति सुख की कामना करें, जितना बन सके दूसरों के सुख शान्ति में काम आये । किसी के दुःखी होने की हमारी भावना न हो, हमारे भाव निर्मल रहें तो अपनी रक्षा है । और हमारे भाव खोटे होंगे तो हमारी बरबादी है । कोई यह न सोचे कि मैं इस जगह एकान्त में हूँ तो जो चाहे मनमाने पाप करूं कौन देखता है । जब कोई देख ही नही रहा तो निन्दा कहां से होगी ।... अरे ये कार्माण वर्गणा में तो आपके साथ लगी है, कैसे ही एकान्त में आप गए, जैसा विकार हुआ । जैसा भाव हुआ उस प्रकार के कर्मरूप बन जायगा । कठिन प्रसंग तो यह ही है जीव के साथ । तो इन सब विडम्बनाओं को दूर करने का एकमात्र उपाय यह है कि आप आराम से, समता से, धीरता से अपने आपके स्वरूप में ज्ञान ले जायें और जानें स्वरूप को कि यह मैं अमूर्त रूप, रस, गंध, स्पर्श रहित ज्ञानस्वरूप परमात्म पदार्थ हूँ । मैं स्वयं सहज यह हूँ, इसमें कष्ट का नाम नहीं । हमारे स्वरूप में पर का प्रवेश नहीं, हमारा स्वरूप अधूरा नहीं, यह मैं आत्मतत्त्व हूँ । आप सब लोग मंगलतंत्र में तीन बातें पढ़ते हैं—मैं ज्ञानमात्र हूँ । मेरे स्वरूप में अन्य का प्रवेश नहीं । अत: निर्भार हूँ आदि तो उनमें बड़ा रहस्य भरा है । और अपने अन्त: स्वरूप का दर्शन इसके मनन के द्वारा होता है । अपने सहज स्वरूप को मान जायें कि मै यह हूँ फिर कष्ट का कोई काम नहीं रहता ।

।। इति रत्नकरण्ड प्रवचन प्रथम भाग समाप्त ।।